शेखर : एक जीवनी

क्रम-सूची

शेखर : संघर्ष

प्रथम खण्ड :

पुरुष और परिस्थिति

गाड़ी भड़भड़ाती हुई दौड़ रही थी। नीलगिरि प्रदेश में शेखर अपने माता-पिता और भाइयों को पाँच सौ मील पीछे छोड़ आया था, और अब मद्रास भी पीछे छूटा जा रहा था। नीलगिरि, मद्रास, महाबलिपुर, मालाबार, त्रावनकोर—सब पीछे छूट जाएँगे! वह आगे जा रहा है, गाड़ी उसे खींचती हुई बेतहाशा उत्तर की ओर दौड़ी चली जा रही है, एक हज़ार मील जाकर ही दम लेगी—फिर वहाँ से दूसरी गाड़ी चलेगी जो एक हज़ार मील और परे घसीट ले जायगी···सब इन अपने परिचय के स्थानों से दो हज़ार मील दूर!

लेकिन, ये सब उसके परिचित स्थान क्या हैं? उसे उनसे क्या है? नीलगिरि उसके लिए क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ उसके भाई-बन्द रहते हैं, महाबलिपुर क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ वह डूबा था, त्रावनकोर भी क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ शारदा थी और वह उससे लड़ आया? जब वह नहीं रहेगा, तब ये सब स्थान भी नहीं रहेंगे···ये सब इसी-लिए हैं कि इनमें वह है, और अब वह इन सबसे भागा जा रहा है, अपने-आपकी उन पर पड़ी हुई छाप से भागा जा रहा है, अपने-आपसे भागा जा रहा है···

क्या यह सब सत्य है? क्या वे स्थान सत्य हैं? क्या वे सब लड़ाई-झगड़े, प्यार, तिर-स्कार, सत्य हैं? क्या वह खुद सत्य है? गाड़ी उसे खींचती हुई दौड़ी चली जा रही है, उसे लगता है कि कुछ भी सत्य नहीं है, शायद गाड़ी का दौड़ना भी सत्य नहीं है···

लेकिन वह सत्य के सिवा कुछ हो नहीं सकता। शेखर अपनी पराजय से भाग रहा है, अपने दर्द से भाग रहा है। वह बेवकूफ़ है। वह जीवन से भागने की मूर्खता-भरी कोशिश कर रहा है। जीवन से भागकर वह जायगा कहाँ? जो युद्धमुख से भागता है, अपनी पराजय से भागता है, उसके लिए कदम-कदम पर और युद्ध है, और पराजय है, जब तक कि वह जान न ले कि अब और भागना नहीं है, टिककर लड़ने न लगे···जीवन से भागना? आगे और जीवन है; जीवन तो रुक नहीं सकता, उसका तो विस्तार समाप्त नहीं हो सकता···

होने दो। मद्रास एक हज़ार मील पीछे रह जायगा, पंजाब एक हज़ार मील आगे है। और वहाँ नया जीवन है, और विद्यावती है, और शशि है, और···गाड़ी का शोर समुद्र के गर्जन की तरह है। समुद्र···लेकिन यह गर्जन उसे समुद्र से परे खींचे लिए जा रहा है, परे···

* * * * * * * * *

क़द के लम्बे-तगड़े, रंग के गोरे, देखने में सुन्दर और सुनने से समर्थ जँचनेवाले पंजाबी लोग—शेखर ने उनकी आँखों से आँखें मिलाकर देखा, वे हटती नहीं हैं, न डर से और न अर्थहीन विनय से।

और उसने सोचा, ये आदमी मर्द हैं। इनके साथ काम हो सकेगा, ये लड़ाई में कन्धे से कन्धा भिड़ा सकेंगे।

वह लड़ाई से भागकर आया था। थका हुआ आया था, इसीलिए वह इस समय अपने में रण-तत्परता नहीं पाता था, तनाव नहीं पाता था। उसने मानों अपना कवच ढीला कर दिया था और सुस्ता रहा था। सोया वह नहीं था, आँखें खुली थीं; लेकिन खड्गहस्त भी वह नहीं था, वह सिर्फ देख रहा था, उसकी आँखों में सिर्फ पहचानने की चेष्टा का खुला भाव था; न दोस्ती का खिंचाव, न दुश्मनी का संकोच।

और उसने इस नये प्रदेश के लोगों को दो वर्ष बाद फिर देखकर सोचा, ये आदमी मर्द हैं, इनके साथ काम हो सकेगा।

दो वर्ष पहले जब वह मैट्रिक की परीक्षा देने आया था, तब उसने इन लोगों को ठीक से देखा भी नहीं था। अपने मस्तिष्क को शारदा से भरे हुए वह आया था, और शशि की ही एक नयी छाप वह उस पर ले गया था, और विशेष कुछ उसने देखा नहीं था; लेकिन अब एक लड़ाई से आकर वह उन्हें योद्धा के ही माप से मापने लगा—यद्यपि थके हुए और सुस्ता रहे योद्धा के।

शेखर में पक्षपात नहीं था—कुछ था तो पंजाब और उसके निवासियों के हक में ही—और वह आते ही कोशिश करने लगा कि उनके साथ एकात्म, एकप्राण हो सके। होस्टल के लड़कों से मिलकर उनके विचार जानने की, उनके आदर्श और उनकी कामनाएँ समझने की, उसने चेष्टा की। जब उसने देखा कि इसमें वह स्वयं विघ्नरूप है, क्योंकि वह उनकी भाषा नहीं बोलता है, उनके कपड़े नहीं पहनता है, स्पष्ट दिखा देता है कि वह उनमें से नहीं है; तब उसने इनका भी इलाज करना आरम्भ किया। उसने दो-तीन सूट सिलवाये, कालर, टाइयाँ, मोजे, शू, कंघी-ब्रुश, खुशबूदार तेल, पैंट दाबने का प्रेस और कोट टाँगने का फ्रेम, एक खाकी सोला हैट भी—ये सब चीज़ें वह निरीह भाव से ले आया। चीज़ें उसने सब साधारण लीं, बहुत अधिक पैसा खर्च नहीं किया, पर उसकी पसन्द में कुछ ऐसी विशेष सादगी थी कि चीज़ें दाम की सस्ती होकर भी सूरत की सस्ती नहीं जान पड़ती थीं। भड़कीली चीज़ इतना अधिक सामने आती है कि उसमें दृश्य मँहगेपन का होना लाज़िमी हो जाता है, जो चीज़ सामने नहीं आती, वह गुजारे लायक सस्ती होकर भी चल जाती है। सूट पहनकर जब वह अपने सहपाठियों में आ मिला, तब उसने देखा कि जहाँ तक 'ट्रेडमार्क' का सवाल है, वह उनकी पाँत में खड़ा होने का अधिकारी हो गया है। भाषा का प्रश्न अभी था, वह उनकी भाषा ठीक तरह बोल नहीं सकता था, मुहावरा तो बिल्कुल ही नहीं जानता था। फिर भी, रंग-ढंग में उन सा होकर, और उनकी बात समझ लेने के काबिल होकर वह ऐसा ग़ैर नहीं दीखता था। और उसे धीरे-धीरे उनके समाज में प्रवेश मिलने लगा।

इस प्रकार वेश के सहारे जिस आसानी से उसे चारों ओर रास्ता मिलने लगा, उस पर उसे सन्देह होना चाहिए था, लेकिन वह सन्देह के लिए उपयुक्त मनःस्थिति में ही नहीं था। स्वीकृति पाना, स्वागत पाना, मान्य होना, कितना अच्छा था·· शेखर चेहरे-मोहरे से विशेष

असुन्दर नहीं था ; और वह नया युरोपियन वेश भी उस पर बोझ की तरह नहीं बैठता था। चुप रहनेवाले, अपने ही भीतर रहनेवाले इस आधे जंगली, आधे सन्यासी आदमी की ज़बान विदेशी सभ्यता की हर समय चलती ही रहनेवाली मिथ्या विनयभरी बातचीत में भले ही अटकती हो, लेकिन विदेशी वेश को निभा ले जाने में उसे कोई कठिनाई या हिचक नहीं होती थी। यह वेश उसके लिए बहुत अपरिचित नहीं था ; अंग्रेज़ी भाषा भी उसकी मातृ-भाषा नहीं तो धातृभाषा तो थी ही—बोलना उसे एक अमेरिकन पादरी ने अपनी भाषा में सिखाया था···शीघ्र ही शेखर ने पाया कि उसे कालेज के अधिकांश लड़के जानते हैं, और वैसे नहीं जानते जैसे मद्रास में जानते थे···उसे अपने आपसे सन्तोष-सा होने लगा, और इस सन्तोष से उसकी पढ़ाई भी अच्छी होने लगी···पहली तिमाही परीक्षा में उसने देखा, वह चार विषयों में से तीन में प्रथम है। इससे उसकी प्रसिद्धि और फैली, उससे कुछ स्वागत और हुआ, कुछ परिचय और बढ़ा ··और धीरे-धीरे यह चारों ओर से आता हुआ सम्मान एक नशे की तरह उसके शरीर में असर करने लगा। उसने नहीं जाना कि कब और कैसे उसके खर्च का बिल दुगने से अधिक हो गया है, कैसे उसके एक ट्रंक की बजाय तीन सूट-केस कपड़ों से भर गए हैं, जब कि उसे ठीक समय पर ठीक रंग की टाई तक नहीं मिलती है—टाई जो कुल मिलाकर दो घन इञ्च स्थान नहीं लेती होगी ! जाना उसने तो यही कि लोग कपड़े खरीदने में उससे परामर्श लेने आते हैं, कालेज में जिस दिन वह कोई नयी टाई पहनकर जाता है, उसके अगले दिन कई जगह वह देखने को मिलती है जब कि शेखर के गले से वह उतर चुकी होती है···देखा उसने तो यही कि अब उसे बोर्डिंगों के बाहर रहने-वाले विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों के भी निमन्त्रण आते हैं···

और उसका कवच अभी तक ढीला ही था। कितना सुख था उसे ढीला छोड़कर पड़ रहने में, अपने को वायु के प्रत्येक झोंके को समर्पित कर देने में ! यह वायु उसका श्रम हर लेगी, पसीना सुखा देगी, उसकी धमनियों में थकान से दूषित हुए रक्त को ठण्डा करके ताज़ा कर देगी, उसका दर्द मिटा देगी ··अच्छा है अपने को वायु को समर्पित कर देना, झोंके में बहना···

लेकिन झोंके में बहकर इधर-उधर झूमने से यह लोहे का कवच चुभ जाता है···जब तक कवच है, तब तक उसे कसा ही रहना होगा—या उसे उतारकर फेंक देना होगा ताकि वह उलटा आघात न करे ? क्या शेखर उसे उतारकर फेंक दे ? लेकिन वह तो अपने सब वस्त्र, वह सब झूठमूठ का आडम्बर जो राह में बोझ होता, पहले ही उतारकर फेंक आया था—अब तो कवच के नीचे उसकी नंगी त्वचा है, नंगी और नरम और जीवित···और उसके नीचे हाड़ और मांस और रक्त में छिपकर रहनेवाला सूक्ष्म, निराश्रय, निस्सहाय, अशान्त जीव—स्वयं शेखर ··तब क्या वह कवच को फिर कस ले ?

लेकिन लड़ाई से हटकर नदी-तट पर पड़ी हुई नाव में कवच ढीला करके पड़ रहना कितना सुखद है—वायु के प्रत्येक झोंके पर उठना और गिरना, मानों वह एक झूला हो···

जिस सारे समाज में शेखर ने प्रवेश पा लिया था, अब वह जानने लगा कि वह समाज कई अलग-अलग टुकड़ियों में विभक्त है। होस्टलों के छात्रों में तो वह इस तरह की टुकड़ियाँ नहीं देख पाया, वहाँ तो या धन के हिसाब से वर्गीकरण था, या बुद्धि के हिसाब से, लेकिन बाहर के जिन लोगों से परिचय उसने पाया था, वहाँ की बात और थी। कभी उसे लगता कि ये टुकड़ियाँ सिद्धान्तों के आसरे बनी हैं, क्योंकि किसी एक में वह प्लेटो को आदर्श-रूप में पुजते हुए पाता तो दूसरे में शोपेनहार को, किसी में स्टोइक (Stoic) मत पर बहस होती हुई पाता, तो किसी में हीडोनिज्म की चर्चा; कभी उसे लगता कि यह दलबन्दी अपने-अपने व्यसन-विशेष का समर्थन करने के लिए है…

शेखर ने अपने को धीरे-धीरे दो विभिन्न टुकड़ियों में घनिष्ट होते हुए पाया। स्वभाव से ये दोनों टुकड़ियाँ एक दूसरे से काफी भिन्न थीं, लेकिन शेखर का अपना अन्तर्विरोध ऐसा था कि वह दोनों ही में आगे-आगे बढ़ता जा रहा था।

पहली टुकड़ी के अधिकांश सदस्य शेखर के साथ ही छात्रावास में रहते थे। इस छात्रावास में, जिसमें शेखर अपने पहले स्थान से इसलिए आ गया था कि यहाँ उसे छात्र-समुदाय के उन्नत अंग से मिलने की आशा थी, प्रायः अच्छी हैसियतवालों के बेटे रहते थे, और कालेज में नाम भी अधिक वहीं का सुनने में आता था, क्योंकि खेलों में—हाकी, फुटबाल, टेनिस आदि में—और सभा-सोसाइटियों के बहस-मुबाहसे में यहीं के लड़के प्रमुख भाग लेते थे या यों कह लें कि ऐसे छात्रों को इस बोर्डिंग में विशेष स्थान मिलता था…

साथवाले कमरे में नित्य शाम को हँसी सुनकर एक दिन शेखर भीतर गया था, तभी से इस टुकड़ी से उसका परिचय हो गया था। कमरा इस दल के प्रमुख सदस्य चतुरसेन का था, जिसे किसी ने देशी भाषा में बात करते नहीं सुना, और जो केवल इसी बूते पर बोर्डिंग के तीन मानिटरों में से एक था। वहाँ पर नित्य ही उसके साथियों का आना होता था—जिन्हें पहले दिन परिचय के समय तो शेखर ने नरेन्द्र, भूपेन्द्र, और मोती के नाम से जाना, लेकिन दूसरे दिन से क्रमशः 'कालू' 'भोंपू' 'पपी' नाम से पहचानने लगा। इस दल में किसी को पूरा नाम लेकर बुलाना पाप समझा जाता था—तकल्लुफ़ था। 'हम लोग तकल्लुफ़ नहीं चाहते—आदमी-आदमी के सीधे सम्बन्ध में वह विघ्न है। हम इनसान को इनसान कहकर जानना चाहते हैं, समाज के लिपे-पुते 'स्केयर क्रो' (डरौना) के रूप में नहीं।" यह कालू ने एक दिन कहा था। बात शेखर को बुरी तो नहीं लगी थी, लेकिन कालू के मुख से अजीब लगी थी क्योंकि कालू सारे दल में सबसे कम बुद्धि रखता था। 'पपी' की बुद्धि प्रखर थी—कालेज में भी उसका स्थान बहुत अच्छा था, लेकिन वह प्रत्येक बात पर एक विकृत व्यंग-भरी हँसी हँस देता था, यहाँ तक कि अपने पर भी वह उसी के साथ निरन्तर कटाक्ष करता रहता था। अक्सर वह कालेज की लड़कियों की बात करता था, और उसकी बात-बात से उनके—स्त्री-जातिमात्र के—प्रति उसकी घोर अश्रद्धा और अवज्ञा टपकी पड़ती थी…शेखर को लगता, यह आदमी तबीयत

का यती है, लेकिन इसका संयम उलटे मार्ग में पड़कर ज़हरीला हो गया है, तभी यह उपेक्षणीय की उपेक्षा न कर निरन्तर विष उगलता रहता है। यह बात कभी उसे आकर्षित करती, कभी एकदम ग्लानि से भरकर परे धकेल देती, लेकिन अपनी तीव्र बुद्धि के कारण वह शेखर के पास-पास आता गया, और एक दिन विचित्र ढंग से शेखर ने उससे शिक्षा पाई।

'पपी' ने शेखर का परिचय मिस कौल नाम की तीन बहिनों से कराया जो अपनी टोली में रानी, लिली और रूबी के नाम से प्रसिद्ध थीं। बड़ी एम० ए० में पढ़ती थी, दूसरी दोनों बी० ए० में। उनकी फैशनेबल भ्रू-विहीन और रँगी पलकोंवाली आँखों और लिपस्टिक-मढ़े ओठों के पीछे भी वह प्राकृतिक सौन्दर्य दीख ही जाता था जिसे संस्कृत बनाने की कोई कोशिश उन्होंने छोड़ी नहीं थी। दो-एक बार मिलने के बाद जब शेखर उनकी युद्ध-पीड़ित प्रबुद्धवर्ग की-सी उपराम (disillusioned) बातचीत सुनकर यह सोचता हुआ बाहर निकला था कि इतने उपराम के साथ रंग और लिपस्टिक का निबाह कैसे होता है, तब वह अनजाने में यह प्रश्न ज़ोर से कर गया था। 'पपी' ने पूछा, "कौन सबसे ज्यादा उपराम लगी तुम्हें?"

शेखर ने कहा, "कह नहीं सकता। लेकिन रूबी शायद—"

"अरे भाई, नाम मुझे याद नहीं रहते, मैं तो उनकी अलग-अलग सेंट की बू से उन्हें पहचानता हूँ।"

शेखर थोड़ा-सा मुस्कराया। उसका परिष्कार इतना हो गया था कि इस ढंग की बातचीत में रस ले सके, यद्यपि स्वयं कह नहीं सकता था। बोला, "मैं तो अभी इतना पारखी हुआ नहीं—"

'पपी' ने कहा, "अच्छा ही है। अरे एक दिन तो ग़ज़ब हो गया था। मैंने ऐसी बात काल्लू से कही थी, उस बदमाश ने एक दिन चुपचाप उनकी सेंट परस्पर बदल दी। उसके बाद हम सब मिलकर सिनेमा गये, वहाँ से लौटते समय मैं तो पहचान नहीं सका कि कौन कौन है।"

काल्लू को आते देखकर 'पपी' चुप हो गया। लेकिन काल्लू ने बात सुन ली थी। बोला, "हाँ, हाँ, पूरी बात कहो न! रुक क्यों गए? बात यह हुई कि हम लोग एक झुरमुट में से होकर आ रहे थे। अँधेरे का फ़ायदा उठाकर 'पपी' ने रूबी का हाथ पकड़ा, तो उसने झटककर कहा, "How dare you, Puppy!" (खबरदार, पपी!) बिचारे लगे माफ़ियाँ माँगने, तब लिली खिलखिलाकर हँसने लगी—"

"झूठे कहीं के! अपनी तो कहो—दो ही दिन में भूल गए? लिली तो तुम्हारी हिमाकत पर—"

"कब की बात है?" शेखर ने मुस्कराते हुए पूछा।

"अरे परसों की—"

लेकिन 'पपी' को बीच ही में टोककर काल्लू ने कहा, "भई, सच तो यह है कि आज-

कल किसी को भी पहचानना मुश्किल है। चैटर (चतुरसेन अपने नाम का उच्चारण ऐसे ही करता था) एक दिन बहुत चालाक बन रहा था, कहता था कि पहचान तो लिपस्टिक के स्वाद से ही होती है, पर—"

शेखर को कुछ ग्लानि हुई। स्त्रियों और उनकी चालढाल के बारे में मज़ाक वह सुन लेता था, लेकिन उन चेष्टाओं का मज़ाक उसे अभी तक बुरा लगता था जिन्हें वह प्रेम का अंग समझता था। "प्रेम-वेम कुछ नहीं है। शरीर है और बुद्धि है—एक शरीर को पकड़ता है और एक पैसे को, बस यही तो प्रेम है।" यह दृष्टिकोण उसका नहीं बन पाया था। वह अलग हो गया और सोचने लगा, परसों रात को तो ये सब लोग बोर्डिंग में थे, स्वयं चतुर-सेन ने साढ़े नौ बजे हाज़िरी ली थी, तब सिनेमा कैसे गए ?

और यह प्रश्न उसके मन से नहीं निकला। वह बिना जाने ही रात की हाज़िरी के बाद इन सब लोगों पर पहरा देने लगा। तीसरी रात उसने देखा कि हाज़िरी के बाद पिछली सीढ़ियों से चारों मित्र उतरे हैं, और उनके पीछे-पीछे बोर्डिंग का एक नौजवान नौकर भी। नौकर उन्हें बाहर निकालकर दरवाज़ा बन्द करने को ही था कि शेखर ने जल्दी से कहा, "काम है चतुरबाबू से", और बाहर निकल गया।

नौकर ने अपने हाथ की बोतल छिपा ली, यह चेष्टा भी शेखर ने देखी।

साढ़े ग्यारह बजे शेखर लौट आया। चारों जन दो मील के करीब जाकर एक घर में घुस गए थे, यह देखकर शेखर लौट आया था। द्वार खुला था, वह चुपचाप पिछली सीढ़ियों से चढ़कर कमरे में आकर सो गया।

अगले दिन शाम को वह पता लेने गया कि मकान किसका है। वह उससे कुछ दूर खड़ा सोच ही रहा था कि किससे पूछे, कि कालेज के गणित के प्रोफेसर आ निकले और शेखर को पहचानकर बोले, "तुम यहाँ कहाँ, शेखर ? भले आदमी यहाँ नहीं ठहरते।"

"क्यों ?" शेखर ने जरा विस्मय से कहा।

"देखते नहीं, वह सामने वेश्याओं का मुहल्ला है ?"

शेखर विस्मित और लज्जित होकर प्रोफेसर के साथ ही चल पड़ा।

* * *

दूसरे दल में शेखर ने कभी स्त्रियों की चर्चा नहीं सुनी। इस दल की सारी चिन्ता मानों सभ्यता के सुधार की ओर लगी हुई थी। स्त्रियों की चर्चा कभी होती थी तो एकवचन में—नारी सभ्यता की धुरी है, नारी सभ्यता की सञ्चालिका है, नारी इस पुरुष-प्रधान सभ्यता का केन्द्र है, नारी यह है और वह है···सम्भवतया इसका कारण यही था कि इस दल के सदस्यों में एक ही स्त्री थी और वही इस दल की नेत्री थी।

मणिका ने आक्सफोर्ड और पेरिस में शिक्षा पाई थी। वहाँ से डिग्री लेकर वह भारत लौट आई थी, किन्तु पर्याप्त धन पास होने के कारण उसने नौकरी करना अनावश्यक समझा

था। केवल समय बिताने के लिये सप्ताह में चार-पाँच घण्टे एक कालेज में अवैतनिक रूप से साहित्य पर लेक्चर देना स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार विद्यार्थियों से अपना सम्पर्क बना रखा था। कालेजों में यह बात प्रसिद्ध थी कि किसी कालेज का कोई भी योग्य लड़का अवश्य मणिका देवी के मण्डल में होगा; और इसीलिये अपने को योग्य समझनेवाले—या न भी समझनेवाले लड़के सदा इस ताक में रहते थे कि किसी प्रकार उस मण्डल की सदस्यता प्राप्त कर सकें···

शेखर को वहाँ उसी की श्रेणी का एक लड़का ले गया था। इस बंगाली लड़के के चपटे मंगोल चेहरे और ऊँची पावर के चमकते हुए चश्मों के पीछे एकटक देखनेवाली और कुछ सूजी हुई-सी आँखों से बेवकूफ़ी टपकी पड़ती थी; किन्तु फिर भी वह था योग्य और अंग्रेज़ी साहित्य के कुछ अंगों पर उसका ज्ञान बहुत अच्छा समझा जाता था। शेखर ने अपनी परीक्षा में रोज़ेटी और उसके 'प्री-रेफेलाइट' दल के कवियों पर जो निबन्ध लिखा था, उसी के कारण वह मणिका देवी के मण्डल में जाने का अधिकारी समझा गया था और वह बंगाली लड़का उसे वहाँ ले जा रहा था।

शेखर चल तो पड़ा, किन्तु वह सोचता जा रहा था कि वह समय ठीक नहीं है। उस समय वह इन सब सभ्य दलों के प्रति क्षोभ और घृणा से भरा हुआ था। दिन में नहाते समय बाथरूम में ही उसकी कालू से लड़ाई हो गई थी—बाथरूम में उसे देर करते देख बाहर खड़े कालू ने गाली दी थी और शेखर ने नगे ही बाहर निकलकर उसे पीटा था—उस समय से शेखर के भीतर कुछ उबल रहा था। ऐसी हालत में वह जाना नहीं चाहता था, किन्तु यह जानकर कि उसके लिये समय निश्चित किया गया है, वह चल पड़ा।

मणिका देवी का ड्राइंग रूम सुन्दर था, किन्तु उसे उसका सौन्दर्य देखने का अवकाश न मिला।

कमरे में बैठे तीन और व्यक्तियों को अवश्य वह एक नज़र देख गया। सोफे पर लेटी हुई मणिका ने शेखर और उसके साथी को प्रवेश करते देखकर साथी पर आँख टिकाकर पूछा "हलो, रसगुल्ला, यही तुम्हारे मित्र हैं?"

शेखर ने चौंककर अपने साथी की ओर देखा। हाँ, ठीक तो है, रसगुल्ला इस सोफे पर लेटी हुई दुबली औरत की तीखी ज़बान और उसके द्वारा चुने हुए नाम की उपयुक्तता पर वह एक हलकी-सी मुस्कराहट रोक नहीं सका। रसगुल्ला—एक बार यह नाम सुनकर मानों यह कल्पना करना कठिन हो गया कि इस आदमी का दूसरा भी कुछ नाम हो सकता है!

शेखर ने यह भी देखा कि जब तक रसगुल्ला उसका परिचय कराता है– 'मेरे मित्र चन्द्र-शेखर पण्डित,—मिस मणिका देवी' तब तक मणिका ने सिर से पैर तक उसे देख लिया है और मन ही मन यह तय कर लिया है कि यह व्यक्ति दिलचस्प नहीं है।

मणिका ने बाँह फैलाकर कुर्सी दिखाते हुए कहा, "बैठिए। आप सिगरेट पीते हैं?" दो अँगुलियों से अखरोट की लकड़ी का कामदार डिब्बा उसने शेखर की ओर सरका दिया।

"धन्यवाद—मैं नहीं पीता।"

मणिका के दाईं ओर बैठे एक मोटे से, गुलाबी नाकवाले एंग्लो-इण्डियन व्यक्ति ने कहा, "मिस मानिका, यह क्यों, वह दीजिए न इन्हें; दीक्षित कीजिए।" और एक गिलास शेखर के पास रखकर पुकारा, 'बेरा !'

शेखर ने उसके हाथ के इशारे का अनुकरण करते हुए देखा, मणिका के पास एक साइड टेबल पर एक ट्रे में दो बोतलें और दो-एक छोटे-बड़े गिलास पड़े हैं।

"धन्यवाद, नहीं।"

"अरे आप नहीं पीते ? तब तो यहाँ नहीं चलने का! मैं तो पिये बिना नहीं रुकता। और सभ्यता—"

मणिका ने कुछ रुखाई से कहा, "सभ्यता को तो बक्श दीजिए, भले आदमी।"

रसगुल्ले ने कहा, "मैथ्यूज़ तो हमेशा यही कहता है कि शराब छोड़ने से ग्रीक-सभ्यता बरबाद हुई—जब तक ग्रीक लोग पीते रहे, बने रहे।"

बेरा चाय ले आया था। अब तक चुप बैठे हुए व्यक्तियों में से एक ने पूछा, "चाय तो आप पीते होंगे मिस्टर पण्डित ?"

"नहीं, मैं नहीं पीता।" प्रश्न में एक हल्का-सा व्यंग्य था, जिससे शेखर झल्ला-सा उठा। बोला, "इतना ही नहीं, मुझे इस पर भी आपत्ति है कि आप यह प्रश्न भी करें। चाय, तो 'आप पीते हैं ?' सिगरेट, तो 'आप पीते हैं ?' शराब, तो 'आप पीते हैं ?' मानों सभ्यता की कसौटी ही यह प्रश्न है—"आप पीते हैं ?"

मणिका के चेहरे पर पहली बार कुछ दिलचस्पी दीखी। उसने कहा, "खूब, पण्डित; आज पहली अक्ल की बात सुनने में आई है।"

मैथ्यूज़ ने कुछ द्वेष से कहा, "मिस्टर पण्डित बोले तो। मैं तो समझा कि 'नहीं' और 'धन्यवाद' के सिवाय कुछ बोलते नहीं।"

"महात्मा लोग थोड़ा बोलते हैं, पर बोलते हैं काम का।"

शेखर ने इन बौछारों की ओर उपेक्षा प्रकट न करने के लिये रसगुल्ले की ओर उन्मुख होकर पूछा, "तुम भी पीते हो ?"

मणिका मुस्कराती हुई बोली, "तो आप उनकी सभ्यता परखने चले हैं !'

हँसी का कहकहा लगा। मैथ्यूज़ बोला, "अरे रसगुल्ला ? वह तो स्पंज रसगुल्ला है—स्पंज की तरह शराब सोखता है—"और अपने श्लेष व्यंग्य पर स्वयं ही हँस दिया।

शेखर ने कहा, "पंजाब का विद्यार्थी-जीवन इतना पतित है, मैं नहीं जानता था। मैं समझा था, इन हट्टे-कट्टे शरीर के लोगों में कुछ सार होगा, पर सब राड़े हुए हैं, सड़े हुए।"

पालतू सुनहली मछलियों के रंगीन जल से भरे पात्र में एक केंकड़ा घुस आए, तब मछ-

स्त्रियों की जो हालत होती है वही उस गोष्ठी की हुई। बहुत जल्दी ही सब उठकर चल दिये, और अपने को अकेले मणिका के सामने पाकर शेखर भी बिदा लेने को उठ खड़ा हुआ।

मणिका ने भी उठते हुए कहा, "आपसे मिलकर मुझे खुशी हुई—" और इस साधारण शिष्टाचार का वैसा ही उत्तर शेखर देनेवाला था कि वह आगे कह गई, "मेरे यहाँ आनेवाले लोगों में बुद्धि तो है, पर चरित्र नहीं, इसके लिये मुझे भी दुःख है। हमारे दाँत तो बड़े-बड़े हैं, पर आँतें नहीं हैं—और बहुत बड़ा ले लेते हैं, पर पचा नहीं सकते। आपको खाने में अनिच्छा दीखती है, लेकिन सिस्टम ठीक ठीक है।" क्षण भर रुककर वह फिर बोली, "सच-मुच मुझे खुशी हुई है मिलकर।" इस बार स्वर में शिष्टाचार नहीं, सत्य था।

शेखर ने हल्की-सी कृतज्ञता से कहा, "नमस्कार।"

"नहीं, ऐसे—" कहकर मणिका ने हाथ बढ़ाया। शेखर ने हाथ मिलाया, मणिका बोली, "फिर अवश्य आना, जान दी बेप्टिस्ट।"

शेखर को नाम अच्छा लगा—"जान दी बेप्टिस्ट।" इसमें अवश्य इस आधे पागल, पैग़म्बर की-सी रूखी सद्भावना थी। और मणिका के हाथ का दबाव भी अच्छा था—उसमें वात्सल्य था; वह मानों पुरुष का हाथ था।

*　　　　*　　　　*
**　　　　**　　　　**

मणिका के चरित्र में एक विचित्र कारुणिकता थी, जिसे देखकर झल्लाहट भी होती थी, दया भी आती थी और थोड़ा-सा आदरभाव भी होता था—जिसके कारण शेखर तीन-चार बार और उसके घर गया; प्रतिबार वह कुछ अधिक प्रभावित और बहुत अधिक खिन्न होकर आता था। मणिका में प्रखर प्रतिभा थी, किन्तु उसको संयत रखने की दृढ़ता न थी; पर साथ ही अपने में दृढ़ता न होने का करुण और उत्ताप-भरा ज्ञान भी था जिसके कारण उस पर क्रुद्ध होना सहल नहीं था।

पहली मुलाक़ात के बाद एक दिन तीसरे पहर शेखर ने मणिका से चाय का निमन्त्रण पाया था, जिसमें शिष्टाचार के निमन्त्रण-वाक्य के आगे लिखा था, "उस समय कोई अवाञ्छनीय व्यक्ति नहीं होंगे; आप निश्चिन्त रहें।" और उस दिन शेखर ने जाना था कि मणिका का ज्ञान कितना गहरा और शक्ति कितनी कम है—यद्यपि ज्ञान ही को शक्ति कहा गया है।

दो-तीन बार और भी शेखर निमन्त्रित होकर गया, कभी भी उसने किसी अन्य व्यक्ति को उपस्थित न पाया। उसके बाद उसका परिचय ऐसा हो गया कि वह बिना बुलाए भी बेधड़क जा सके।

एक दिन खाना खाकर शेखर घूमने निकला, तो उसके मन में हुआ कि वह मणिका से मिल आए। वहाँ विलायती रीति-रिवाज का पालन होता है, तब डिनर के बाद बातचीत के लिये जाने में कोई अनौचित्य नहीं है, यह सोचकर वह कोठी पर जा पहुँचा।

बाहर ही उसे मैथ्यूज़ मिला। उसे अच्छा नहीं लगा—मैथ्यूज़ भी इस आकस्मिक मिलन से प्रसन्न नहीं हुआ।

शेखर ने ड्राइङ्ग-रूम का द्वार खटखटाया, फिर खटखटाया; फिर भीतर चला गया। ड्राइङ्ग-रूम खाली था, आगे डाइनिंग-रूम का द्वार भी खुला था; मेज पर जूठे बर्त्तन पड़े थे किन्तु कमरे में कोई नहीं था। शेखर क्षण-भर असमंजस में खड़ा रहा; फिर ड्राइङ्ग-रूम में एक कुर्सी पर बैठा और तत्काल उठ खड़ा हुआ। सामने ड्राइङ्ग-रूम के कोने की तरफ़ धीमे प्रकाश में, नीले सोफे पर एक अस्त-व्यस्त नीली साड़ी पहने मणिका लेटी हुई थी, एक नंगी बाँह लटक-कर फ़र्श पर टिकी थी।

शेखर ने पुकारकर कहा, "क्या हुआ, आप स्वस्थ तो हैं?" फिर पास जाकर दुबारा पूछा, "क्या बात है, मिस मणिका?"

मणिका की पलकें अनिश्चय से काँपीं, फिर खुल गईं। क्षण-भर शेखर के चेहरे पर स्थिर रहकर फिर झिप गईं। एक बार फिर वे खुलीं—उन्हें खोलने का प्रयास मुख पर स्पष्ट झलक गया—और तब मणिका ने कहा, "शेखर, ओह!" एक बार उठने का प्रयास किया, हार गई, और फिर मानों हताश-सी होकर बोली, "शेखर—I am dead drunk! (मैं नशे में धुत् हूँ।) वह मैथ्यूज़ कुछ लाया था—इतनी तेज़ शराब मैंने पहले नहीं पी—मैं नहीं जानती थी—बदमाश!"

"मैथ्यूज़ लाया था? आपने पी क्यों—" शेखर कुछ सोच नहीं सका कि क्या कहे।

"पी! मैंने पी!" मणिका हँसी। "मेरी हँसी बेहूदा है न? मैं जानती हू। I am feeling stupid stupid (मैं होश में नहीं हूँ।)", कुछ रुककर, "वह किताब उठा देना तो, नीली जिल्दवाली—और लैम्प इधर खींच देना—"

शेखर ने वैसा ही कर दिया। मणिका ने किताब लेकर काँपते हाथों से खोली और उँगली से एक जगह बताते हुए कहा, "यह कविता तुमने पढ़ी है?"

शेखर ने विस्मय और सम्भ्रम में वह पुस्तक उसके हाथ से ले ली, और अनमना-सा पढ़ने लगा।

"ज़ोर से पढ़ो, मैं सुनूँगी।"

शेखर ने पढ़ा :—

My candle burns at both ends
It will not last the night
But ah my foes, and oh my friends—
It gives a lovely light !*

* मेरी बाती दोनों सिरों से जल रही है,
वह रात भर नहीं रहेगी—
किन्तु मित्रगण और शत्रुगण,
कितनी सुन्दर है उसकी दीप्ति!

शेखर चुप हो गया।

"आगे पढ़ो।"

पीड़ित स्वर से शेखर ने कहा, "मुझे क्षमा करें ; इस समय और पढ़ने को इच्छा नहीं है।"

"इच्छा नहीं है ? क्यों ? पर तुम ठीक कहते हो। तुम्हें मुझ पर दया आती है न ?"

शेखर ने उत्तर नहीं दिया।

"लेकिन मैं कहती हूँ—" आवेश में मणिका उठ बैठी—"तुम ग़लती करते हो। और तुम बिना बुलाए क्यों आए ?—चले जाओ—मेरे एकान्त में विघ्न बनकर मुझ पर दया करनेवाले तुम हो कौन ?"

शेखर लौटने के लिये फिरा, तब मणिका फिर हँसी—"मैं नशे में हूँ न, मैं जानती हूँ। कैसी बेवकूफ़ों-सी हँसी है मेरी। हाँ, तुम जाओ। बुलाने पर ही आना, समझे ?"

शेखर चल पड़ा।

"मैं ठीक कहती हूँ। Burn at both ends, शरीर इसी के काबिल है। इसी के काबिल। तुम मूर्ख हो, मूर्ख, मेरे जान दि बैप्टिस्ट !"

बाहर शेखर को याद आ रहा था, एक दिन पहले बात-बात में मणिका ने पूछा था, "आप को कोई शौक है ?" और उसने योंही कह दिया था, "मुझे चित्र संग्रह करने का शौक है।"

"How uninteresting ! (कितना अरुचिकर !) कोई जीव नहीं ?"

शेखर ने बताया कि बहुत पहले उसे पशु-पक्षी पालने या तितलियाँ पकड़ने का शौक था, अब नहीं रहा।

"बस ? I collect men ! (मैं तो पुरुषों का संग्रह करती हूँ !) कैसे-कैसे अजीब नमूने होते हैं—लेकिन—" एकाएक उसका स्वर ऊब और थकान से भर गया था—"चमड़ी के नीचे सब एक-से ! असभ्य, असंस्कृत—लोलुप पशु !"

उस दिन का यह वार्तालाप याद करके शेखर के मन ने जोड़ा—"चमड़ी के नीचे सब एक-से – सब पुरुष, सब स्त्रियाँ—पुरुष और स्त्री, स्त्री और पुरुष…"

* * *

'दाँत हैं, पर आँत नहीं ; कौर लेते हैं, पर पचा नहीं सकते—'

'चमड़ी के नीचे सब एक-से—लोलुप पशु—'

'जान दि बैप्टिस्ट—'

'तुम मूर्ख हो, मूर्ख—'

मन में दृढ़ निश्चय किए हुए कि अब वह बिना बुलाए क्या, बुलाने पर भी मणिका के यहाँ नहीं जायगा ; कालू से लड़ने के बाद चतुरसेन के दल से बहिष्कृत ; अपने से कम बुद्धिवालों से अभिमान के कारण खिंचा हुआ; बार-बार अधिक खर्चा माँगने पर सन्तोषजनक उत्तर न आने से घर से अप्रसन्न ; शेखर जब एक विषण्ण औदास्य में अपने कमरे में बैठकर

दुर्दम अभिमानी घोड़े की तरह अतीत को मिट्टी खूँदने लगा, और चाहने लगा कि पहले की भाँति ऐसे समय में अपने को सान्त्वना देने के लिए गद्य में या पद्य में कुछ लिखे; तब उसने पाया कि मणिका के कहे हुए कुछ-एक वाक्य बार-बार आकर उसके विचारों को बिखेर देते हैं और उसे बाध्य करते हैं कि आसानी से उन्हें टालने के बजाय उन पर विचार करे···वह नहीं चाहता था वैसा करना, किन्तु उसकी स्मृति में ही कुछ ऐसी बाध्यता थी कि वह विवश हो जाता था। चतुरसेन के दल के लोगों को और कौल बहिनों को वह बड़ी आसानी से मन से निकाल सका था—वे केवल एक क्षुद्र व्यभिचार के फ़ैशनेबल रूप थे; किन्तु मणिका—वह एक शक्ति का विकृत और भ्रष्ट रूप था जो ग्लानिजनक था, पर तिरस्कार्य नहीं—उसकी उपेक्षा नहीं होती थी।—मणिका की—उसकी श्रेणी की—आत्मा रोगग्रस्त थी, किन्तु थी आत्मा, और वह रोग भी एक उसका अकेला नहीं था ; वह आधुनिक आत्मा का रुझान ही था।···

शेखर ने सान्त्वना की खोज छोड़ दी, गद्य और पद्य का मोह छोड़कर वही लिखना आरम्भ किया जो उसके मन में से बीत रहा था—विद्यार्थी और शिक्षक···फ़ैशन और संस्कृति, बुद्धि और वासना, प्रवृत्ति और निवृत्ति और आसक्ति···धीरे-धीरे उसके लिखने की गति बढ़ने लगी, मन भी मानों ढांचे में ढलने लगा, और बढ़ते हुए विस्मय में उसने देखा कि अब वह गद्य और पद्य, कथा और निबन्ध सभी कुछ लिखता जा रहा है ; और यद्यपि वह लिखकर सृजन का सुख नहीं, केवल परिश्रम का सन्तोष पाता है, यद्यपि वह कल्पना के मधुर रङ्ग से नहीं, केवल परिचित अनुभूति के तिक्त रस से ही पन्ने रँग रहा है, और लिखकर कभी भी लिखे हुए को पढ़ने की इच्छा का अनुभव नहीं करता, काग़ज़ उठाकर आलमारी के बड़े दराज़ में पटक देता है तथापि उसका मन शिक्षित और विकसित होता जा रहा है। धीरे-धीरे उस पर यह ज्ञान या विश्वास हावी होने लगा कि जिनके बारे में वह लिख रहा है, जो पुरुष और स्त्री उसे घेरे हुए हैं और उसकी दुनिया को बनाते हैं, वे सब अन्ततोगत्वा बुरे नहीं हैं, वे सदिच्छाओं के बलहीन पुञ्ज हैं—उनमें सत्कामना है, लेकिन कामना पर्याप्त नहीं है, वे इससे सन्तुष्ट हैं कि वे शिव की कामना करते जायँ और अशिव उन्हें घेर ले, बाँध ले, तोड़ ले···क्या ऐसों से घृणा करने का साहस मानव कर सकता है ? किन्तु क्या ऐसों पर दया करना ही साहस का काम नहीं है ? एक अकेला मानव अखिल संसार को दया की दृष्टि से देखे—इतनी स्पर्धा उसकी !—और धीरे-धीरे बिना इस प्रश्न का कुछ निपटारा हुए ही उसके रँगे हुए पन्नों का ढेर बढ़ने लगा, यहाँ तक कि उसने अपनी लिखी हुई कापियाँ एक बक्स में भरना शुरू किया, फिर वहाँ उनको श्रेणियों में बाँटकर रखना सम्भव न पाकर एक आलमारी भर डाली···

और उसके मित्र उसके नव-जागृत वैराग्य पर हँसने लगे। चतुरसेन-मण्डली ने इसमें अपनी भारी विजय समझी, और मौके-बेमौके शेखर के बाहर निकलने पर कुत्ते-बिल्ली की पुकारों से उसका स्वागत करके अपना विजयोल्लास दिखाने का नियम-सा बना लिया ; अन्य लोगों ने समझा कि परीक्षा की तय्यारी है, कुछ ने कहा कि माँगे हुए सूट-बूट पहनता था,

अब मिलते नहीं इसलिये बाहर नहीं निकलता···बदनाम उसे सबने कर दिया, किन्तु वास्तव में वह करता क्या है, यह जिज्ञासा सबमें बनी रही।

तब गर्मी काफ़ी हो गई थी—परीक्षा के दिन निकट आ गये थे। एक नशे-से में शेखर ने दो-चार पुस्तकें पढ़कर तय्यारी की, नशे-से में परीक्षा दे दी और जान लिया कि वह अच्छी तरह पास हो जायगा और फिर लिखने में जुट गया। परीक्षा के बाद उसके सहपाठी तो घर चले गये थे, लेकिन बाकी विद्यार्थियों ने उसे अब भी पढ़ाई में जुटे हुए पाकर आई० सी० एस० की तय्यारी से लेकर अफ़ीम खाने तक सब तरह की अफ़वाहें उसके विषय में उड़ाईं, पर वह जुटा ही रहा। अन्त में शेष विद्यार्थियों की भी छुट्टियाँ आईं, सब अपने-अपने घर चले गये और शेखर अकेला रह गया।

एकान्त के लिये शेखर तैयार नहीं था। एकान्त का एक आतंक-सा उस पर छाया हुआ था। उसे आवश्यकता थी निरन्तर उससे—अपने से—भागते रहने की; निरन्तर अपने को कहीं केन्द्रित किए रहने की। होस्टल में अपने को अकेला पाकर उसका मन नौकरों की ओर गया—एकाएक उनके जीवन में उसे दिलचस्पी हो गई। किन्तु दो या तीन दिन के बाद उसने तय कर लिया कि वहाँ कुछ अधिक नहीं है जो मन को उलझाए रखे—ये पहाड़िये दिन-भर चिलम पीते हैं और गन्दी बातें करते हैं, शाम को दो-एक गीत गा लेते हैं और रात को कबड्डी खेल लेते हैं, बस। तब अपने निकट कहीं भी कुछ रुचिर न पाकर उसने योंही सड़क-सड़क और गली-गली घूमना प्रारम्भ कर दिया। दिन में गर्मी बहुत होती थी, अतः दिन-भर वह सोया रहता, शाम से आधी रात तक घूमता रहता और दो-एक घण्टे सोकर फिर प्रातःकाल की सैर कर लेता।

जिन लोगों ने इस तरह निरुद्देश्य भटकने में—विशुद्ध आवारापन में—कुछ समय नहीं बिताया है, वे कल्पना नहीं कर सकते, इसका नशा कितना गहरा है। शेखर ने देर तक नहीं समझा कि जिस जिज्ञासु-वृत्ति ने उसे फ़ुरसत के समय भटकने की ओर प्रेरित किया था, वही इसके कारण नष्ट होती जा रही है—वह क्रमशः पक्का 'लोफ़र' बनता जा रहा है जिसे कोई भी जिज्ञासा नहीं है, कोई भी इच्छा, आकांक्षा, अभिलाषा, चेष्टा नहीं है, जो इससे अधिक कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता कि 'वह है'। अनजाने ही वह ऐसी परिस्थिति के निकट आता गया जहाँ वह भूखा होने पर चोरी करके खा सकता, बिना इसका ध्यान भी किये कि उसने चोरी की और भूख के लिए की; या शीत होने पर बिना उसे अनुभव किए ही किसी का कम्बल चुरा ले सकता था···

इसलिये जिस दिन वह एकाएक उस पथ पर जा पड़ा जिस पर एक दिन उसने चतुरसेन आदि का अनुसरण किया था, तो इसमें वह पूर्णतया अपराधी नहीं था, यद्यपि उस समय था वह होश में और खूब सचेत।

* * *   * * *   * * *

ज्यों-ज्यों वह उस धुँधले और रंग-बिरंगे प्रकाशवाले मुहल्ले में घूमने लगा, त्यों-त्यों उसका मन अधिक जाग्रत और चौकन्ना होने की बजाय शिथिल और अलसाना होने लगा। इस पर उसे कुछ खीझ और क्लेश भी हुआ। उसने मानों अपने को जगाने के लिये अपने मन को झकझोरकर कहा, "शेखर, जागो, समझो तुम कहाँ हो! यह है वेश्याओं का मुहल्ला, यहाँ शरीर बिकते हैं, यहाँ तृप्ति बिकती है, यहाँ सुख बिकता है। समझे?"...किन्तु उसके मन ने इसे पकड़ने से इनकार कर दिया। शेखर ने बढ़ते हुए रोष से बार-बार दुहराना आरम्भ किया, "वेश्या, वेश्या, वेश्या, प्रास्टिट्यूट, रण्डी, समझे? जहाँ बन्धन नहीं है—लज्जा नहीं है—रोशनी नहीं है, अन्धकार नहीं है—है रंग—रँगे हुए मुँह..." किन्तु इससे भी उसका मन शिथिलतर ही होता गया; जागा नहीं, शेखर का नियन्त्रण करने को राज़ी नहीं हुआ, उसे आगे बढ़ाने को भी तय्यार नहीं हुआ। मानों आगे जो जा रहा है, और जो चेतावनी दे रहा है, दोनों से उसे कोई सरोकार नहीं है...

एकाएक कोई औरत उससे टकरा गई, उसने अचकचाकर देखा, वह टक्कर अचानक नहीं लगी है; औरत ने जानबूझकर उद्धतता से, अश्लीलता से, उसे धकेला है। शेखर एकटक उसकी ओर देखता रहा—बिना क्रोध के, बिना अनुभूति के, और एक ओर हटकर खड़ा हो गया। औरत ने अचम्भे-से में एक गाली दी और बढ़ गई। शेखर ने अपने को पूछना चाहा, वह क्यों वहाँ आया, क्या करने आया, क्या लेने आया?...उसने शायद उम्मीद की थी, कोई सनसनीदार घटना होगी या तीव्र घृणा होगी, या क्रोध होगा; कोई ऐसी विराट् प्रतिक्रिया होगी जो उसे भीतर आन्दोलित कर देगी, उसे दहला देगी—वह इस हल्की—बहुत हल्की!—ग्लानि-भर के लिये प्रस्तुत नहीं था—न इस धीमी-सी उलझन के लिए...

एक चबूतरे पर दो छोटे-छोटे अधनंगे लड़के बैठे हुए थे। वे एक वीभत्स मुद्रा बनाये साथ सटकर बैठे हुए परस्पर गले में बाँह डाले एक दूसरे का मुँह चूम रहे थे और प्रत्येक चेष्टा के बाद सामने एक खिड़की की ओर देखकर एक अर्थ भरी हँसी हँस देते थे। शेखर ने उनकी दृष्टि का अनुकरण किया—नीले बिजली के अण्डे के प्रकाश में फालसई रंग की साड़ी पहने एक स्त्री बैठी थी और उस रंगीन प्रकाश में उसका पाउडर से रंगा मुँह ऐसा लग रहा था जैसे—पानी में पड़ी हुई लाश का...

शेखर आगे बढ़ गया।

एक खिड़की के नीचे चारखानी जूट की तहमतें पहने चार-पांच मुसलमान खड़े थे और एक लम्बे क़द के फ़क़ीर को ओर देख रहे थे। फ़क़ीर बूढ़ा था, गेरुआ पहने था, गले में मोटे-मोटे दानों की कंठी पहने था, और सामने झरोखे पर बैठी एक कुरूपा अधेड़ स्त्री की ओर उन्मुख होकर कह रहा था, "क्यों, तुम मादा नहीं हो? मेरे पास पैसा नहीं हैं, मैं भीख माँगता हूँ, पर—" छाती ठोंककर—'मैं मर्द हूँ, मर्द..." वह औरत उसकी ओर तिरस्कार भरी दृष्टि से देख रही थी, और जुटे हुए लोग हँस रहे थे...

नहीं। यहाँ भी नहीं। यहाँ भी केवल वही हल्की-सी विरक्ति, एक क्षीण झल्लाहट' और

मणिका के एक वाक्य की अनुगूँज—'चमड़ी के नीचे सब एक-से होते हैं'—लोलुप पशु···पुरुष और पुरुष, स्त्री और स्त्री, पुरुष और स्त्री···शेखर और आगे बढ़ गया।

एक छोटी-सी, चिथड़ों में अधनंगी लड़की ने उसकी बाँह खींचकर कहा, "बाबू, पैसा दो।"

"पैसा मेरे पास नहीं है; भाग जाओ।" शेखर ने बाँह झटक दी; स्वर भी उसका कठोर था।

लड़की उसकी टाँगों से चिपट गई। बोली, "दो, नहीं तो मेरे साथ आओ—पीछे दे देना।" कहकर उसने दूर एक कोठरी की ओर इशारा किया जिसमें एक लालटेन जल रही थी···

शेखर ने अपने को छुड़ाया भी नहीं, वैसे ही यंत्रवत् आगे चलता गया। लड़की ने उसे छोड़ दिया।

एक ओर से आवाज़ आई, "किन्नो, देख तेरे देश का आदमी जा रहा है—बुला तो?"

शेखर को क्षीण-सा कौतूहल हुआ। नाम से वह नहीं जान सका कि कौन-से प्रान्त की है वह जिसे सम्बोधन किया गया है और जिसका स्वदेशीय उसे समझाया गया है। पर वह रुका नहीं, न उसने मुड़कर देखा, यद्यपि उसने उधर से उसे लक्ष्य करके उत्पन्न की गई चुम्बन की जोरदार ध्वनि सुनी···

वह मोड़ पर मुड़ा ही था कि सामने से आता हुआ कोई बोला—"फूल ले लो!"

नहीं, वे चमेली के गजरे नहीं थे। शेखर ने एक बार देखा, ऐसे लड़खड़ाया जैसे गोली खा गया हो, फिर स्वस्थ होकर सिर झुकाए, एक हाथ से आँखें छिपाता हुआ भागा—भागा···उस स्थान पर—कुमुद के गट्ठे! कुमुद जो उसके लिये स्वच्छता का प्रतीक बन गए थे, जो···

वह भागा, और न जाने क्यों एक निरर्थक वाक्यांश हथौड़े की चोट की तरह बार-बार उसे उद्वेलित करने लगा—ईश्वर और मानव—ईश्वर और मानव···

उन कुमुद के फूलों ने उसके विचार की धाराओं को जिस मार्ग पर डाल दिया, और छुट्टियों में घर न लौटने के निर्णय ने उन पर जो कैद लगा दी, उसके कारण शेखर के मन में शीघ्र ही काश्मीर जाने की लालसा तीव्र हो उठी। उसके शैशव का वह सुन्दर क्रीड़ास्थल···कितने दिन हो गये थे उसे कुछ भी सुन्दर देखे हुए, और कितनी तीव्र वेदना थी उसके हृदय में कुछ ऐसा देखने के लिये—जो सुन्दर हो, सम्पूर्ण सुन्दर हो...

लेकिन क्या वह सत्य था? क्या वह सचमुच सौन्दर्य की खोज थी जिसके कारण उसका जीवन इधर इतना अशान्त हो गया था? क्या वह उसकी परिस्थिति की असुन्दरता ही थी जिसके कारण उसका अन्तर उबल-उबल पड़ता था? उसे निश्चय नहीं था, किन्तु युद्ध तो

सम्भावनाओं का पीछा करने का ही दूसरा नाम है, और जीवन केवल सम्भावनाओं को पकड़ने का दीर्घ प्रयास है…

*
* *

*
* *

*
* *

चीन की एक पुरानी कविता है, जिसका भावार्थ है, "व्यक्ति क्यों यह इच्छा लेकर अलसाया पड़ा रहे कि उसकी हड्डियाँ भी उसके पिता की हड्डियों के साथ ही समाधिस्थ हों ? जहाँ भी कोई चला जाय, वहीं कोई शस्य-श्यामला पहाड़ी मिल सकती है।"

इसी कविता को प्रमाण-वाक्य बनाकर शेखर काश्मीर के लिये चल पड़ा। जाता हुआ वह अपने मस्तिष्क को अतीत की पुनर्जात स्मृतियों से भरता जाता था, किन्तु उसकी मधुरता उसे बाँधती नहीं थी, अतीत के साथ समाधिस्थ होने की ओर आकृष्ट नहीं करती थी, केवल यह चाहना जगाती थी कि वह उससे भी अधिक शस्य-श्यामला पहाड़ी खोज ले, चाहे जहाँ भी उसके लिये जाना पड़े…

कुछ हँसी भी उसे आती थी अपनी खोज पर—सत्य की खोज, ज्ञान की खोज, मुक्ति की खोज तो सुनी थी, सौन्दर्य की खोज करनेवाला जिज्ञासु वह पहला ही था !

अतीत झूठ था। कोई शस्य-श्यामला पहाड़ी उसमें नहीं थी—केवल समाधियाँ !

शेखर ने श्रीनगर पहुँचकर गली-गली छान डाली—उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। श्रीनगर में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं था—सिवाय भिन्न-भिन्न प्रकार की गन्ध के। नगर के बाहर सुप्रसिद्ध उद्यानों की सैर भी उसने की—किन्तु वहाँ पर थीं केवल रेखायें और कोण और वृत्त—और वृक्षों की कठोर शालीनता और अति-व्यवस्था केवल मृत्यु की शान्ति का ध्यान दिलाती थी। जिस व्यक्ति ने इन उद्यानों पर लिखाया था…"अगर फिरदौस बररुए ज़मीन अस्त, हमीन अस्तो हमीन अस्तो हमीन अस्त" वह अवश्य कोई गणितज्ञ रहा होगा जिसे बाग़वानी का शौक़ चर्राया होगा…शेखर ने नदी-नाले और झीलें पार कीं, पर उनका सौन्दर्य दर्शकों और यात्रियों की, और उनके धुएँदार डूँगों की बेहूदा भीड़ से विकृत हो गया था। तब उसने नगर छोड़कर हिमालय की अक्षत शुभ्रता में छिपी हुई एक झील की ओर प्रयाण किया; राह के दोनों ओर पार्वत्य उपत्यकाओं में खिले हुए लाल, पीले, नीले, और श्वेत पुष्पों को उड़ती निगाह से देखकर वह इतनी ऊँचाई पर पहुँचा कि जहाँ-तहाँ चट्टानों की ओट में छिपी पिछले वर्ष की बर्फ दीखने लगी। एक चट्टान की आड़ में से उसने अकेला खिला हुआ वह आस्मानी रंग का पोस्त का फूल भी तोड़ा जिसे पाना सौभाग्य है—कैसा है उस फूल का भाग्य जिसका पाया जाना पानेवाले का सौभाग्य है किन्तु फूल का अन्त !—किन्तु सौन्दर्य. सौन्दर्य उसे न मिला ! वह और भी ऊपर चला, साथ के कुली विद्रोह की तय्यारी करने लगे क्योंकि जिधर वह जा रहा था उधर गये तो लोग थे पर टिका कोई नहीं था—किसी का खेमा वहाँ नहीं गड़ा था...पर "वहाँ तो मिलेगा सौन्दर्य !" कहकर शेखर उन्हें किसी तरह झील तक ले गया ; झील के किनारे खेमा गाड़कर वह पड़ गया और सोचने लगा, इससे आगे कहाँ ?

झील बड़ी थी, बीच में जगह-जगह बर्फ की चट्टानें तैर रही थीं ; ऊपर कूंजों की एक डार कभी इधर कभी उधर उड़ जाती थी, और हवा का झोंका झील के आर-पार मानों किसी पार्वत्य देवी का प्रशस्त पथ तय्यार कर रहा था। शेखर देखा किया, फिर थकान के कारण और जाड़े से कुछ काँपकर उसने खेमे का परदा डाल दिया और लौटकर सोचने लगा, यहाँ से आगे पथ नहीं है, पीछे ही लौटना होगा, पर उसे तो पीछे कभी पथ दीखा ही नहीं है, वह जायगा कैसे···

झील के किनारे की एक चट्टान की आड़ में खड़े शेखर को जान पड़ा, सामने दो चट्टानों से जो अँधेरी-सी गुफा बन गई है, उसमें खड़ी कोई शुभ्रवसना देवी पानी में अपने पैर भिगो रही है। फिर उसे लगा, नहीं, वह देवी नहीं, मानवी है, और शेखर की परिचिता है। किन्तु कौन ? नहीं, चेहरा केवल किसी से मिलता है—शारदा ? शशि ?

शेखर एकाएक जाग पड़ा। वह सो गया था, सोते समय खेमें के परदे की थोड़ी-सी खुली जगह में से चांदनी उसके मुँह पर आ रही थी। स्वप्न से वह अशान्त-सा हो गया, कुछ-कुछ अपराधी होने का भी भाव उसके मन में आया। उसने कन्धे पर कम्बल डाल लिया और खेमें से बाहर निकल गया।

बाहर खुली चांदनी छिटकी थी, इतनी प्रोज्ज्वल कि निरभ्र आकाश में भी तारा एक-आध ही दीखता था। झील चमक रही थी। रंगों का वह खेल—केवल एक रंग, श्वेत, का खेल—बल्कि केवल मात्र प्रकाश का और उसकी अनुपस्थिति का वह खेल देखकर शेखर स्तब्ध रह गया। झिलमिलाती हुई झील पर धुँधले श्यामल पहाड़, और दूर पर कुहरे सी मधुर स्निग्ध ज्योतिर्मयी हिम-श्रेणी···उस विस्तीर्ण, अत्यन्त निःस्तब्ध रात में इस दृश्य को देखते हुए बोध की लहरें-सी उसके शरीर में दौड़ने लगीं ; मानों वह इस जीवन के स्वप्न से उद्बुद्ध होकर किसी ऊँची यथार्थता के लोक में चला जा रहा है···उसे रोमाञ्च हो आया। उसने आँखें मूँद लीं, मानों आंखे मूँदकर ही वह इस दृश्य को बनाए रख सकता है, खुली आँखों के आगे वह छिन्न हो जायगा···

आह सौन्दर्य···

शेखर को कँपकँपी आ गई। उसे जान पड़ा कि उसके मस्तिष्क पर कोई भारी बोझ है जिसे उतार देना आवश्यक हो गया है ; वह धीरे-धीरे खेमे की ओर लौट पड़ा।

भीतर आकर उसने मोमबत्तियाँ जलाईं ; कागज़-कलम लिया, और क्षण-भर अनिश्चय में कलम हिलाता रहा। फिर उसने लिखा, "सौन्दर्य और बुद्धि का सम्मिलन कभी भी बन्ध्य नहीं होता।" थोड़ी देर फिर रुककर एकाएक निश्चय में उसने कागज़ घुटने पर रखा, और सिर झुकाकर लिखने लगा - अपने जीवन की सबसे पहली और सबसे सुन्दर कहानी···

*　　*　　*

* *　　* *　　* *

"उसने अपना जीवन नगर में बिताया था—नगर की गन्दगी और भीड़ में, कलह और कोलाहल में, और उसी में इतना सन्तुष्ट और चुप रहना वह सीख गया था कि सिवाय नगर की जनसंख्या में एक इकाई जोड़ने के और कोई महत्त्व उसका नहीं था। वह उस गन्दगी और भीड़, कलह और कोलाहल का एक अंग था। अड़ोस-पड़ोस में उसकी नीरसता प्रसिद्ध थी। इसीलिये, जब उन्होंने सुना कि उसने अबकी बार काश्मीर जाने का फैसला किया है, तब हँसते-हँसते उनके पेट फूल गये। 'वह काश्मीर देखने? वह तो भैंस का भी सौन्दर्य नहीं पहचान सकता—काश्मीर? जिस सौन्दर्य को बड़े-बड़े कलाकार बोध के घेरे में नहीं बाँध सके, उसको पकड़ने चला है वह—वह शहर की गली का रेंगता केंचुआ, जिसकी आँखें नहीं होतीं, जो इधर बढ़ना चाहे तो उधर सिकुड़े बिना बढ़ नहीं सकता! यही तो है—"गदहा पूछे कितना पानी!"

किन्तु नीरस व्यक्ति होने के कारण इन सब बातों का कोई असर उस पर नहीं हुआ। उसे जाना था, वह गया।

श्रीनगर में वह बहुत दिन रहा। घूमा किया, भटका किया उस सौन्दर्य की खोज में जिसे सब देख सकते थे और बखानते थे और वही एक अभागा नहीं पहचान पाता था। धीरे-धीरे उसका विश्वास होने लगा कि सौन्दर्य निरी कल्पना है—और ज्यों-ज्यों यह विश्वास जमने लगा त्यों-त्यों उसकी खोज भी अधिक व्याकुल होने लगी। उसने मुग़लों के उद्यान देखे—सस्ती सजावट और गणित के प्रयोग—और बस! उसने पहले गाँव देखा और निराश लौटा, गुलमर्ग का उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा—डल झील नीरस दीखी, और वुलर तो थी ही गँदले पानी का प्रसार।

अन्त में वह फिर अपने नगर—उसकी गन्दगी और भीड़, कलह और कोलाहल के लिये छटपटाने लगा। वे चीज़ें सुन्दर नहीं थीं, तो कम-से-कम ग्राह्य तो थीं, पकड़ में तो आती थीं, समझा तो उन्हें जा सकता था! क्या वह लौट चले?

किन्तु कार्यारम्भ करके बीच में छोड़ देना तो—रसिकों का काम है—वह अरसिक कैसे अपनी खोज बीच में छोड़कर चल दे? वह अपने खेमें के बाहर बैठकर सोचता, 'क्या मैं ही संसार में एकमात्र व्यक्ति हूँ जिसमें सौन्दर्यानुभूति नहीं है? क्या मैं ही एक पंगु बनाया गया हूँ? या मैंने अभी अपने को अधिकारी सिद्ध नहीं किया है···'

उसने निश्चय किया कि वह एक बार और चेष्टा करेगा—अगर तब भी अनुभूति उसे प्राप्त नहीं होगी तब वह सदा के लिये अपने गंदे और संकुल कोलाहल-भरे नगर को लौट जायगा···वह निर्णय कर लेगा कि वह हार गया या जीता—वह नीरस है तो इस सम्बन्ध में कठोर नीरस सत्य को जानकर ही रहेगा···

उसने दो पहाड़ी टट्टुओं पर अपना आवश्यक सामान लादा, और टट्टुओं के मालिक

को साथ लेकर चल पड़ा। चार दिन निरन्तर वह चढ़ाई चढ़ता ही गया—जंगल घना होता गया और निःस्तब्धता बढ़ती गई, हवा हलकी और तरल और शीतल जान पड़ने लगी। फिर तीन दिन और वह और उसका पहाड़ी साथी आगे बढ़ते गये—असंख्य छोटे-छोटे पहाड़ी झरनों को और मोती की लड़ी से झर-झर झरनेवाले जल-प्रपातों को लाँघते हुए—यहाँ तक कि देवदारु और भोजवृक्ष भी चुक गए, और उनके सब ओर विस्तीर्ण उपत्यकाएँ छा गईं, हरित, लोहित, नील, पीत, श्वेत निर्गन्ध पुष्पों से ढँकी हुई उपत्यकाएँ···

इससे भी आगे वे बढ़े—तब फूल भी चुक गए—केवल कहीं-कहीं एक-आध भूला-सा नीला पोस्त दीख जाता, कहीं-कहीं तीव्र गंधवाली कोई बूटी या रूखे पत्तोंवाली कोई कुरूप झाड़ी...

और उससे आगे सौभाग्य सूचक वे नीले पोस्त भी चुक गए, बूटियाँ भी चुक गईं, रह गईं केवल ऊबड़-खाबड़ नीरस चट्टानें और पिटी हुई-सी भावहीन नीरस दूब···

उसके मन में भावना हुई, इस दुर्गम पथ पर एक-एक करके सब रसिक रह गए हैं—वृक्ष रह गए, फूल रह गए, बूटियाँ रह गईं, एकान्त तपस्वी नीले पोस्त तक रह गए—अब बचे हैं तो नीरस पत्थर, नीरस घास और नीरस जिज्ञासु वह...इस बीहड़ मार्ग पर सौन्दर्य उसे दीखना ही चाहिए—पर क्या सौन्दर्य कुछ है भी? क्या रस की कल्पना, आसन्न रस-लब्धि की भावना ही को सौन्दर्य नहीं कह देते? 'इससे मैं अभी-अभी सुख पाऊँगा', इस चिन्ता में ही व्यक्ति इतना डूब जाता है कि सुख पाने से पहले ही रस-बोध उसे हो जाता है, तब वह कहता है 'कितनी सुन्दर!' वासना की अमूर्त के द्वारा पूर्ति का नाम ही सौन्दर्य है न···

तब क्या वह वासना से परे है? वह जानता है कि यह मिथ्या है, उसका गात भी वासना से झुलस सकता है, और झुलसा है, और झुलसेगा...तब क्या संसार में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जो उसे सुख दे सके, या जिससे वह सुख की आशा कर सके? इतना अभागा भी होना कठिन है—इन आस-पास पड़े हुए काले पत्थरों के भीतर भी तो कहीं-कहीं हरे या श्वेत रंग की एक नाड़ी दीख पड़ती है।

एक घाटी पार करके वे सहसा खुली जगह पर आ गए; जहाँ सामने एक विस्तीर्ण झील थी, चारों ओर चोटियों से घिरी हुई—कोई नंगी और श्यामकाय, कोई हिमावगुण्ठित ..

उसने घोड़ेवाले से खेमा गाड़ने को कहा, और हल्की-हल्की बूँदाबाँदी में वह भीतर जाकर कुछ खा-पीकर लेट गया – वह बहुत थक गया था। इतना थक गया था कि उसे नींद भी न आई—वह लेटा-लेटा सोचने लगा...

कैसा मूर्ख है वह···क्या और भी कोई ऐसे सौन्दर्य की खोज में निकला होगा? कहानियों में अवश्य सुनते थे, अमुक राजकुमार—नीलम के द्वीप में गया जहाँ सौन्दर्य की देवी रहती थी, या अमुक बादशाह ने अपने वज़ीर से कहा कि मुझे सौन्दर्य का सार चाहिए—लेकिन कभी किसी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वे कहानियां सच हैं? 'कहानी' और 'यथार्थ'—ये दो अलग श्रेणियाँ हैं, यह ज्ञान छोटे-से बालक के मन में भी बिठा दिया

जाता है···वही एक मूर्ख ऐसा है कि नहीं समझ पाया —यथार्थ-जीवन में रहकर कहानी-जीवन की चोज़ पकड़ना चाहता है···क्यों न लोग उस पर हँसें ? उसे मूर्ख समझें ? घर पर—नगर की गन्दगी और कोलाहल से घिरी हुई उसकी स्त्री भी उसे हँसती होगी कि मूर्ख शादी करके सौन्दर्य की खोज करने चला है···

वह अचकचाकर जागा। उसने स्वप्न में देखा था, एक काली चट्टान की गोल-गोल आँखें उस पर टिकी हैं और चट्टान कह रही है, 'तुमने बहुत अच्छा किया जो सौन्दर्य की खोज में चले आए—मेरे पास।' और फिर वह एकाएक उसकी स्त्री में परिणत हो गई थी जो ठठाकर हँस पड़ी थी।

वह उठकर बाहर निकल आया और लम्बे-लम्बे डग भरकर झील की ओर जाने को हुआ--

वज्राहत-सा पथ के बीच में वह रुक गया। कोई अनिर्वचनीय पदार्थ लहरें बांध-बांधकर उसकी ओर उमड़ा आ रहा था—कुछ तुषार-शीतल, कुछ भव्य, कुछ रोमांचकारी--उमड़ा ही नहीं, उसके मेरुदण्ड को कड़ी-कड़ी कँपाता हुआ उसके मस्तिष्क में बैठ रहा था···

उसके आगे बिछी हुई--राका की ज्योत्स्ना, छायाएँ, बर्फ का फैला हुआ आंचल, झिल-मिल जल, लहरें, तारे···

सौन्दर्य--गहरे मार्मिक आघात को तरह--अनुभूति उसकी रगों में दौड़ गई···

लहरों पर चन्द्रमा की किरणों का नर्त्तन--तरल मखमल के पट पर थिरकती हुई पार्वत्य अप्सरायें—और दूर उस पार—हिमस्तूपाकार और अचल मुद्रा में आसीन ऋषिगण—शान्त और ध्यानस्थ और अडिग···

प्रज्ञा के आघात के आगे वह लड़खड़ा गया—अनन्त आकाश में खो गया·--लब्धि उसे हुई थी, किन्तु उसकी पकड़ से बहुत बड़ी—उसकी बुद्धि आहत, पराजित, खण्डित पड़ी थी उस प्रवाह के आगे···

जो डायना को स्नान करते देख लेता है, वह अन्धा ही होकर रहता है—उस रूप के बाद कुछ देखने की सामर्थ्य भी रहना असम्भव है···

उस पर उन्माद छा गया था, वह बड़बड़ा रहा था, वह बांहें फैलाए हुए झील और बर्फ और आकाश के सौन्दर्य को घेरने के लिये बढ़ा जा रहा था···किन्तु स्वप्न क्या बांहों से घिर सकते हैं, बँध सकते हैं···?

वह तन्द्रा में हो आगे बढ़ा जा रहा था—झील की ओर, जहां चन्द्रमा की किरणों पर—अप्सराएँ थिरक रहीं थीं···

अगले दिन जब सूर्योदय तक भी वह तंबू से बाहर नहीं निकला, तब घोड़ेवाला भीतर गया, पर वह वहां नहीं था। कुछ देर घोड़ेवाले ने प्रतीक्षा की, फिर खोज के लिये निकल पड़ा।

कहीं कुछ नहीं—केवल बर्फ पर कुछ-एक पद-चिह्न झील की ओर जाते हुए और झील के किनारे तक जाकर लुप्त—और उससे आगे कुछ नहीं, केवल अभेद्य अवगुण्ठन डाले हुए चिरन्तन सौन्दर्य—नीरव, सस्मित, रहस्यमय···

*　　　　*　　　　*
* *　　　　* *　　　　* *

अगले दिन प्रातःकाल ही शेखर ने सामान बांधा, तम्बू उखाड़ा और वापस चल पड़ा। अपनी नयी अनुभूति को गाँठ में बाँध लेने के बाद उसके लिये वहाँ रहना अनावश्यक हो गया था—अनावश्यक ही नहीं, असह्य भी हो गया था।

तीन दिन के बाद वह पहले डाक घर पर पहुँचा, जहाँ उसे कई जगह भटककर आई हुई उसकी डाक मिली। डाक में कुछ अधिक नहीं था, दो-चार परिचित लिपियाँ ही थीं—एक नयी लिपि देखकर उसने वही लिफाफा सबसे पहले खोला, और उसके बाकी पत्र अनपढ़े ही रह गए।

शशि ने तीन लाइन का पत्र लिखा था—उसके पिता का देहान्त हो गया और माँ को बार-बार गशें पड़ती है।

*　　　　*　　　　*
* *　　　　* *　　　　* *

सन्ध्या के समय निरालोक नीरव घर में प्रवेश करते समय किसी को सामने न देखकर शेखर ने सन्तोष की गहरी सांस ली। न जाने क्यों, उसके मन में डर बैठा हुआ था कि वह इस घर के ऊपर छाए हुए दुःख में हिस्सा नहीं बटा सकेगा। यद्यपि शशि के पिता की बीमारी में वह यहाँ आ चुका था और रह चुका था और घर से एकरस हो चुका था, तथापि उसे लगता था कि उसका लगाव मौसी विद्यावती और शशि से ही है, और इस समय वे दुःख से घिरी हुई होंगी तब वह उनके निकट नहीं जा सकेगा और न दुःख में हिस्सा बटा सकेगा। ऐसा जान पड़ता था कि वह स्वयं निर्व्यक्तिक हो गया है, व्यक्ति की अनुभूति—दुःख-सुख—उसे नहीं छूती; और ऐसी दशा में समवेदना प्रकट करना असम्भव और न करना नृशंसता होगी···

द्वार पर, ड्योढ़ी में, आंगन में, सीढ़ियों पर—शेखर को कोई नहीं दीखा। उसने चुपचाप अपना छोटा-सा बिस्तर आंगन में रखा और दबे पाँव ऊपर चढ़ गया।

भूमि पर बिछी हुई एक चटाई पर मौसी विद्यावती मूर्छा में पड़ी थी, उसके माथे पर एक हाथ रखे, दूसरे से पंखा करती हुई शशि बैठी थी। शशि की छोटी बहिन गौरा हाथ में पानी का गिलास लिए खड़ी थी, लेकिन पानी के छींटों की बजाय नीरव आँसूओं की बूँदें ही गिरा रही थी।

शेखर के मुँह से अकस्मात् निकला, "शशि—", फिर वह सकुचा गया। मौसी के पास ही घुटनों बैठकर पानी का गिलास उसने गौरा से लिया और छींटे देने लगा; शशि ने एक

बार उसकी ओर देखा, एक सरल विशाल स्वीकृति में उसको उपस्थिति को अपना लिया और पंखा झलती रही, गौरा शायद सामान देखने के लिए नीचे उतर गई ; मौसी ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं और एक निर्वेद दृष्टि से उसे पहचानकर फिर मूँद लीं, फिर करवट लेने की कोशिश की और रह गईं ; फिर उनके अंग शिथिल हो गए और साँस नियमित चलने लगी ; शशि ने धीरे से कहा, "सो गईं—आज तीन दिन बाद सोई हैं"; शेखर ने एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा, मानों पूछना चाहता हो, "तो तुम तीन दिन तक देखती रहीं कि सोती हैं या नहीं ?" पर कुछ बोला नहीं; शशि उठकर बाहर चली, शेखर पीछे हो लिया, उसके बाहर जाने पर शशि ने किवाड़ बन्द करके पूछा, "मेरी चिट्ठी मिली थी—कब ?"

"आज पाँच दिन हुए हैं।"

"थे कहाँ तुम ?"

"काश्मीर गया था—"

"काश्मीर कहाँ ? आते-आते पाँच दिन लगे ?"

"कहीं नहीं, शशि, मेरी अक्ल ठिकाने नहीं थी," कहकर शेखर एकाएक चुप हो गया।

शशि रसोईं घर में गई और धीरे-धीरे रसोईं की सामग्री जुटाने में लगी। शेखर ने कहा, "मैं मदद करूँ ?" शशि ने चुपचाप आटे की परात उसकी ओर धकेल दी और एक लोटा पानी भी रख दिया, स्वयं तरकारी काटने लगी।

मदद के इस प्रकार निर्विवाद स्वीकार हो जाने पर शेखर को विस्मय हुआ ; उसने स्थिर दृष्टि से शशि की ओर देखा। तब उसने जाना कि शशि स्वयं वहाँ नहीं है, वहाँ केवल एक मानव-यन्त्र है जो दूसरों को चलाने के लिये स्वयं चलता जा रहा है, चलता जा रहा है···

और तब एकाएक उसने पाया कि वह निर्व्यक्तिक नहीं है, कि वह विषाद में डूब गया है, कि उनका दुःख उसका दुःख है—गहरी समवेदना का स्रोत उसके भीतर कहीं उमड़ पड़ा...

दुःख संसर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दुःख का संसर्ग परिवारों को भी शुद्ध और उदात्त बनाता है।

कुछ ऐसा ही ज्ञान वहाँ रहते हुए शेखर के भीतर से प्रस्फुटित हो रहा था, तभी उसने निश्चय किया कि वह वहाँ से न जाकर वहीं दुःख के अंचल में विश्राम करेगा··

मृत्यु के झंझावात की चोट से क्षत-विक्षत हुए उस परिवार को एक मास से ऊपर हो चला था ; घर कम-से-कम कार्य-व्यवस्था की दृष्टि से अपनी साधारण अवस्था पर आ चला था—काम-काज ही तो संसार की व्यवस्था को स्थिर, एकरूप रखनेवाली एकमात्र वस्तु है—और मौसी विद्यावती तथा शशि दिन-भर किसी न किसी काम में जुटी रहती थीं···कभी जब

पास-पड़ोस की औरतें हमदर्दी दिखाने आ बैठतीं तब भी वे कुछ न कुछ काम लिए बैठी रहतीं और निष्ठापूर्वक उस छिछली, कभी-कभी मिथ्या, और प्रायः ही रूढ़िगत समवेदना के लिए आंचल पसारे रहतीं, क्योंकि वही परम्परा थी, वही कर्त्तव्य था, भले ही उससे भाग्य के गहरे क्षत और भी गहरे होते जांय, फूट उठें, जीवन-रस बहा ले जांय...

और शेखर इस विशाल मौन कर्त्तव्यनिष्ठा को स्तब्ध होकर देखा करता—वह दूर खड़े अपलक दृष्टि से मौसी या शशि की ओर देखता रहता ; जब कभी उनका ध्यान इसकी ओर खिंच जाता तब वह जल्दी से वहां से हट जाता···कभी मौसी बुलाकर पूछतीं, "क्या है, शेखर ?" तब वह कुछ उत्तर न दे पाता और वे समझतीं कि उन्हें अपना दुःख दिखाकर उसे दुःखी न करना चाहिए—यह उनकी कल्पना में न आता कि उनका दुःख न दिखाना ही उसके भीतर क्रान्ति मचा रहा है, वह जो अपने दुःख-सुख, आक्रोश-आवेग, राग-विराग तत्काल ही कार्य में परिणत कर देता है, जो व्यक्ति के लिये ऊँची-से-ऊँची चोटी तक ऊबड़-खाबड़ पगडण्डी दिखाने को तय्यार है, किन्तु समष्टि के लिये थोड़ी-सी दूर तक भी प्रशस्त-पथ बनाने के लिये रुक नहीं सकता···वह जिसमें संयम नहीं है, जिसने पानी का बहने और बहाने का धर्म तो अपना लिया है, पर सींचने का काम नहीं सीखा···तब वह दौड़कर किसी एकान्त कमरे में छिप जाता और अपने को कोसा करता कि इतना लम्बा जीवन उसने व्यर्थ बिता दिया है ; अपनी पूँछ का पीछा करनेवाले कुत्ते की तरह अपने आसपास ही चक्कर काट-कर रह गया है, दूसरों का दुःख, दूसरों की वेदना उसने जानी नहीं, जाननी चाही नहीं, जानने की सम्भावना नहीं छोड़ी···

न जाने इसका श्रेय किसे था कि उस दिन एकाएक बातें होने लगी थीं और मौसी, शशि, शेखर तीनों ही जैसे कोई बांध तोड़कर बोलते रहे थे। शेखर को यह देखकर बहुत सन्तोष हुआ था कि उसकी एक-आध बात पर मौसी मुस्करा भी दी थीं—यद्यपि वह मुस्क-राहट ही किसी दूसरे की आंखों में आँसू लाने के लिये पर्याप्त थी।

शेखर शायद अपने भावी कार्यक्रम के बारे में कुछ बात कहते-कहते एकाएक कह गया था, "यह मुझसे नहीं हो सकता—इसकी तो रेखा ही मेरे हाथ में नहीं है।"

और शशि ने पूछा था, "आपको हाथ देखना आता है ?"

शेखर के कुछ उत्तर देने से पहले ही विद्यावती ने हाथ बढ़ाकर कहा, "सच ? देखकर बताओ तो मेरी आयु कितनी है ?"

शेखर प्रश्न से इतना विस्मित हुआ कि शशि के प्रश्न का नकारात्मक उत्तर भी न दे सका, मौसी का हाथ अपने हाथ में लेकर आयुरेखा देखते हुए उसने जैसे किसी अनुक्त संशय का प्रतिवाद करते हुए कहा, "क्यों, अभी तो बहुत है—"

"नहीं, नहीं, शेखर, यह बताओ कि कम है।" मौसी के स्वर में एक मर्मभेदी तीखा-

पन था—"कम बताओ, शेखर, कम !" और मानों एकाएक करुणा के प्रवाह में वह खो गया, मौसी ने चुप होकर हाथ खींच लिया···

शेखर का आगे बढ़ा हुआ हाथ वैसे ही अधखुला रह गया जैसे वह मौसी का हाथ थामते समय था—वह एकटक कटी-सी आँखों से मौसी की आँखों की ओर देखता रह गया—आत्मा के उन अतल सरोवरों में किसी अमिताभ की ज्योति कौंधकर बुझ गई—मौसी ने संयत, प्रकृतस्थ होकर एक झूठी हँसी हँसते हुए कहा, "यों ही, सामुद्रिक भी कभी सच होता है···"

क्या जीवन इतना कठोर होता है, और क्या जीवन के लिये एक स्पष्ट उद्देश्य इतना अनिवार्य है ? शेखर तो नहीं जानता कि उसके जीवन का क्या उद्देश्य है .. वह उठकर चला गया।

शशि ने अपने जीवन के सत्रह वर्ष पूरे करके अठारहवें में प्रवेश किया था। घर में कभी इधर-उधर—मानों दीवारों से—और कभी समवेदना के लिये आई हुई स्त्रियों के मुँह से, इस बात की चर्चा शेखर सुन लेता था, "हाय-हाय, इसका ब्याह कौन करेगा ? हाय-हाय, इतनी बड़ी अनब्याही लड़की घर में !" पर विद्यावती कभी इसकी चर्चा नहीं करती थीं और शशि का इधर कभी ध्यान नहीं गया था—यद्यपि शेखर स्पष्ट देखता कि चार वर्ष पहले की शशि और अबकी इस प्रशान्त गम्भीर मूर्ति में भारी अन्तर है।

शेखर की छुट्टियाँ समाप्त हो चुकी थीं, समय आ गया था कि वह कालेज जाकर एम० ए० में भर्ती हो जाय। किन्तु जाने का उसका मन नहीं था। विद्यावती ने जब उससे पूछा, "शेखर, अब छुट्टियाँ कितनी और बाक़ी है ?" तब यह सोचकर कि दाखिले के दिनों के बाद भी जाने पर वह तो ले ही लिया जायगा ; उसने कह दिया था, "अभी काफ़ी हैं।" किन्तु शशि के फिर वही प्रश्न पूछने पर उसने कहा था, "क्यों ?"

"आप आगे पढ़ेंगे नहीं ?"

"पढ़ूँगा तो। पर जाने की क्या जल्दी है ?"

"पढ़ाई तो करनी चाहिए न। यहाँ फिर आ जाइएगा—हम लोगों का क्या है ? और आजकल तो हम लोग आपको तनिक भी सुख नहीं दे सकते—"

"इतना शान्त तो मैं और कहीं नहीं रहता जितना यहाँ—"

"यह तो कहने की बात है—"

"नहीं, सच। और अबकी बार तो विशेष शान्ति मिली है आप लोगों का दुःख बटाकर—"

"क्यों ? "

"दुःख की छाया एक तरह की तपस्या ही है—उससे आत्मा शुद्ध होती है।"

"क्या आपको निश्चय है ?"

कुछ विस्मित-सा होकर शेखर ने कहा, "क्यों ?"

"दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नहीं।"

"तो···मैं समझा नहीं।"

"आप हमारे दुःख में आकर मिल गए, हमें उसमें सान्त्वना भी मिली, पर आपका कर्त्तव्य क्या वहीं तक था ? दुःख सब जगह है। आप उसे एक ही जगह समझकर उसकी छाया में रहना चाहते हैं, और आपका जो काम है उसमें अनिच्छा दिखा रहे हैं। आप कालेज जाइए—"

शेखर अचम्भे में आ गया। शशि ने इतनी लम्बी बात उसे कभी नहीं कही थी—और बात लम्बी ही नहीं, गहरी भी थी... उसने धीरे-धीरे कहा, "आप ठीक कहती हैं—मैं···"

"और देखो, खबरदार जो अब कभी मुझे 'आप' कहा तो ! मेरा नाम शशि है, और तुम्हारा शेखर।"

शायद अपने ही साहस पर कुछ झेंपकर शशि एकदम लौटकर चली गई ; शेखर देखता रह गया।

* * *

अबकी बार पढ़ाई के नाम से शेखर को अधिक कुछ नहीं करना था, क्योंकि साहित्य विषय लेकर एम० ए० करने में तो इधर-उधर की सब पढ़ाई भी पाठ्यक्रम में ही आ जाती थी––दो-चार विशेष ग्रन्थ––लक्षण-ग्रन्थ, भाषा-शास्त्र आदि पीछे भी पढ़े जा सकते थे···

शेखर ने अपने को साधारण विद्यार्थी-जीवन से कुछ खींचकर पिछले कुछ महीनों के अनुभवों का पचाना आरम्भ किया—एक छोटे-से होस्टल का संरक्षक बन जाने से उसे यह अलगाव प्राप्त करने में सुविधा भी हुई। इसके कुछ ही दिन बाद जब राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के लिए स्वयंसेवकों की माँग हुई, तब उसने भी अपना नाम पहले ही दल में लिखा लिया और नियमपूर्वक ड्रिल की शिक्षा लेने लगा। उसमें कोई विशेष राजनैतिक जाग्रति हो, ऐसा नहीं था ; किन्तु ड्रिल के नियमाचरण से उसे कुछ शान्ति मिलती थी। वह यह भी सोचता था कि शायद इस प्रकार बाह्य नियम से उसके भीतर भी कहीं नियम की व्यवस्था हो जाय।

अपनी ट्रेनिंग पूरी करने के बाद उसे बाद में भरती होनेवाले जत्थों को ट्रेनिंग देने का काम मिला। वास्तव में यह और भी अच्छी ट्रेनिंग थी, क्योंकि इसमें शरीर के साथ मन को भी चौकन्ने रहकर देखना होता था कि किसमें क्या त्रुटि है, और उसे कैसे पूरा करना होगा···

कांग्रेस का अधिवेशन समीप आते देर न लगी। एक दिन शेखर भी बिस्तर गोल कर,

उसे वर्दी-वेष्टित कंधों पर लादकर लारी में पटक, स्वयंसेवकों के पहले दल के साथ कैम्प में जा पहुँचा।

ट्रेनिंग प्रायः पूर्ण हो चुकी थी, केवल देर से आए हुए कुछ-एक व्यक्तियों को जल्दी-जल्दी चार-चार बार परेड कराकर तय्यार करने की कोशिश की जा रही थी; किन्तु स्वयं-सेवी सेना का संगठन अभी तय्यार नहीं हुआ था। सेनापति थे और स्वयंसेवी थे। किन्तु उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए छोटे-बड़े अफ़सरों का जो जाल रहता है वह नहीं था। उसकी ओर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, क्योंकि "चार दिन की बात है, सबको मिलकर किसी तरह काम चलाना है।" किन्तु "मिलकर काम चलाने" में यह तो स्पष्ट होता नहीं कि कौन आज्ञा दे और कौन उसे पाले, अतः एक दिन पांच मुख्य अफ़सर—दलपति—चुने गए और अगले दिन परेड में बाकी अफ़सरों का 'चुनाव' हुआ। शेखर के पास अपनी योग्यता या अयोग्यता के अतिरिक्त कोई सिफ़ारिश नहीं थी, फिर भी उसे एक मातहत अफ़सर—'सरदार'—बना दिया गया, और काम यह मिला कि कैम्प का प्रबन्ध वह सँभाले।

कैम्प में चौदह सौ स्वयंसेवक थे। उनकी देख-रेख को विशेष आवश्यकता न होनी चाहिए थी, किन्तु स्वयंसेवकों में कम-से-कम तीन सौ कालेज के छात्र थे जिनका विचार था कि जब वे स्वयंसेवक बन ही गए, और वर्दी के लिए भी आधी कीमत दे चुके, तब कोई कारण नहीं कि उनसे काम की भी आशा की जाय और कांग्रेस का तमाशा न देखने दिया जाय। सप्ताह में तीन बार उन्हें शहर में अपने घर जाने की भी आवश्यकता थी—वे इस जंगल में ठिठुरकर मरने नहीं आये थे। काम दिन में होता है, रात को वे चाहे कहीं सोएँ—किसी को क्या? और फिर, स्वयंसेवा का भारी बोझ उठाकर उन्हें मनोरंजन की भी ज़रूरत है, कांग्रेस नगर में सिनेमा तो है नहीं, शहर जाना होगा; कैम्प में ताश या चौसर ही तो खेली जा सकती है, कभी जरा दिलचस्पी लाने के लिए दो-चार पैसे का दाव हो सकता है।

फिर कुछ बेचारे ऐसे भी थे जिन्हें यह भी पता नहीं था कि निवृत्ति के लिये कहां जाना होगा, भोजन के लिये कहाँ कैसे क्या करना होगा, कम्बल न होने पर किससे मांग करनी होगी; और जो इन सब बातों के लिये पूछताछ या 'शिकायत' करना बुरी बात समझते थे, 'भई, कांगरेस का काम है, थोड़ी तकलीफ से भी कर लिया तो क्या...'

और कुछ ऐसे थे, जो वर्दी पहनकर अपने को उन सब कर्मों का अधिकारी समझते थे जो उन्होंने गोरे सैनिकों या पुलिसवालों को करते देखा था और देखकर घृणा और विवश क्रोध से भर गए थे—राह चलतों को धमकाना, किसी गरीब पर शक हो जाने पर उसे गाली देना और सताना, आदि···उनकी समझ में उनका यह अधिकार सीमित करना मानों 'सेना' को पंगु बनाना था, क्योंकि वह है किसलिए यदि हाथ जोड़ना और खुशामद करना ही यहाँ आवश्यक है तो···

फिर कांग्रेस में आये हुए कुछ प्रतिनिधि (और दर्शक) ऐसे थे जिन्होंने खेमे का

किराया देकर संग में सारा स्वयंसेवक दल भी नौकर रख लिया था—समय-असमय पर उनकी माँग आती थी कि पेट में दर्द है, सेंक देने के लिये स्वयंसेवक चाहिए ; ज्वर है, रात में पास रहने के लिये दो स्वयंसेवक चाहिए ; हाजमा दुरुस्त नहीं है, वालंटियर भेजें कि कमोड साफ कर दिया करे···इस प्रकार की माँगें उचित भी हों तो भी डाक्टर के पास जानी चाहिए थीं जो रोगियों के लिये उचित व्यवस्था करने का उत्तरदायी था ; पर ऐसा उत्तर देने पर सदा स्वयंसेवक--या शेखर—को याद दिलाया जाता था कि स्वयंसेवक का धर्म है किसी काम को क्षुद्र न समझे—"तुम्हें मालूम है, अफ्रिका में माहात्मा गान्धी स्वयं मैला ढोते थे। तुम उनसे बड़े तो नहीं हो—"

और कुछ वालंटियर अफ़सर भी ऐसे थे जिनकी पात्रता का आधार उनकी योग्यता नहीं, उनके सम्बन्धियों का प्रभाव था ; ऐसे लोगों को दूसरे कामों की कमी नहीं थी कि कैम्प में आकर बेवकूफ़ों से माथापची करें। जिन महाशय का काम स्वयंसेवकों को काम पर नियुक्त करना था, वे दिन में तो दो बार नियुक्तियाँ कर जाते थे, पर शाम के भोजन के बाद पौष की कड़ाके की सर्दी में अपने स्थान से कैम्प तक आना उन्हें नागवार था, अतः प्रायः ही शाम की ड्यूटीवाला स्वयंसेवक अपने स्थान पर दूसरा आदमी आता न पाकर आधी-आधी रात तक खड़ा रह जाता था···ग्यारह बजे के बाद से शेखर के पास संदेशे आने लगते, "अमुक सेवक पाँच घण्टे से ड्यूटी पर है, कोई उसे मुक्त करने नहीं गया," "अमुक को छः घण्टे हो गए, वह बारिश में भींग भी गया है," "मैं आठ घण्टे से खड़ा हूँ, अब अपनी जगह एक आदमी को खड़ा करके आया हूँ ; दूसरा स्वयंसेवक दीजिए तो उसे वहाँ पहुँचा आऊँ"

शेखर को काफी काम था। प्रातःकाल छः बजे वह खेमे के दफ्तर में आकर स्टूल पर बैठ जाता, दो बजे दिन और दस बजे रात उसका पठान 'अर्दली' किसी तरह लड़-झगड़कर उसका खाना ले आता, वही एक बार चाय भी पिला देता, रात के बारह बजे शेखर खेमे से निकलता, और शिकायतों से ऊबकर सोचता कि सोने से पहले एक चक्कर लगाकर देख आऊँ, कौन कबसे कहाँ है, ताकि फिर निश्चिंत हो सो सकूँ···एक समस्या उसकी और थी—नियुक्तियाँ तो वही अफ़सर कर सकते थे जो नियुक्ति के ज़िम्मेवार थे, शेखर तो अनधिकारी था, अतः जब उसे स्वेच्छा से आनेवाले स्वयंसेवक न मिलते तब वह अपने अधीन के स्वयं-सेवकों को ही भेजता जो कैम्प की सँभाल के लिए ही उसे मिले हुए थे···

दो बजे रात वह थका-चुका अपनी छोलदारी तक पहुँचता, और बिना वर्दी ढीली किए या बूट तक भी खोले पुआल पर अपने बिस्तर पर पड़ जाता···बूट न खोलना ठीक भी था, क्योंकि ग्यारह आदमियों से भरी उस छोलदारी में इतना ही स्थान था कि वह अपने पैर बाहर निकाल-कर पड़ सके—उसके भारी बूट और मोटी पट्टियाँ ही तब उसकी प्राणरक्षा करती थीं···

अनुशासन—अनुशासन--अनुशासन—अनुशासन के लिये दिन-रात घिसते हुए शेखर ने एक दिन उसके विरुद्ध घोर अपराध किया।

कालेज के विद्यार्थियोंवाले तम्बुओं में तीन-चार बार जुआ खेलती हुई टोलियाँ पाई गई थीं। पहली बार शेखर ने केवल पाँसे ज़ब्त कर लिए थे और चेतावनी दे दी थी कि यह काम अशोभन है, दुबारा नहीं होना चाहिए। दूसरी बार उसने ताश और लगे हुए पैसे ज़ब्त करने के अतिरिक्त एक परेड भी कराई थी। तीसरी बार उसने तीन व्यक्तियों को दिन-भर के लिए कैम्प से बाहर निकाल दिया था, और सारे कैम्प में नोटिस फिरवा दिया था कि जुआ खेलनेवाले को स्वयंसेवक दल से निकाल दिया जायगा।

जो लोग परिश्रम करते थे, अपनी ड्यूटी बजा लाते थे, उनको इतनी फ़ुरसत नहीं होती थी कि जुआ खेलें, और फिर नियुक्त करनेवाले अफ़सर की कृपा से वे चूर भी ऐसे होते थे कि फ़ुरसत होने पर भी चित पड़े रहने के अतिरिक्त कुछ न करते। किन्तु कालेज के विद्यार्थी काम तो कुछ करते नहीं थे, और यदि नियुक्त अफ़सर के चंगुल में फँसकर (वह भी उनकी स्वच्छन्दता में विघ्न नहीं डालता था, क्योंकि सबसे अधिक हल्ला करनेवाले दल को अप्रसन्न करके वह अपनी निर्बाध स्वच्छन्दता कैसे बनाए रखता?) कभी कोई ड्यूटी पर भेज ही दिया जाता तो वह प्रायः अपना स्थान छोड़कर चल देता—"अरे यार, क्या मनहूस काम है—सड़क पर पहरा दो। भला सड़क भी कोई लेकर भाग जायगा।" इसी श्रेणी के पास फ़ुरसत बहुत थी, और इसीलिए तीनों बार शिक्षा विफल हुई।

चौथी बार जब फिर एक टोली जुआ खेलती पकड़ी गई, और उसमें दो व्यक्ति ऐसे निकले जो पहली तीनों घटनाओं में भागी थे, तब शेखर ने आवश्यक समझा कि कोई अधिक गम्भीर कार्रवाई करनी चाहिए।

सम्मिलनी का बिगुल बजा, कैम्प में जितने स्वयंसेवक उपस्थित थे सब बीच में परेड के लिए छोड़ी गई जगह में कतारें बाँधकर खड़े हो गए। उनके चेहरे से दीख रहा था कि दोपहर के समय अकस्मात् बिगुल की पुकार से वे चौंक गए हैं कि जाने क्या संकट कैम्प पर आया है···

कतारों को "आराम" मुद्रा में खड़े होने का आदेश देकर ध्वजदण्ड के नीचे खड़े शेखर ने कहा, "स्वयंसेवको, आज आपको एक आवश्यक सूचना देने के लिए बुलाया गया है। कैम्प के कलंक की बात है कि यहाँ चार बार जुआ खेलनेवाले दल पकड़े गए हैं। पहली बार—" और शेखर ने क्रमशः चारों बार के अपराधियों के नाम और पिछली तीन बार की दण्ड-व्यवस्था की बात सुना दी। "चौथी बार के तीन व्यक्ति नये हैं, उन्हें वही दण्ड दिया जायगा जो पिछली बार दिया गया है, लेकिन दो व्यक्ति ऐसे हैं जो आज चौथी बार जुआ खेलते पाए गए हैं। स्पष्ट है कि वह दण्ड इनके लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि किसी भी दण्ड की बात ही व्यर्थ दीखती है।"

क्षण-भर के लिए वह रुक गया। एक बार उसने चारों ओर देखा, उसका रुकना प्रभाव डाल गया था।

"इनके लिए यही उपाय है कि हम लोग खेदपूर्वक स्वीकार कर लें कि वे स्वयंसेवक की वर्दी के योग्य नहीं हैं।"

क्षण-भर और रुककर, "—और—,तीन कदम आगे—मार्च !"

दोनों आगे निकल आए। शेखर ने अपने 'अर्दली' से कहा, "इन दोनों का सामान ले आओ।"

अर्दली ने सामान लाकर रख दिया – एक-एक बिस्तर, एक-एक छोटा बैग।

"तुम दोनों वर्दी उतार दो। अपने कपड़े पहन लो।"

दोनों ने एक बार अवज्ञा-भरी दृष्टि से शेखर की ओर देखा; पर सारी परेड में जो निःस्तब्धता छाई थी उसने उन्हें बाँध रखा था। उन्होंने चुपचाप कपड़े बदल लिए।

"सामान उठाओ—दाहिने रुख—मार्च ! खान्, इनको कैम्प के बाहर पहुँचा आओ।"

तीन जोड़ी कदमों की थप्-थप्-थप् स्पष्ट सुन पड़ रही थी···शेखर उधर कान लगाए सुन रहा था और बाकी स्वयंसेवकों को देख रहा था और सोच रहा था, यदि ये कहा मानने से इनकार कर देते, तो मैं क्या करता ?

एकाएक परेड में से तीन आदमी आगे बढ़ आए। तीनों कालेज के छात्र थे—शेखर ने उन्हें कहीं देखा हुआ था। वे भी उसे पहचानते थे।

"क्या है ?"

"आपको कोई हक नहीं है वर्दी उतरवाने का। हम इसका विरोध करते हैं। आपने कालेज के छात्रों का अपमान किया है—हम हड़ताल करेंगे।"

वह अनिश्चय दिखाने का मौका नहीं था। शेखर ने कहा, "स्वयंसेवको, आपमें से जो जुआ बन्द कराना अपमान समझते हों, तीन कदम आगे बढ़ आएँ।"

तीन-एक व्यक्ति और आगे आए। मानों अपनी सफाई में उन्होंने कहा, "हम आपके रवैये का विरोध करते हैं।"

"ठीक है। आप लोग अनुशासन का विरोध करना चाहते हैं। आप कर सकते हैं। आप छहों आदमी वर्दी उतार दीजिए। अर्दली, इन सबको वर्दी माल में जमा करा दो।"

उनके थोड़े-से विकल्प में शेखर ने समझ लिया, अनुशासन विजयी होगा। वह बोला, "जो लो अनुशासन मानते हैं, वे अब भी अपने स्थान पर चले जाएँ।"

चार आदमी हट गए।

"और आप लोग—आप अब भी अनुशासन तोड़ना चाहते हैं ?"

"हम सेनापति के पास अपील करना चाहते हैं। हम—"

"अपील दण्ड के बाद में होती है। लेकिन आप कर सकते हैं। अपने स्थान पर जाइए।"

परेड बरखास्त कर दी गई। शेखर चुपचाप अपने दफ़्तर की ओर जाता हुआ सोचने लगा, बात बढ़ाना तो वह नहीं चाहता था, लेकिन और चारा क्या था ? और कोई अनुचित बात तो उसने नहीं की—

वह दफ्तर में बैठा ही था कि बुलावा आया—सेनापतिजी बुलाते हैं।

शेखर ने जाकर सावधान मुद्रा करते हुए एड़ चटकाई और सलाम किया। सेनापति अपने खेमे में गद्दे के सहारे बैठे थे। पास ही दो-एक और उच्च कार्यकर्ता बैठे थे।

"आइए, आइए, बैठिए—क्या बात है?"

शेखर ज्यों का त्यों खड़ा रहा।

"इन दोनों को कुछ शिकायत है।"

"जी हाँ।"

"मामला क्या है?"

शेखर ने संक्षेप में चारों बार की जुए की बात और उस दिन की कार्रवाई बताकर कहा, "इन लोगों को मेरे फ़ैसले पर आपत्ति है।"

सेनापति ने वादियों की ओर उन्मुख होकर कहा, "क्यों भाई, जुआ खेलना तो बुरी बात है न, फिर खेलनेवालों को सज़ा तो मिलनी चाहिए--"

"उसकी बात हम नहीं कहते। लेकिन कालेज के दो छात्रों की सरेआम बेइज़्ज़ती करना तो बहुत बुरी बात है। वालंटियरों में बहुत-से अनपढ़ देहाती हैं, वे क्या समझेंगे? ऐसे अपमान कराने के लिए हम लोग नहीं आए हैं। यदि आप दखल नहीं देंगे तो हम सब···"

अब सेनापति शेखर की ओर उन्मुख होकर बोले, "देखो भई, दस-पन्द्रह दिन की कुल बात है। किसी तरह मिल-मिलाकर बरतना है। किसी को नाराज करने का क्या फ़ायदा? गुज़ारा ही तो करना है—"

यह शेखर से नहीं सहा गया। रोष से ओठ चबाकर बोला, "गुज़ारा? आप गुज़ारा करना चाहते हैं? तब यह सब वर्दियाँ क्यों, संगठन क्यों, ओहदे क्यों? आप क्यों सुनहरी बिल्ले-वाली वर्दी कसकर और तलवार लगाकर बैठे हैं? परेड क्यों होती है, बिगुल क्यों बजता है? पंचायत का ढंग इससे कहीं अच्छा रहता। मैं तो यह जानता हूँ कि अगर संगठन है तो अनुशासन है। मैं अपने फ़ैसले को ग़लत नहीं मानता, आप उसे रद्द करें, वह आपकी मर्ज़ी है।"

सेनापति इस आवेश के लिए तैयार नहीं थे। बोले, "आप बहुत गुस्से में मालूम होते हैं—"

"नहीं। मैं क्या कर रहा हूँ, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जानता हूँ कि जैसा अनुशासन मैं चाहता हूँ, वैसा होता, तो मेरे लिए वही व्यवस्था होती जो इन जुआरियों के लिए मैंने की है। लेकिन अगर वैसा होता, तो मेरे यहाँ पेश होने की ज़रूरत न होती। आप जैसा गुज़ारा करना चाहते हों, कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नहीं होगा। मुझे इजाज़त दें।—"

शेखर लौटकर जाने को ही था कि सेनापति के पास बैठे हुए एक शुद्ध खद्दर-धारी महाशय बोले, "और यह तो हमारे अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ़ है—"

शेखर ने घूमकर तीव्र स्वर में कहा, 'क्या?"

"दो आदमियों को ऐसे बेइज्ज़त करना और पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। हमारी वालंटियर सेना अहिंसक है।"

शेखर क्षण-भर निर्वाक् रह गया। फिर उसका मन हुआ कि एक बार ठठाकर हँस दे और चला जाय। फिर अपने को वश करता हुआ वह बोला, "आपके प्रश्न का उत्तर भी हिंसा ही होगा।" और बाहर चला आया। बाहर निकलते हुए उसने सन्तोषपूर्वक याद किया कि कुछ दिन पहले उसे लम्बे क़द के कारण अवसर दिया गया था कि वह सेनापति के अंग-रक्षक दल में आ जाय—उस दल के सदस्य को काम कुछ नहीं करना पड़ता सिवाय इसके कि दूसरे-तीसरे दिन जब सेनापति महोदय पूरी सज्जा के साथ कहीं निकलें तब उनके आगे-पीछे कंधे पर लुइसगन के नमूने पर बने हुए चरखे लेकर चला करें—तब उसने अवसर का लाभ उठाने से इनकार कर दिया था। यदि वैसा उसने न किया होता, तो आज क्या अपने को क्षमा कर सकता?···

परिणाम कुछ नहीं हुआ। निकाले गये व्यक्ति वापस नहीं बुलाए गए, यद्यपि उन्हें उनकी वर्दियाँ दे दी गईं क्योंकि उसकी कीमत उन्होंने दी थी। दो-चार बड़े अफ़सरों को छोड़कर, जो केवल अफ़सरी करते थे, हाज़िरी नहीं देते थे, बाकी सभी शेखर का फ़ैसला उलटने के विरुद्ध थे।

और जो विद्यार्थी-विद्रोह होनेवाला था, नहीं हुआ। खाहम-खाह झगड़ा करके बवाल पालना और घरले में मुफ्त तमाशा देखने का अवसर भी खोना—यह उनका मार्ग नहीं था।

*　　　*　　　*
* *　　* *　　* *

रात के नौ बजनेवाले थे। शाम ही को जो घना कुहरा छा गया था, वह अब मिटने लगा था क्योंकि वर्षा होनी आरम्भ हो गई थी। शेखर कन्धे पर ओवरकोट डाले कैम्प के द्वार पर खड़ा नौ बजे अपने-अपने काम पर जानेवालों को तय्यारी देख रहा था और सोच रहा था, अभी थोड़ी देर बाद शिकायतें आनी शुरू होंगी कि हमारी ड्यूटी बदलनेवाला कोई नहीं आया···न जाने नियुक्ति के अधिकारी क्यों नहीं उचित प्रबन्ध कर पाते?···

बाईं ओर जहाँ नगर को नाम देनेवाली स्वर्गस्थ नेता की प्रतिमा पड़ी थी, कुछ कोलाहल हुआ। शेखर ने कान देकर सुना, कोलाहल बढ़ रहा है और उधर ही आ रहा है। वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उस ओर चल पड़ा।

तीन-चार दिन पहले कैम्प में पुलिस ने छापा मारा था—कैम्प की तलाशी लेकर खाली हाथ लौट गई थी। तबसे कांग्रेस नगर का वातावरण कुछ तना-सा था—प्रत्येक असाधारण दीखनेवाले, काले कोटवाले, लम्बी मूँछवाले, तुर्रेदार पगड़ीवाले, पटेदार नालोंवाले, या बेत हाथ में लेनेवाले व्यक्ति पर खुफिया पुलिस के चर होने का सन्देह स्वयंसेवकों को रहता था। खुफिया के वहाँ होने में हानि कोई न थी, न कोई मनाही थी; किन्तु एक तो स्वयंसेवकों को

यह अनुचित हस्तक्षेप मालूम होता था, दूसरे मानव प्रकृति की स्वाभाविक वृत्ति है खुफिया ज़ाहिर बनाना ; अतएव प्रायः ऐसे व्यक्तियों से वालटियरों की नोक-झोंक हो जाती थी और कभी उन्हें कैम्प के दफ़्तर में भी ले आया जाता था।

उस समय भी एक ऐसे ही व्यक्ति को पकड़े हुए पाँच-सात स्वयंसेवक घसीटे ला रहे थे। वह गालियाँ देता जा रहा था, छुड़ाने की कोशिश भी करता जा रहा था, और घिसटता भी आ रहा था।

शेखर ने निकट पहुँचकर डपटकर कहा, "कौन है—छोड़ दो इसको ! क्या मामला है ?"

"सी॰ आई॰ डी॰ है, सी॰ आई॰ डी॰ !"

"चोर है, चोर ! भागा जा रहा था !"

"बच्चू, कांगरेस का राज कोई मखौल नहीं है !"

एकदम इतने सब उत्तरों की उपेक्षा करते हुए शेखर ने फिर कहा, "छोड़ दो !" स्वयं-सेवक छोड़कर अलग खड़े हो गए। "किसने पकड़ा था ? क्या बात थी ?"

"यह प्रतिमा के पास अकेले में घूम रहा था। मैंने पूछा कि वहाँ क्या काम है तो बोला कि अपना काम देखो। मैंने कहा कि प्रतिमा का पहरा ही मेरा काम है, और उसे कोई काम न हो तो वहाँ से चला जाय, तो बोला कि बहुत देखे हैं तुम जैसे पहरेदार। मैंने फिर जाने के लिये कहा, और नाम-पता पूछा तब इसने गाली दी। फिर हम इसे पकड़कर कैम्प में लाने लगे, हल्ले में और भी लोग आ गए, दो-एक ने इसे थप्पड़ भी मारे हैं।"

धूल झाड़ते हुए उस आदमी से शेखर ने पूछा, "ये ठीक कहते हैं ?"

"मैं सी॰ आई॰ डी॰ का इंस्पेक्टर हूँ। इन सालों ने मेरी बेइज्ज़ती की है और मेरे काम में हर्ज किया है। मैं एक-एक को मजा चखाऊँगा—"

"आपने पहले ही कह दिया होता कि मैं सी॰ आई॰ डी॰ का आदमी हूँ तो क्यों ज़िल्लत उठानी पड़ती। चोर-उचक्कों की देखभाल इनका काम है। आप खुद मानेंगे कि आप का रवैया तसल्ली देनेवाला नहीं था। खैर आप जाएँ ; आपको जो तकलीफ़ हुई उसके लिए हम माफ़ी माँगते हैं।" शेखर ने फिर स्वयंसेवकों को कहा, "तुम लोगों ने नाहक एक भले आदमी को बेइज्ज़त किया है। जिन्होंने इसे पीटा है उन्हें माफ़ी माँगनी चाहिए और कैम्प में भी दण्ड लेना चाहिए। और दो आदमी इन्हें नगर के बाहर तक सम्मान-पूर्वक पहुँचा आएँ।"

"मुझे किसी साले की ज़रूरत नहीं है"—कहकर वह एक ओर को बढ़ा।

"ये आपकी हिफ़ाजत के लिए हैं कि दुबारा ऐसी घटना न होने पावे।"

दो सेवक उसके पीछे हो लिए।

पहरे बदल चुके थे। शेखर ने सोचा कि लगे हाथ नगर का चक्कर भी लगा ले और देख ले कि कहाँ-कहाँ ड्यूटी बदली नहीं गई, ताकि कुछ प्रबन्ध हो सके।

यह जानकर उसे कुछ अचम्भा हुआ कि वर्षा के कारण कई लोग अपना पहरा चुकाकर बदलीवाले के आए बिना ही चले गए थे और कैम्प से बदलीवालों को खोज-खोजकर भिजवा रहे थे। अधिवेशन का केवल एक दिन और था—कैम्प के तीन दिन—इसलिये उसने इस सम्बन्ध में अधिक पूछताछ अनावश्यक समझी। और फिर जानेवालों को इतना तो ध्यान रहा ही था कि बदलीवाले को भेज दें। सेनापति की 'गुज़ारा करने'वाली बात याद करके वह मुस्करा दिया।

बारिश ज़ोर की होने लगी थी। शेखर ने अपनी गति बढ़ा दी।

प्रतिमा के पास पहुँचते-पहुँचते उसने सुना, कोई गा रहा है—

"किशन बंसीवाले आ जा—"

और फिर कुछ अटक-अटककर मानो नया प्रयोग कर रहा हो।

"मोहन बदलीवाले आ जा—"

उसके बूटों की चाप सुनकर गायक चुप हो गया। शेखर ने देखा, प्रतिमा का पहरेदार सतर्क दृष्टि से उसे देख रहा है।

शेखर ने पूछा, "नयी ड्यूटी लगी है?"

"जी नहीं।"

"कबसे हो?"

"तीन बजे से—"

"तीन? छः बजे भी नहीं बदली?"

"जी नहीं। छः बजेवाले ने मुझे कहा था कि उसे बाहर जाना है, मैं उसकी ड्यूटी दे दूँ। मैंने मान लिया था।"

"और नौ बजे?"

"उसका तो पता नहीं। कोई बदली के लिये लगा होता तो आ ही जाता—"

शेखर ने मुस्कराकर कहा, "उसी को टेर रहे थे क्या?"

कुछ झेंपकर, "यों ही थकान मिटा रहा था—"

"बहुत थक गए हो?"

"नहीं भीग गया हूँ, और बाँह में दर्द हो रहा है—"

एकाएक शेखर इस आदमी के प्रति कृतज्ञ हो आया जो दो आदमियों का काम करके तीसरे का शुरू करते समय गा रहा है—उसे जान पड़ा कि चौदह सौ आदमियों में एक ने उसके अनुशासनवाले आदर्श का समर्थन किया है—समर्थन ही नहीं पालन किया है। एक तो इसी से उसका जी एकाएक कुछ हल्का हो गया, दूसरे यह भी जानने की उसे इच्छा हुई कि वर्षा में तीन-चार घण्टे अकेले खड़े रहना कैसा लगता है...उसने निश्चय करते हुए कहा, "अच्छा अब तुम जाओ, तुम्हारी बदली मैं करूँगा।"

"आप?"

"हां,—मुझे भी तो देखना चाहिए, रात की ड्यूटी कैसी लगती है।"

"पर आपके पास छाता नहीं है—" कुछ अनिश्चित-से स्वर में अपना एक ओर से फटा छाता बढ़ाते हुए स्वयंसेवक ने कहा...

"यह ओवरकोट बहुत काफी है। जाओ, अब आराम करो तुम।"

स्वयंसेवक चला गया। शेखर चुपचाप नियमित गति से टहलने लगा...

रात लम्बी थी। शेखर का मन बहुत थोड़ी देर के लिए ही उस स्वयंसेवक पर टिका रह सका, फिर उधेड़बुन में पड़ गया।

उस सी० आई० डी० वाले को उन्होंने पीट दिया—बुरी बात हुई। पर उसने अपना नाम-पता नहीं बताया—तब बिना उसे पकड़े क्या होता? पहरे का मतलब क्या होता? अभी कोई अजनबी यहां आ जाए, तो क्या मैं पूछूँगा नहीं, वह कौन है?... हो सकता है, वह आया ही इसलिए हो कि झगड़ा हो जाय—यह तो इनका काम ही होता है। मार-पीट हो गई--यह तो उसकी सफलता हुई। पर मार-पीट से बचते कैसे यदि प्रतिमा से छेड़-छाड़ करने लगता तो...कहां तक सहा जा सकता? क्या बात खत्म हो गई है, या अभी और कुछ गुल खिलेगा? देखा जायगा...

यह स्वयंसेवक तो तीन बजे से पहरे पर था—यह भी उसे पकड़ने में रहा होगा? तब यह क्यों नहीं गया? शायद प्रतिमा के पास खड़ा रहना ज़रूरी समझा हो—खड़ा तो ऐसे था मानों वही एक उद्देश्य रह गया हो जीने का.. काम तो ऐसे ही होता है...क्या मैं भी किसी काम के लिए ऐसी लगन दिखा सकूँ? अपने मन का काम होता है तब तो जोंक की तरह चिपट जाता हूँ, पर ऐसा काम जिससे कोई वास्ता नहीं—सिर्फ काम ही काम हो?... क्या मैं अपने आपको अलग करके काम में लग सकता?

यही तो शशि ने कहा था, मैं अपने उलझनों में पड़ा रहता हूँ, आसपास दुनिया में जो मेरा कर्तव्य है वह नहीं करता...'दुःख उसकी आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नहीं।' यही तो उसने कहा था...और 'दुःख सब जगह है'—मैं उसे एक जगह—समझ रहा हूँ—अपना ही दुःख लिए फिरता हूँ...और शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं है, दूसरों के लिए दुःखी होने में है...

मैंने जो उसकी बदली कर दी क्या उसी के लिए? मेरा भी तो मन था कुछ ऊटपटांग काम करने का—अपने सन्तोष के लिए तो मैंने उसे छुट्टी दे दी...पर इस सन्तोष से बचकर कोई कहां जाय? यह तो सब जगह है। अपने को नष्ट कर देने में भी तो सन्तोष होता है—तब क्या सन्तोष के लिए ही कोई अपने को नष्ट कर देता है?...

असल में मुझे चाहिए था, पहले उस नालायक नियुक्ति अफ़सर को बुलाकर यहां लाता, फिर दो-चार सुनाता और कहता कि इस गरीब की जगह ड्यूटी तुम दो, जरा इस पौष की वर्षा में चलो-फिरो, तोंद हल्की होगी.. अन्याय को सह लेना उसे बढ़ावा देना है—अनुचित परिस्थिति में अपने को कष्ट देना कोई त्याग है?

दूर पर आधी रात के घण्टे खड़के । उस वर्षा में मानों घण्टे की आवाज़ भी भीगकर ठिठुर गई थी—ऐसी शिथिल-सी भी वह···शेखर ने अनुभव किया कि—उसका ओवरकोट पहले से चौगुना भारी हो गया है, और जो अब तक रक्षक था वही अब शत्रु हो गया—ओवरकोट के कारण वर्दी भी भीग गई है और पानी की बहुत छोटी-छोटी धारें उसकी पीठ गुदगुदा रही हैं। टाँगों में पट्टियाँ भी भीग गई हैं—पानी बूटों में भर रहा है । बूटों के तले वाटरप्रूफ हैं, बाहर का पानी भीतर नहीं घुसने देंगे—और भीतर का बाहर नहीं निकलने देंगे···शेखर एक बार काँपा और फिर जल्दी-जल्दी चलने लगा···

ठण्ड बढ़ती ही जाती थी···बदलीवाला अभी तक क्यों नहीं आया ? क्या यह पहरा भी ऐसे ही जायगा ? ठेहुनी और घुटनों तक उसका शरीर सुन्न हो गया था । अब उसे बिल्कुल अनुभव नहीं होता था कि बूटों में पानी है या नहीं, पैर भी है या नहीं···मानों बैसाखियों के सहारे ही उसका सिर और कन्धे टिके हों ··उसने सोचा, अगर मैं भी जमकर खड़ा हो जाऊँ तो इस प्रतिमा की तरह खड़ा ही रह जाऊँगा ।

एक···घण्टे का स्वर इतना मन्द था कि अगर शेखर के कान नीरवता को भी सुन लेने के लिए चौकन्ने न होते तो वह सुन भी न पड़ता ।···

नियुक्ति अफसर···अनुशासन के नाम पर सब चिढ़ गए थे—हिंसा है । यदि यह हिंसा है, तो कर्तव्य की—जीवन को ही—भित्ति हिंसा पर कायम है । मैं कहूँ, नियुक्ति अफ़सर को निकालकर रात-भर इस वर्षा में खड़ा रखना चाहिए, तो वह हिंसा है, पर वह बिना कहे, बिना सुने अनेकों को रात-भर यहाँ भीगने और गलने दे तो वह हिंसा नहीं है···किसी से ऐसा कह दूँगा, तो वह कहेगा, तुम्हें किसी से क्या, तुम निष्काम कर्म करते चलो । उसकी भूल को तुम सह लो । त्याग इसी में है । त्याग पुण्य है । त्याग धर्म है । त्याग—त्याग—त्याग ! हम नहीं कहते त्याग बुरा है, पर तुम त्याग माँगनेवाले हो कौन ? अगर हमें कह सकते हो कि त्याग करें, निष्काम कर्तव्य करें, तो क्यों नहीं उसे कह सकते कि निष्काम या सकाम किसी तरह तो कर्तव्य करे···

दो···अबकी बार शेखर को क्रोध नहीं आया, एक नीरस मुस्कान भर उसके मुख पर दौड़ गई···

त्याग···त्याग मापने के लिए हर एक का अपना-अपना गज़ होता है—और वह गज़ होता है उस व्यक्ति का अपना त्याग या त्याग करने की क्षमता···जो खुद कभी त्याग नहीं करता, वही हर जगह, हर समय त्याग की प्रशंसा करता है—'अमुक ने इतना बड़ा त्याग किया', 'अमुक ने उतना भारी आत्म-बलिदान कर दिया'···उसका गज़ इतना छोटा होता है कि सैकड़े से कम की कोई वस्तु ही उसे नहीं दीखती···और जो स्वयं त्याग करता है उसे जान ही नहीं पड़ता कि त्याग है क्या चीज़ ? अपने को दे देना उसके लिए साधारण दैनिक-चर्या का एक अंग होता है, जो होता ही है, जिसे देखकर विस्मय, कौतूहल, श्लाघा, किसी से भी रोमांच नहीं होता, मुखर भावुकता नहीं फूटती···

लेकिन क्या बदली रात-भर होगी ही नहीं, और रात क्या कभी चुकेगी नहीं ?···

नियुक्ति अफ़सर···यदि उन्हें स्टेज पर खड़ा कर दिया जाय कि त्याग पर भाषण फटकारें तो शायद नियुक्ति के मामले से कहीं अधिक सफलता दिखायेंगे···वह तुन्दिल मनहूस लोग···क्या नालायक ही अफ़सर बना करेंगे, और ईमानदार लोग ही नौकर? ···यदि ऐसे ही नेता होंगे, तो और नेता पाकर हम क्या करेंगे ? रोज सुनने में आता है कि नेता नहीं हैं, नेता नहीं हैं···ऐसे नेताओं के बोझ से तो समाज कुचला ही जायगा, उठेगा कैसे···जो ऊपर से लादा जायगा, वह भार ही होगा, भारवाहक कैसे होगा ? भार उठाने की सामर्थ्य तो उसमें होगी, जो नीचे से उठेगा,—विघ्नों, बन्धनों, भारों, श्रृङ्खलाओं की उपेक्षा करता हुआ; चोटों से दृढ़ हुए पुट्ठे और संघर्ष से दृढ़ हुआ हृदय लेकर अभिमान-भरा और मुक्त···हम मुक्ति के लिए लड़ रहे हैं, पर हमारे सभी नेता—हमें आगे खींचने-वाले, हमारे भारवाहक—ऊपर बादलों से बरसे हुए तुषार की तरह; एक भी तो पददलित मिट्टी से नहीं उठा है, नहीं फूटा है कठोर धरती को तोड़कर नए अंकुर की तरह···

मुक्ति, स्वराज, स्वतन्त्रता—कितने सुन्दर शब्द ! किन्तु कहाँ है इनके पनपने के लिए खण्डित और खाद-युक्त मिट्टी,—जनता; कहाँ है वह मिट्टी में ही रासायनिक क्रियाओं से बनी हुई खाद—जनता का अपना जननायक; और कहाँ है—

तीन···

नहीं, बदली की बात सोचने का कोई फ़ायदा नहीं है—अब क्या होगा ? जैसे तीन, वैसे छः, छः बजे कोई आएगा ही या वह किसी को बुलाएगा—छः बजे उत्थान का बिगुल होगा और उसे हाज़िरी लेनी होगी···

हाँ, नेतागण जनता को कोसते हैं, किन्तु क्या यह जनता का दोष है कि वे नेता उसमें से उत्पन्न नहीं हुए हैं ?

स्वाधीनता तो प्रकृत अधिकार है—उसके चाहनेवाले आप उत्पन्न होने चाहिए—वे तो जंगली वनस्पति की तरह फूटने चाहिए। क्यों मिट्टी और क्यों खाद और क्यों परवरिश ? तब क्या यह ठीक है कि जनता ही अपराधिनी है, देश की मिट्टी ही खराब है, और हम स्वाधीनता के आयोग्य हैं ?

पर हमारा वन-प्रदेश काट दिया गया है, हमारे स्वाभाविक सोते और जलागम सूख गए हैं, हमारी मिट्टी बंजर हो गई है। जंगल हो या उद्यान, हमें उसे फिर से खड़ा करना है, इसीलिए यह आवश्यक है···और ये हमारे नेता—ये नहीं हैं आवश्यक—मरुभूमि के इन कँटीले झंखाड़ों में नहीं है जीवन-रस, और नहीं है जीवन-रस को बाँधकर, या स्वयं गलकर, भूमि को हरा करने की क्षमता···

शेखर चौंका--पैरों की चाप···क्या बदली आखिर होगी ? अब तो उसकी आवश्यकता नहीं थी, वर्षा थम चली थी और सर्दी भी अब जितनी लग सकती थी, लग चुकी थी···

लेकिन यह तो कई-एक पैरों की चाप है--एकाएक चार-पाँच टार्च-बत्तियों के प्रकाश

ते शेखर चौंधिया गया--किसी ने कहा, "यहीं का वाक़या है--यह आदमी उन वालंटियरों का अफ़सर है जिन्होंने मुझ पर हमला किया था।"--शेखर ने रातवाले सी० आई० डी० के आदमी का स्वर पहचाना और देखा कि कई-एक पुलिस के सिपाही उसके सामने हैं—उनके अफ़सर ने कहा, "गिरफ्तार कर लो, सवेरे कांग्रेस के दफ्तर को खबर देना' - दो सिपाही शेखर के अगल-बगल हो गए—शेखर ने पूछा, "मैं बन्दी हूँ क्या?"--उत्तर मिला, 'हाँ, थाने में चलना होगा।"

"ऐसी जल्दी है क्या? सवेरे गिरफ्तार कर लीजिएगा; अभी तो ठण्ड से मेरी टाँगें अकड़ी हैं, चला नहीं जाता।"

सिपाहियों ने उसकी बगल में हाथ डाल लिए--पिटे हुए सी० आई० डी० वाले ने कहा, 'देखा आपने रंग-ढंग?"--सिपाही उसे खींच ले चले—एकाएक अपने को अपमानित अनुभव करते हुए शेखर ने झटका देकर अपने को छुड़ा लिया और कहा, "चलिए जहाँ चलना है—इतना निकम्मा तो मैं नहीं हूँ कि सहारा चाहूँ।"

अफ़सर और मुखबिर ने फिर आँखें मिलाईं। टोली चल पड़ी—और चलते-चलते शेखर ने देखा कि आस-पास के वालंटियरों ने कुछ गोलमाल देखकर खबर कर दी है और लोग जुटने लगे हैं।

पुलिस की मोटर में बैठते हुए उसे फिर शशि के वे शब्द याद आए—'दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं, दूसरे के स्थान पर दुःखी होने में है...'

क्या वह पात्र है? क्या उसकी आत्मा का एक नया परिच्छेद खुलनेवाला है? क्या वह पूर्ण पुरुष है--विजेता--परिस्थिति का स्वामी?

द्वितीय खंड :

बन्धन और जिज्ञासा

बन्दी होने के ठीक इक्कीस दिन बाद शेखर पहले-पहल अदालत में पेश किया गया। उस दिन उसे मालूम हुआ कि पाँच और व्यक्तियों के साथ उस पर मार-पीट, हमला, हिंसा के लिये साज़िश, सरकारी अफ़सरों की हत्या का प्रयत्न, सरकारी अफ़सर के कार्य में अवरोध और मुकदमे से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री छिपाने के आरोप लगे हैं। उसी दिन उसे पुलिस की हवालात से जेल में भेज दिया गया।

शेखर को मालूम नहीं था कि पुलिस की हवालात में और जेल में क्या अन्तर है—इनके सम्बन्ध में कानून क्या है यह भी वह नहीं जानता था। उससे अगर पूछा जाता कि 'क्या तुम जेल जाना चाहते हो?' तो वह सहज सचाई के साथ कह देता, 'नहीं'। अब जब उसे जेल भेज दिया गया, तब वह सोचता हुआ जा रहा था, क्या मुकदमा खत्म हो गया? न गवाही, न सुनाई, न फ़ैसला— क्या मैं जेल ही में पड़ा रहूँगा? उसने दूसरे मुकदमों की बातें पढ़ी-सुनी थीं, यह कारवाई उसे विचित्र मालूम हुई···वह अपने साथियों से पूछना चाहता था, पर डर रहा था कि वे हँसें नहीं। उस समय वह अपने को बहुत छोटा, बहुत अकिंचन, बहुत बेवकूफ़ अनुभव कर रहा था···उसके साथी लारी में बैठे-बैठे हँस रहे थे और वह विस्मय से सोच रहा था, इन्हें तो कुछ सोच नहीं है···उनमें से दो पहले जेल हो आए थे, ऐसा शेखर ने उनकी बातों से जाना। तब क्या एक बार जेल हो आने से ही उनका साहस इतना हो गया है?···

"लेकिन सरदार, आप कैसे इसमें आ फँसे?"

शेखर को विस्मय हुआ कि वह कैसे अनायास अपने पकड़े जाने की बात कह गया है।

प्रश्नकर्ता ने हँसकर कहा...."देखा आपने उसकी सफ़ाई—'यह आदमी उन वालंटियरों का अफ़सर है जिन्होंने मुझ पर हमला किया था'—खूब? हमले से आपका सम्बन्ध कैसे जोड़ा गया है?" एकाएक उसका चेहरा गम्भीर हो गया। "आपको उन्होंने ऐसे नाटकीय ढंग से गिरफ्तार किया है—हम लोग तो अगले दिन प्रातःकाल पकड़े गये—और आपको अफ़सर भी बताते हैं, तब हम लोग सारी ज़िम्मेदारी भी आप ही पर डालेंगे। हाँ, आपने बदली किसकी की थी?"

शेखर ने बता दिया।

"उसी ने तो पकड़ा था उसको। हम लोग पीछे पहुँचे थे। जब लोग पकड़कर कैम्प लाने लगे तब उसने कहा कि वह तो ड्यूटी पर ही रहेगा; किसी साले सी० आई० डी० से उसे कोई मतलब नहीं है, हाँ, प्रतिमा से छेड़-छाड़ करेगा कोई तो देखी जाएगी।"

"हूँ।"

"आप सफ़ाई देंगे?"

शेखर ने चुपचाप उसकी ओर देख लिया—वह नहीं जानता था कि इसका क्या उत्तर है।

"आप पहली बार आए हैं न? ख़ैर। जेल में आप हर बात में हम लोगों का साथ माँगते रहिएगा। एक मुक़दमे के अभियुक्तों को इकट्ठे रहने का अधिकार है। सफ़ाई के लिए वकील आदि का कुछ प्रबन्ध होगा ही—फिर हम लोग इकट्ठे सलाह करेंगे कि क्या किया जाय।"

"अच्छा।"

"और खूब अकड़कर रहिएगा। अकड़ के बिना जेल में काम नहीं चलता; और फिर अभी आप कैदी नहीं हैं, केवल अभियुक्त हैं। आप पर शासन करने का अधिकार किसी को क्यों हो? है न?"

"ठीक।" शेखर मुस्करा दिया। उसे याद आया, कहीं उसने पढ़ा था, न्याय का सिद्धान्त है कि कोई व्यक्ति तब तक निर्दोष है जब तक कि वह दोषी सिद्ध नहीं हो जाता। और अकड़--वह तो उसकी आदत ही थी।

जब लारी जेल की ड्योढ़ी में जाकर खड़ी हुई, उतरते हुए शेखर ने देखा कि उसके आगे और पीछे लोहे का बड़ा फाटक है और एक हाथ में पड़ी हुई हथकड़ी के दूसरे छोर पर सिपाही, तब एकाएक उसे स्वाधीनता का अर्थ समझ में आ गया, और वह अपने को कोसने लगा कि क्यों अब तक—बीस वर्ष की आयु तक - वह उसके प्रति उदासीन रहा है, क्यों नहीं अबसे कहीं पहले स्वाधीनता उसके लिए भूख-प्यास और श्वास-गतिकी तरह एक अत्यन्त आवश्यक, जीवन-मरण की-सी महत्त्वपूर्ण वस्तु बनी...

जब शेखर ने अपने को एक कोठरी में बन्द पाया, जिसमें दाईं ओर खड्डी पर उसका बिस्तर पड़ा था, बाईं ओर एक चबूतरे पर चक्की जमी हुई थी, पिछले कोने में निसर्ग के लिए कोलतार से रंगा हुआ एक पतरा और मिट्टी की एक छोटी-सी टोंटी थी, ऊपर छत में प्रकाश के लिए एक जँगला-सा था सामने सीखचे थे, जिनके बीच से एक लोहे का फाटक, फाटक के एक छिद्र से और सीखचे दिखते थे, और सर्वत्र-सर्वत्र दुर्गन्ध थी—तब एकाएक अपनी भौगोलिक स्थिति का समाधान उसके लिए आवश्यक हो गया। मैं ठीक कहाँ पर हूँ, मेरे आसपास जेल का और पृथ्वी का प्रसार किस तरह है, यह जाने बिना जैसे वह साँस नहीं ले सकेगा···जेल नगर के किस ओर है, वह जानता था; जेल का फाटक उत्तर की ओर था, वहाँ से पहले इधर मुड़ा था, फिर उधर, फिर उधर, फिर...तो उसकी कोठरी का मुख पूर्व की ओर था, पर उससे आगे···

यह समस्या अगले दिन ही हल हो सकी। प्रातःकाल उसे टहलने के लिए निकाला गया, तब उसने देखा कि वह चालीस कोठरियों की एक कतार में बारहवीं कोठरी में है, उस कतार से आगे शायद चालीस ही कोठरियों की एक और कतार है, सामने की दीवार में

दो फाटक हैं···जो नम्बरदार उसे टहलाने लाया था उसने बताया था कि एक कारखाने में खुलता है, दूसरा गोरा बारक में ··शेखर ने मन-ही-मन जेल पर पृथ्वी के नक़्शे का आरोप किया, और तब अपनी स्थिति का खाका उसके आगे स्पष्ट हो गया—फाटक उत्तरी ध्रुव, दरोग़ा का दफ़्तर उत्तरी हिमवृत्त, कारखाना जापान, दूर उधर फाँसी की कोठरियाँ अरब ; और वह—वह कहाँ है ? वह साइबेरिया के हेमावृत्त मरुस्थल में···उसे कुछ शान्ति हुई—वह कहीं है तो—यहाँ तो यही डर है कि उसका अस्तित्व ही न खो जाय।

थोड़ी देर बाद अभिमान जागा। वह दूसरी तरफ़ दक्खिनवाली कतार में होता तो, भारत में होता। वह कतार अच्छी नहीं है ; नम्बरदार ने कहा था कि वहाँ बदमाश रखे जाते हैं ; पर होता तो वह भारत···उसे एकाएक अचम्भा हुआ कि अपने देश की मिट्टी का, उसके नाम का, नक़्शे में उसकी आकृति और स्थिति का मोह उसमें कबसे जाग गया है···पहले तो ऐसा नहीं था—सुन्दर प्रदेश थे, घर के लोग थे, पर भारत—भूगोल की पुस्तक के बाहर कहाँ था वह ? उसे याद आया, पिता कभी राजपूतों की, ऋषियों की, वीरता की गाथाएँ कहते-कहते एकाएक कह उठते थे, "इस आर्यों की भूमि से ऐसे ही रत्न उत्पन्न हुआ करते थे"···और शेखर को लगता था, उस समय अपने अभिमान के तीव्र आलोक में ही परख लेना चाहते हैं कि शेखर भी वैसा रत्न है या नहीं ; पर वह तो दूर किसी पुराने देश की बात थी—आर्यावर्त्त की, और उन वीर-गाथाओं का आर्यावर्त्त उसके मन में कभी उसके पैरों तले रौंदे जाते आज से भारत से एकरूप नहीं हुआ था···

'खूब अकड़कर रहिएगा'···अकड़ तो उसके भीतर खाहमखाह बढ़ती जा रही है··· उसने कोई अपराध नहीं किया है ; पर जो उन कोठरियों में हैं, जो 'भारत' में हैं और सज़ा भुगत रहे हैं, वह उन्हीं की तरफ़ होगा, वह अकड़ेगा और लड़ेगा···

उसका सैर का समय चुक गया।

पूरे तीन दिन बाद उसे यह माँग करने का मौक़ा मिला कि उसे 'साथियों' के साथ रखा जाय। दारोग़ा निरीक्षण के लिए आए थे। तिरस्कार के स्वर में बोले, "तो वे तुम्हारे साथी हैं, क्यों ?"

शेखर ने व्यङ्ग की उपेक्षा करते हुए कहा, "हमें एक ही मुकदमें का अभियुक्त बनाया गया है, हमें मिलने का अधिकार है।"

"अधिकार ! ऐ है ! यह जेल है जेल, बाबूसाहब ! यहाँ का अधिकार है चक्की पीसना, समझे ? वह देखो !" दरोग़ा ने कोठरी के भीतरवाले चबूतरे की ओर इशारा किया। "घबराओ मत ! सब देखोगे।" उसकी माँग का उत्तर दिये बिना वे चले गये।

किन्तु शाम को जब शेखर को कोठरी से निकाला गया, तब उसने देखा कि दस-बारह कोठरियों से आगे चलकर एक और कोठरी भी खुली है जिसमें से उसे अकड़ने का परामर्श देनेवाला विद्याभूषण निकला है, और दूसरी ओर से बाकी तीनों साथी लाए जा रहे हैं।

विद्याभूषण को देखकर वह इतना प्रसन्न होगा, इसको उसने कल्पना भी नहीं की थी। वह लपककर उससे गले मिला, और फिर एकाएक अपने उत्साह के लिए कुछ लज्जित-सा होकर कुछ अलग होकर खड़ा हो गया।

क्षण-भर के लिए दोनों एक दूसरे को सिर से पैर तक देखते रहे। विद्याभूषण क़द का मध्यम, बलिष्ठ शरीर का और गोरे रंग का कोई बीस वर्ष का युवक था। पीछे की ओर सँवारे हुए रूखे बाल, चौड़ा माथा, सीधी नाक, और पतले ओंठ, सीधी और पतली ठोड़ी—शकल से वह अध्ययनशील हठी दीखता था; आँखों में अवश्य उसके एक कोमल हास का चञ्चल प्रकाश था। शेखर ने निश्चय किया कि यह व्यक्ति उसके मन के अनुकूल है। उसने पूछा, "आप पहले भी जेल आये हैं न? कैसे?"

"हाँ; असहयोग के जमाने में आया था। तब मैं छोटा ही था। तब कड़ाई भी अब से ज़्यादा थी। वन्देमातरम् का नारा लगाने पर मुझे बेंत लगे थे। अब तो राजनैतिक कैदी को कम ही बेंत लगते हैं।"

शेखर ने एक बार फिर उसे सिर से पैर तक देखा। नहीं, इस गम्भीर युवक के आगे अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करने में लज्जा नहीं है। उसने कहा—"राजनैतिक कैदी अलग होते हैं? मैं कुछ जानता-वानता नहीं।"

विद्याभूषण मुस्कराया। "कोई बात नहीं—यहाँ बहुत जल्दी सब कुछ जान जाएँगे। अच्छा कालेज है, जेल। मुझे तो जब बेंत लगे थे तब टिकटी पर ही कई बातें समझ में आ गईं थी। चरित्र की डिग्री तो यहीं मिलती है। पर फेल बहुत होते हैं।" उसका चेहरा गम्भीर हो गया।

"हूँ।"

एकाएक कुछ याद करके विद्याभूषण बोला—"हाँ, हम लोगों को साथ नहीं रखा जायगा, पर दिन-भर हम मिल सकेंगे। यही फ़ैसला हुआ है। ऐसे भी ठीक है।"

"और मुकदमे का क्या होगा?"

"आज मेरे भाई मुझसे मिलने आए थे। एक वकील का प्रबन्ध हुआ है; वे कल हम सबसे मिलेंगे। तभी आगे के बारे में निश्चय होगा।"

शेखर एकाएक इस आकांक्षा से भर गया कि कोई—'कोई' नहीं, शशि!—उससे मिलने आए···भाई शायद आएँ—पर यदि शशि आती—आ सकती···

बाकी तीनों साथी भी आ गए थे। परिचय हुआ, शेखर ने उनके नाम जाने, उन्हें सिर से पैर तक जाँचा और तय किया कि वे विद्याभूषण के पाये के नहीं हैं; स्वयंसेवक वे भले ही अच्छे रहे हों, पर ऐसा उनमें अधिक नहीं है जो जेल में आकर निखर आए। और उसने यह बहुत सहल पाया कि बातें करता हुआ भी वह शशि के आने की सम्भावना पर सोचता जाय···जेल के जीवन के बारे में उसे अधिक चिन्ता नहीं थी—वहाँ के दैनिक जीवन की व्यवस्था उससे कोई विशेष बुरी नहीं थी जो उसने वयःसन्धि के दिनों

अपने को दण्ड देने के लिए अपने लिए तजवीज़ कर ली थी···दिन बीत ही जाएँगे—शरीर उसका काफ़ी कठोर था; हाँ, प्रारब्ध उसके वश में नहीं थे और वे अशान्त इतने थे कि···

*　　　　*　　　　*
* *　　　　* *　　　　* *

अभियोग की सुनाई आरम्भ हो गई। वकील ने शेखर को बताया कि उसे चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है, और तो कोई धारा उस पर लगती नहीं—केवल एक लग सकती है, सरकारी अफ़सर के काम में अवरोध डालने की; और वह भी शामवाली घटना के कारण नहीं, रात को गिरफ्तारी के समय की घटना से···पुलिसवाले कह सकते हैं कि वे उस समय सरकारी काम पर गए थे जब उसने रुकावट डाली और झगड़ा किया, आदि-आदि···किन्तु उस आश्वासन के बिना भी मुकदमें में शेखर की दिलचस्पी मिट-सी गई थी। जेल ने उसके सामने एक नई दुनिया ही मानों खोल दी थी और उसके अपने भीतर इतने नये प्रश्न जाग रहे थे कि अदालत में पूछे गए व्यर्थ के प्रश्नोत्तर की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता था··· उसे जान पड़ता था, वह जेल-संसार को मानों एक prism के बीच में से देख रहा है; प्रत्येक दृश्य के कई रंगों के कई रूप कई दिशाओं में उसे दीखते थे, और यह कहना असम्भव हो रहा था कि कौन सत्य है, कौन मिथ्या···उसके अब तक के बने हुए सब पैमाने निकम्मे हो गए थे, वह एक नयी और भीषण वास्तविकता को जान रहा था कि सभी कुछ सत्य है, सभी कुछ मिथ्या है; सभी कुछ अच्छा है और सभी कुछ बुरा है···अब भी वह देख रहा था कि ऐसी दशा में मार्ग का, कार्यक्रम का, निर्णय आदर्शवाद के सहारे ही हो सकता है, लेकिन उस आदर्शवाद के आधार पुराने आदर्शों पर नहीं टिकते थे—उसकी आत्मा के भीतर क्रान्ति की ज़रूरत थी···विद्याभूषण का साथ उसके लिए आवश्यक हो चला था। किन्तु दिन में तो विद्याभूषण मुकदमे को देखता था—शेखर ने अपना हित उसी के सिपुर्द कर दिया था—अतः शेखर प्रातःकाल उससे उलझता और दिन-भर उस उलझन पर विचार किया करता और उसके धागे सुलझाया करता···

आरम्भ उस दिन हुआ था जिस दिन विद्याभूषण के यह कहते समय, कि हमें देश के आत्माभिमान की रक्षा के लिए एक ऐसा संगठन बनाना चाहिए जो सरकारी अफ़सरों और शासकों का दिमाग़ दुरुस्त रखे, शेखर ने एकाएक पूछा था, "अच्छा, यह तो बताओ, तुमने उस सी० आई० डी० वाले को पीटा था भी कि मेरी तरह ही आए?"

"पीटा तो था। इतना उद्धत व्यवहार करके वह अछूता लौट जाता तो मैं आयु-भर अपने को क्षमा नहीं कर पाता।"

"क्यों?"

"राह चलते तुम्हें कोई माँ-बहन की गाली दे जाय, तो तुम क्या करोगे? तब वह क्या इसीलिए बच जाता कि कमीना होकर वह सरकार का गुमाश्ता भी है?"

"वह सरकार का एक अंग तो था—ऐसे सरकार कैसे चलेगी ? मान लो, अपनी सरकार होती, तब—"

"सरकार का अंग—तो सरकार के आतंक से हीन हम उसे पीटने से रह जाते ? अगर तुम हिंसा की बात कहते हो तो क्या डर के कारण अपने गौरव की रक्षा से चूकना हिंसा नहीं है ? आत्महिंसा सबसे बड़ी हिंसा है, क्योंकि वह राष्ट्रीय अभिमान की—राष्ट्र की—रीढ़ तोड़ डालती है।"

"तुम्हारे कहने का मतलब यह हुआ कि जब भी गुस्सा आए उसे व्यक्त ही करना चाहिए, दबाना नहीं ? ऐसे तो बड़ा अनाचार फैलेगा—"

"नहीं, मैं यह नहीं कहता। एक गुस्सा कमज़ोरी होता है, एक गुस्सा कर्तव्य होता है। अगर अपने राष्ट्र का अपमान होता है, तो उस पर रोष राष्ट्र के और समाज के प्रति कर्त्तव्य होता है—वह रोष हमें देश को देना ही है। नहीं तो हममें भीतर कहीं प्राणों की जगह कचरा भरा हुआ है।"

"अगर देश के अपमान पर रोष उचित है, तो प्रान्त के, सम्प्रदाय के, परिवार के और फिर स्वयं अपने अपमान पर भी उचित है। वही क्यों कमज़ोरी है ?"

"ठीक है। पर सवाल उस स्थूल वस्तु का नहीं है जो देश या प्रान्त या हम है। सवाल भावना का है। हमारे देश की मिट्टी अनुर्वर है, यह सीधी-सच्ची बात भी हो सकती है. पर 'हमारा राष्ट्र नपुंसक है' यह अपमान है। आदर्शों के लिए रोष उचित है।"

"तब धर्मान्धता उचित है ? धर्म आदर्श है न ?"

विद्याभूषण कुछ हिचकिचाया। "न—नहीं ! कहीं पर सीमा बांधनी ही होगी। पर धर्मात्मा और धर्मान्ध हम कहते हैं और उसका अलग-अलग अर्थ भी समझते हैं, जिसका अर्थ यही है कि धर्मान्धता में कुछ ऐसे तत्त्व आते हैं जो बुरे हैं। वे क्या हैं, यह खोजना होगा। जैसे धर्मान्ध रोष में सबसे पहली बात होती है व्यक्तिगत असहिष्णुता—मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि मेरा धर्म तुम्हारे धर्म से अच्छा है, क्योंकि मैं तुमसे अच्छा हूँ। यह स्पष्टतया अनुचित है और इस अभिमान की तो जड़ ही उखाड़नी चाहिए।"

"हूँ !" शेखर कुछ देर तक सोचता रहा। "तब हम कहां पर पहुंचे ?" अपने प्रश्न पर वह हँस भी पड़ा।

"जो रोष आदर्श के लिए है, वह धर्म है, यह तो तय है। रहा यह कि आदर्श क्या है, सो उसके बारे में साधारण नियम कठिन है, पर कहा जा सकता है कि जो भी भावना मानव और मानव के भेद को मिटाने की, उसकी सीमाओं और बन्धनों को अधिकाधिक प्रसारित करने की, चेष्टा करती है, वह आदर्श है।"

"तब जहां मानव और मानव का सवाल आए वहां राष्ट्रीयता भी विघ्न हो सकती है ?"

"अवश्य ! युरोप में ऐसा समय आ चला है कि राष्ट्रीयता पाप हो जाय—वहां राष्ट्रीय संगठन अब मानव की स्वाधीनता में विघ्न हो गया है।"

"हूँ।" शेखर की 'हूँ' विचारों से इतनी लदी हुई थी कि वह आगे जिज्ञासा करना भूल गया। पूर्ण आश्वस्त तो वह नहीं हुआ था, लेकिन विद्याभूषण ने उसकी बुद्धि को एक गहरा आघात अवश्य दिया था - इतने बड़े-बड़े प्रश्नों को सामने पाकर वह उनकी ललकार से मानों तिलमिला उठी थी।

अभिमान, या अहंकार एक सामाजिक कर्त्तव्य भी हो सकता है, शेखर के लिए यह एक नया दृष्टिकोण था। वैसे तो राजनैतिक मामलों में उसको कभी अधिक दिलचस्पी नहीं रही थी, और प्रायः राजनैतिक झगड़ों और हिस्सा-बांट की बातें अखबारों में पढ़कर वह राजनीति की क्षुद्रता पर दुखी ही हुआ करता था। पर 'राजनीति क्यों है?' यह प्रश्न राजनीति का नहीं, जीवन का था, और ऐसे प्रश्नों का आकर्षण वह कभी भी टाल नहीं सकता था। जब विद्याभूषण के निमित्त से उसकी बुद्धि इस प्रश्न से जा उलझी, तब उस नयी दृष्टि के धक्के से वह दो-तीन दिन अचम्भे में पड़ा रहा। वह जानता था कि विद्याभूषण की बातों से वह पूर्ण आश्वस्त नहीं हुआ, और यह भी वह जानता था कि दूसरे की सोची हुई बातों से कभी भी कोई आश्वस्त नहीं हो सकता, वे अपने ही अन्तरात्मा से निकलें तभी सच होती हैं; दूसरा अधिक से अधिक यह कर सकता है कि अन्तरात्मा की उर्वर भूमि की थोड़ी-सी निराई कर दे...

तीन-चार दिन तक वह इसी एक बात को लेकर अपने से युद्ध करता रहा। क्या अहंकार एक सामाजिक कर्त्तव्य है? तीन दिन के बाद उसके भीतर जागा हुआ बृहदाकार दानव जिज्ञासु मानों एक प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़कर नए युद्ध के लिए तय्यार हुआ, तब उसके 'युद्धं-देहि!' के उत्तर में कई नए भीमाकार प्रश्न आ खड़े हुए—शासन क्यों है? क्या वह स्वाधीनता में बाधक नहीं है! क्या उसके बिना हम रह सकते हैं! क्या उसे हम नष्ट भी कर सकते हैं? कैसे कर सकते हैं?

अगर मुक्ति की ओर बढ़ना ठीक है – और ठीक वह नहीं कैसे हो सकता है? तब शासन-सत्ता का होना बुरा है – है नहीं तो हो सकता है। कब! और उस समय क्या आदर्श है हमारा जिसके लिए रोष करना, युद्ध करना, अहंकार करना, धर्म हो जाता है?

और रोष – युद्ध - हिंसा --क्या हिंसा करना उचित है? यदि विद्याभूषण का तर्क ठीक है, तो हिंसा उचित है और धर्म भी हो सकती है। पर...वह विश्वास करता है, करना चाहता है, कि हिंसा से मानव को घृणा है, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति-जन्य अनिच्छा है हिंसा करने में...और वह समझता है कि कोई भी मौलिक प्रवृत्ति गलत नहीं हो सकती—अगर हमारा आचारशास्त्र उसका समर्थन नहीं करता तो वही गलत है; प्रकृति नहीं; प्रकृति की आधारभूत एक प्राकृतिक नीतिमयता में उसका अखण्ड विश्वास है। क्यों है, क्या प्रमाण है उसके पास, इसका जब वह कोई उत्तर नहीं दे पाएगा तो यही देगा कि उसमें विश्वास करने की मौलिक इच्छा होना ही उसका प्रमाण है। मनुष्य क्यों चाहे उसमें विश्वास करना? क्योंकि अपने गूढ़ातिगूढ़ अन्तरतम में वह नीतिवादी है। वह सृष्टि को नीति की कसौटी पर खरा

मानना चाहता है। और अगर मानव-प्रकृति में नीति मूल तत्त्व है, तो प्रकृति में भी आधार-भूत कैसे नहीं है?

प्रकृति नैतिक है। तब क्या हिंसा भी नैतिक है? सदा नहीं, तो कभी, किसी परिस्थिति-विशेष में वह नैतिक हो सकती है? क्या कभी भी हत्या उचित हो सकती है?

और फिर व्यावहारिक प्रश्न यह कि क्या उससे कभी लाभ हो सकता है?

आह देवि जिज्ञासा—इतनी दुर्निवार कि वह दानवी दीखती है!

सिद्धान्त के प्रश्न से व्यवहार का प्रश्न सदा छोटा होता है, और इसीलिए अधिक तात्कालिक; हिंसा की व्यावहारिकता भी शेखर के लिए वैसी ही थी।

उसने विद्याभूषण से पूछा, "क्या हिंसा कभी उचित हो सकती है? क्या उससे कोई लाभ हो सकता है?"

विद्याभूषण ने मुस्कराकर कहा, "तो तुम सोचते रहे हो?"

शेखर ने खीझकर कहा, "सोचूँ न?"

विद्याभूषण हँसा। फिर गम्भीर होकर बोला, "तो सुनो। कई बार हिंसा इतनी नितान्त आवश्यक होती है कि उचित हो जाती है।—या यों कह लो कि इतनी अधिक उचित होती है कि आवश्यक हो जाती है। वास्तव में वह तब हिंसा रहती नहीं। नासूर होता है, तो उसका इलाज यही है कि नश्तर लगा दिया जाय। उससे दर्द होता है तो क्या वह हिंसा है? वह हिंसा इसलिए नहीं है कि रोगी के भले के लिए है, चिकित्सक का स्वार्थ उसमें नहीं है। और लाइलाज रोग का रोगी अगर दर्द से तड़प रहा हो तो उसे मारकर मुक्ति देने में भी हिंसा नहीं है, यद्यपि उसकी जान ले ली गई होगी। यहाँ फिर हिंसा एक सामाजिक कर्तव्य के रूप में आती है। रहा उपयोगिता का प्रश्न—सो मैंने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें उसकी उपयोगिता ही उसका प्रमाण है—हाँ, यह ध्यान रखना कि व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, सामाजिक उपयोगिता ही उसका प्रमाण हो सकती है।"

"तुम्हें यह भेद करते देखकर सन्देह होता है। क्या सचमुच सामाजिक होने से हिंसा क्षम्य हो जाती है? एक समाज दूसरे समाज पर अत्याचार कर सकता है—?"

"मेरी बात को गलत मत समझो। सामाजिक से मेरा मतलब किसी एक समाज का नहीं है। मेरा मतलब उस सारे संगठन से है जिसका एक अंग हम—मानव मात्र है। इस दृष्टि से जहाँ हत्या अहिंसा हो सकती है, वहाँ राह चलते, गेहूँ की एक बाल तोड़कर फेंक देना हिंसा होगी क्योंकि वह कर्म उस विश्व-समाज का कोई हित नहीं करता, उलटे थोड़े-से हित की सम्भावना को नष्ट कर देता है।"

शेखर ने अब भी सन्दिग्ध स्वर से कहा, "अच्छा, उसे जाने दो। जहाँ से बात शुरू हुई थी, वहीं लौटें। तुमने जो उस सी० आई० डी० वाले को मारा, उससे क्या लाभ हुआ या हो सकता है?"

"एक तो मैंने बताया —अपने आत्म-सम्मान की रक्षा जरूरी थी, और उसे पीटे बिना वह असम्भव था। अगर तुम इसे बहुत काल्पनिक लाभ समझते हो, तो दूसरा यह कि इससे और सी॰ आई॰ डी॰ वालों को सबक मिलेगा कि किसी का अपमान करना हँसी-खेल नहीं है।"

शेखर ने मुस्कराकर कहा, "यही सबक तो वह तुम्हें सिखाने चला है।"

"हां, पर ऐसा सबक हर एक सी॰ आई॰ डी॰ वाला हमेशा हर एक को नहीं सिखा सकता। एक मुकदमा करने में सरकार के कई हजार रुपए लगते हैं। अगर सौ ऐसी घटनायें हो जायँ तो सरकार को कुछ दूसरा इलाज सोचना पड़ेगा।"

"दूसरे शब्दों में तुम यह चाहते हो कि सरकार के दिल में डर बैठा दिया जाय कि ये लोग सम्मान के पात्र हैं। अगर मैं ग़लती नहीं करता—मेरा इधर का ज्ञान कम है—तो यह उन लोगों की दलील है जो आतंकवादी कहलाते हैं।"

"ऊँ—हां। और इतना अन्याय किसी के साथ नहीं होता जितना उनके। सबसे पहले तो उन्हें आतंकवादी कहना ही अन्याय है, यद्यपि आतंक को वे अपने कार्यक्रम से बाहर नहीं निकालते। आजकल के जमाने में जिस आदमी का राजनैतिक दर्शन आतंक-वाद तक जाकर समाप्त हो जाता है वह मानसिक विकास की दृष्टि से सात साल का बच्चा है। साफ़ बात यह है कि उसमें इतना नैतिक बल ही नहीं हो सकता जितना कई आतंकवादी कहलाने-वालों में सब लोग मानते हैं।"

"तुम तो ऐसे सफ़ाई दे रहे हो जैसे स्वयं आतंकवादी होओ!" विद्याभूषण को सिर हिलाता देखकर शेखर फिर बोला "पर मुझे यह दीखता है, यह सब ग़लत है। हिंसा से कुछ नहीं हो सकता। वह नकारात्मक है। वह निरा संहार है, उससे सृजन नहीं हो सकता। यह नश्तरवाली ही बात लो, रोग का इलाज तो चिकित्सा है, स्वस्थ तो वही करती है। नश्तर नगण्य चीज़ है, स्वास्थ्य-लाभ तो बाद की महीनों लम्बी शुश्रूषा से होता है। इसी तरह परिस्थितियों का सुधार स्वाभाविक विकास द्वारा ही होगा।"

"यों ही सही। नश्तर नगण्य ही सही, अप्रधान ही सही, पर अनिवार्य तो है न? समाज के लिए की गई हिंसा के बाद भी सामाजिक चिकित्सा होती है—चाहो तो मुख्य चीज़ उसी को समझ लो। उससे पहली आवश्यकता नहीं मिट जाती।"

शेखर को एक और बड़ा कौर मिल गया था—इसे काफ़ी चबाने की जरूरत थी। तसल्ली उसे नहीं हुई थी। उसे लगता था, तर्क में कहीं कुछ त्रुटि अवश्य है। आपद्धर्म—एक अनिवार्य बुराई—इस तरह की बातें उसने पहले सुनी थीं—विश्वामित्र की कुत्ते का मांस खाने की बात उसने बहुत पहले सुन रखी थी—पर उसे लगता था, यह आदर्श की कोई कमजोरी है जिसे हम हेतुवाद द्वारा छिपा लेना चाहते हैं। हिंसा-कर्म को तात्क्षणिक भी मानना सब कुछ मान लेना है, हिंसा को स्वीकार कर लेना है। अगर हत्या द्वारा मानवता अपनी रक्षा कर भी लेती है तो अन्ततः वह एक पाप-कर्म की आड़ में ही जीती है। प्रश्न

सोधा है—हिंसा उचित है या नहीं है, या तो पूर्णतया अनुमोदित हो सकती है या पूर्णतया वर्जित। किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में आगे का मार्ग नहीं दीखता···

*　　　　*　　　　*
* *　　　　* *　　　　* *

शेखर के बड़े भाई ईश्वरदत्त के साथ शशि उससे मिलने आई।

शेखर ने इच्छा की थी पर आशा नहीं। वह नहीं जानता था कि आशा करने का कोई कारण हो सकता है नहीं···शशि वहीं शहर में होती, तब तो आशा होती, पर दूर गाँव से, और अकेली···

पर वह आ गई। शेखर का अन्तर इतना भर उठा कि वह उससे बात भी न कर सका, और भेंट का समय समाप्त हो चला···वह ईश्वरदत्त से बात करते-करते बीच में क्षण-भर स्थिर होकर उसकी ओर देख लेता, और फिर भाई से बात करने लगता···

जब बिल्कुल ही समय आ गया, तब अन्त में शशि ने पूछा, "शेखर, क्या तुम सचमुच शामिल थे?"

शेखर ने भेदक दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह जानना चाहता था कि उसके मन में क्या है—डर, चिन्ता, प्रशंसा—क्या···कुछ नहीं दीखा। उसने सरल गाम्भीर्य से कहा, "नहीं।"

शशि कुछ बोली नहीं। शेखर को लगा मानों और कोई जिज्ञासा या मांग शशि को नहीं है। उसे विस्मय हुआ। इसीलिए अपने भावों के तूफ़ान से कुछ अलग होकर उसने पूछा, "क्यों, शशि? तुम्हें तसल्ली हुई क्या?"

"कैसी तसल्ली?"

"कि मैं निर्दोष हूँ?"

"ऊँ—हाँ, कुछ तो हुई ही—"

"क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो?"

"तब भी तसल्ली होती, मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने ही से मुझे सन्तोष हो जाता है, डर नहीं होता।"

कितना चाहता था शेखर यह पूछ उठना, "क्यों शशि, इतना विश्वास है तुम्हारा मुझ-में···" पर भाई की उपस्थिति ने उसे साहस नहीं दिया। एकान्त में भी वह इतना निजी प्रश्न उससे उस समय पूछ सकता, वह नहीं जानता, पर शशि ने मानों वह अव्यक्त जिज्ञासा पढ़ ली; तभी तो चलते-चलते उसने शेखर की ओर स्थिर आँखों से देखकर कहा, "वीर कभी अपराधी नहीं होते··" और बढ़ गई—शेखर ने उसकी आँखों को वत्सलता से रोमांचित होकर मन-ही-मन उस आदिम बहन को प्रमाण किया जिसने पहले-पहल भाई के लिए 'वीर' शब्द का आविष्कार किया था···कितना महत्त्व था जेल में वात्सल्य का! प्रेम—प्रेम अन्ततः एक वासना है और वासना की तो क्रीड़ास्थली ही है जेल; पर वात्सल्य···

मुकदमा अत्यन्त नीरस हो गया था। आज के बाद कल, कल के बाद परसों—नित्य वही कहानी नये-नये गवाहों के मुख से नये-नये रूप में सुनना, एक ही सत्य को उलटा कर दिखाने के लिए वकीलों के दाँव-पेंच और कलाबाजियाँ···एक दिन ऊब ऊबकर ही अन्त में शेखर ने अपने लिए मनोरंजन की सामग्री पैदा कर ली थी—उसने वकील की दलीलों की विडम्बना लिखकर पहले अपने मित्रों को दिखाई थी और फिर लिफ़ाफे में बन्द करके हाकिम के आगे रख दी थी। उस समय मजिस्ट्रेट साहब वकील की बातें सुन रहे थे, उन्होंने लापरवाही से पूछा था, "क्या है, दरखास्त?" और सुनते रहे थे। पर दुपहर की छुट्टी के बाद जब इजलास फिर बैठा तब उन्होंने एक तीव्र दृष्टि से शेखर को ओर देखा था, जिसमें थोड़ी सी दया-सी थी, थोड़ी-सी खीझ; और उनके दबाकर प्रभावोत्पादक बनाए गए ओठों पर एक हलकी-सी मुस्कराहट खेल गई थी···शेखर निश्चय से नहीं कह सका कि उनके मनोभाव वह समझ गया है, पर अपनी दलीलें याद करके वह भी मुस्करा दिया था···"जनाब, गवाह कहता है, अमुक चीज़ ऊपर थी, अमुक नीचे, अमुक दाईं ओर···लेकिन अगर हम सिर के बल खड़े होकर देखें – और स्पष्ट है कि वैसे देखे बिना न्याय की रक्षा नहीं हो सकेगी – तब जो ऊपर बताया गया वह वास्तव में नीचे होगा, और जो दाँए बताया गया है वह निर्विवाद रूप में बाँई ओर···ऐसा विकृत और झूठा बयान देनेवाला गवाह बिगड़ा हुआ ही हो सकता है; आपसे निवेदन है कि उसके बयान को महत्त्व न दिया जाय और हमें अनुमति दी जाय कि हमीं जिरह कर सकें···"

लेकिन इस तरह की बात नित्य नहीं हो सकती थी, और अदालत में बैठे-बैठे प्रायः शेखर पाता कि उसका ध्यान शशि की ओर चला गया है। वह उसके कहे हुए एक-एक शब्द को याद करता और मानों मन का प्रकाश उन पर केन्द्रीत करके उनका चित्र लिया करता; फिर विस्मय से सोचा करता कि क्यों यह लड़की उसके भीतर इतना महत्त्व पाती जा रही है···वह उसकी बहन लगती थी? अवश्य, पर शेखर की बड़ी बहन सरस्वती की तरह वह क्यों नहीं थी? सरस्वती को भी शेखर पर बड़ा स्नेह रहा था - अब भी था, यद्यपि अब शादी हो जाने के बाद, और दो-तीन बच्चों की माँ हो जाने के बाद वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु हो गई थी – और सरस्वती से भी शेखर ने बराबर का सहज विश्वासी बन्धुत्व पाया था, पर···वह नहीं जानता कि वह उस भेद को कैसे कहे, और जब कह नहीं सकता तो कैसे अपने को समझाए···शशि को जैसे वह उस सहज स्वीकृति में नहीं ला सकता था जिसमें सरस्वती को उसने पाया था—सरस्वती तो 'थी' ही। शेखर ने होश सम्भालने के समय से ही उसको अपने आसपास देखा था – पर शशि मानों उसकी अपनी खोज का परिणाम थी, असंख्य प्राणियों के उस उलझे संसार में से उसने उस एक को खोज निकाला था अपने स्नेह के दायरे में बिठाने के लिए; वह बहिन, यानी अपनी होकर भी नयी, कुछ अपरिचित, कुछ आयास-सिद्ध थी···जैसे उसे अपनाने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था···नहीं, यह बात नहीं थी – वह नहीं समझ सकता था कि क्या बात थी··

शशि फिर मिलने आई थी। इस बार शेखर ने अपने में बात करने का साहस पाया था, और उसे जेल की कई एक बातें सुनाई थीं, वह चुपचाप सुनती गई थी, उसकी विस्फारित आँखें शेखर पर टिकी थीं···बहुत देर बाद शेखर ने एकाएक जाना कि आँखें वहीं स्थिर होने पर भी मन उनके पीछे नहीं है; जैसे शशि उसकी अर्थहीन बातें सुनती हुई उसे कुछ कह रही है।

"क्यों—कुछ कहना है?"

शशि चौंकी नहीं, मुस्करा दी।

"जिन लोगों ने उस सी० आई० डी० वाले को मारा था उन्हें तुम जानते हो?"

"हाँ, क्यों?"

"सब पकड़े गए?"

"नहीं, अधिकांश बाहर हैं।"

"अच्छा? और तुम्हारे अलावा बाकी सब थे?"

"हाँ, थे ही, यद्यपि—पर ख़ैर वे कानूनी बातें हैं।"

"तो, तुम पकड़े कैसे गये?"

शेखर ने संक्षेप में बता दिया कि घटनास्थल पर ड्यूटी दे रहे होने के कारण वह फँसा लिया गया है।

"तुम ड्यूटी देते थे—क्यों?"

शेखर ने परिस्थिति समझा दी।

शशि कुछ देर तक चुप रही। फिर बोली, "तुम सन्तुष्ट हो?"

शेखर ने उससे आँख मिलाकर कहा, "मैं सुखी हूँ। कालेज आते समय तुमने जो बात कही थी, वह मैं भुला नहीं सका।"

शशि ने कुछ विस्मय से कहा, "मैंने? क्या कहा था—मुझे तो याद नहीं।"

"अच्छा है। श्रेष्ठ दान दे तो भूल ही जाना चाहिए। शशि—"

शशि की आँखों में जो प्रश्न था वह धीरे-धीरे मिट गया। उसकी मुद्रा देखकर शेखर को भी न जाने कैसा लगा—जैसे दूर के भाई-बहन होकर भी एक ही धमनी का रक्त दोनों में प्रवाहित हो रहा है, और उस सम्पूर्ण ज्ञानैक्य में कथोपकथन को स्थान नहीं है··· क्या ऐसा ही भाव शशि के मन में था? वह कैसे जाने?

शशि जाने लगी तो उसने पूछा, "पर तुमने बताया नहीं—"

"क्या?"

"तुम कुछ बताना चाह रही थीं न—मुझे दीख गया।"

शशि की मुस्कराहट में वेदना थी। उसने रुकते-रुकते कहा, "हाँ, चाहती थी। पर कह नहीं सकती—यहाँ नहीं। और लिख भी नहीं सकती—मैं नहीं चाहती कि ऐसी बेहूदा चिट्ठी लिखूँ जो जेलवालों को पढ़ने दी जा सके।"

"मैंने भी एक लिखकर फाड़ डाली थी। तब?"

"देखो—" कहकर वह चली गई। यदि वह जानती कि जेल में किसी का मन उकसा-कर उसे अतुष्ट छोड़ जाना क्या होता है, तो···

उस रात शेखर ने वह किया जो जेल के अन्य कैदियों को करते सुनकर वह झुँझलाहट से दाँत पीसकर रह जाता था—बन्द होने के कुछ समय बाद जब गिनती हो चुकी और ताले ठोके-बजाए जा चुके और "सब—अच्छा—आ-आ" की पुकार उस 'सब-बुराई' के रौरव की विडम्बना कर चुकी और कुछ शान्ति हुई, तब उसने दोनों हाथों से कोठरी के द्वार के दो सींखचे पकड़े और अपने तन के समूचे ज़ोर से उसे झकझोरने लगा···उसका शरीर झनझना उठा, दाँत जैसे रेत की रड़कन से किचकिचा उठे; ताला, सींखचे, चौखट सब खड़क उठे और सहानुभूति में बाहर आँगन के पार का लोहे के पत्तर का किवाड़ भी क्रुद्ध फुँफकार-सी कर उठा···उसके तने हुए शरीर के हिलने से उसकी ऐन्द्रिक अनुभूति ने मानों पृथ्वी के ही कम्पन का रूप ले लिया, वह असह्य कर्कश कोलाहल मानों किसी संहारक शक्ति के ताण्डव-सा गूँज उठा···वह उसे सह नहीं सकता था--सह नहीं सकता था इसलिए और भी ज़ोर से फाटक को झकझोरता था···मैं इस बन्धन को तोड़ना चाहता हूँ, मुक्त होना चाहता हूँ, क्योंकि किसी को मुझे कुछ कहना है और वह जानना मेरे लिए आवश्यक है, सुख से अधिक आवश्यक, शान्ति से अधिक आवश्यक, जीवन से अधिक आवश्यक, मेरे बल से, पुरुषार्थ से भी अधिक आवश्यक···विवश, विवश, विवश, मूर्ख क्रोध···व्यर्थ, व्यर्थ, व्यर्थ उद्भ्रान्त अहंकार···

उसकी विवश उद्भ्रान्ति ने ही अन्त में सान्त्वना दी—पसीने से तर, थकान से लड़ख-ड़ाता, दूसरे कैदियों की अवमानना के लिए लज्जा से डूबा हुआ वह खड्डी पर जा गिरा और निःस्पन्द, निरश्रु आँखों से छत की ओर देखा किया···

उसे कुछ कहना है, मैं जानना चाहता हूँ, मैं जानना चाहता हूँ, मैं···

एकाएक वह तड़पकर औंधा हो गया, एक आँधी-सी उसके तन को हिला गई, आधे घण्टे बाद खजूर की चटाई के नीचे से ताज़े कीचड़ की बू ने ही उसे बताया कि वह अभी तक अवश सिसकता जा रहा है···

* * *

एक निर्बुद्ध कुहासा शेखर के मन पर छा गया—जड़ मनहूसियत का एक पर्दा-सा। उस रात उस तरह रोने के बाद से ही जो घनीभूत कुछ उसे दबाए जा रहा था, उसे किसी तरह भी वह उतारकर न फेंक सका।

धीरे-धीरे एक डर-सा उसे लगने लगा—क्या मैं हार रहा हूँ? क्या जेल का जीवन मुझे तोड़ रहा है? क्या मैं कायर हूँ?···जैसे किसी भीतरी घाव में कंकड़ चुभे, ऐसे ही यह संशय उसके भीतर चुभता था···नहीं तो मैं क्यों ऐसे बेबस होकर रोया? जो समर्थ हैं, जो वीर हैं, वे क्या रोते हैं? ऐसे कोठरी में अकेले बन्द पड़कर भेड़ की तरह मिमियाते हैं?

उसने कहीं पढ़ा था, जो रो नहीं सकता वह अवश्य विश्वासघात करता है. रो सकना अपने प्रति—अपने हृदय के प्रति—सच्चे रहने का लक्षण है···शायद वह ठीक है···पर यह—यह और चीज है ; यह तो निरी निपट निर्बल बेबसी है···

किन्तु रोने के बाद उसे क्यों लगा था कि वह हल्का है, साफ़ है, और हाँ, समर्थ भी है···हारने में तो ऐसा नहीं होता ; हार में तो प्रत्येक बार आदमी अपने को कुछ अधिक निर्बल, कुछ पतित अनुभव करता है···क्या वह पतित हो गया है—हो रहा है ?

उसका आहत व्यक्तित्व इस प्रश्न पर विद्रोह से चीत्कार कर उठा ; पर निर्दय परीक्षक की तरह वह पूछता ही जाता, क्यों, अगर झूठ है तो तुम्हें चुभता क्यों है ? बोलो, बताओ, क्या तुम अपराधी हो, पतित हो ?

अगर उसे ज़रा भी सन्देह होता कि जेलवालों ने उसका यह रूप देखकर उसे 'पराजित' समझकर ही कुछ अधिक स्वाधीनता दी है, तो वह उसे लेने से इनकार कर देता। अब उसे कहकर तो कुछ नहीं दिया गया था, किन्तु टहलते समय वह अपनी कोठरियों की कतार से आगे बढ़कर दूसरी कतार—'भारतवर्ष'—तक चला जाता तो वार्डर उसे रोकता नहीं था और प्रायः कैदियों से बात भी कर लेने देता था।

ऐसे ही एक दिन शेखर एक कोठरी के बाहर के आँगन में घुसा, तो वार्डर ने कहा, "बाबूजी, दारोग़ा साहब हमारी जान को आ जाएँगे—" पर उसके स्वर से ही शेखर ने जान लिया कि दारोग़ा की ओर से कोई मनाही नहीं है, वार्डर स्वयं ही उसे उस विशेष कोठरी में जाने से रोकना चाहता है । वह कैदी अवश्य ही कोई खास आदमी होगा । वह वार्डर की उपेक्षा करके भीतर घुस गया ।

"आप शायद कुछ ही दिन से यहाँ हैं ?"

प्रश्न की आत्मीयता और उसकी ध्वनि की सहज प्रसन्नता से शेखर ने चौंककर देखा । सीखचों से सटा हुआ एक वृद्ध चेहरा, ऊपर शुभ्र जटा और नीचे धवल दाढ़ी से आवृत एक निर्मल मुस्कान से उसका स्वागत कर रहा था। मानों हिमशृङ्ग पर धूप खिल आई हो···

शेखर ने विस्मय से कहा, "आपने कैसे जाना ?"

"आपके चेहरे पर दीखता है । नया चेहरा हमेशा प्रश्नों से भरा हुआ होता है—वह जानना चाहता है । पुराने पापी तो ताक में रहते हैं कि कोई सुननेवाला मिले । जीवन समाप्त होने पर एक ही बात तो बची रहती है—उसकी कहानी !"

शेखर ने नए विस्मय से भरकर पूछा—"आप कौन हैं ?" इस व्यक्ति के आगे शिष्टाचार मानों स्वयं झर जाता था—प्रश्न या तो सीधा-सीधा पूछा जा सकता था, या नहीं ही पूछा जा सकता था ।

"मेरा नाम मदनसिंह है । सन् '१९ में पकड़ गया था । तबसे जेल में हूँ ।"

इक्कीस वर्ष जेल में रहकर यह आदमी ऐसे हँस सकता है ? शेखर को लगा कि वह कुछ छोटा हो गया है, या उसके सामनेवाला व्यक्ति कुछ ऊँचा उठ गया है।

"मैं तो अभी आया हूँ, यह आपने जान ही लिया। कालेज में पढ़ता था, वहाँ से यहाँ पहुँच गया।"

"कौन-सी श्रेणी में ?"

"एम० ए० में। पिछले साल बी० ए० पास किया था।"

"भाग्यवान् हैं आप ! मैं तो बिल्कुल अनपढ़ था जब आ गया था—यहीं मैंने पढ़ना-लिखना सीखा, और यहीं रो-रोकर उन बड़ी बातों को जानने की कोशिश की है जिनके बिना कोई जी नहीं सकता। और आप—आप विद्या लेकर आए हैं। आपके सामने भारी दुर्ग है, लेकिन, उसकी चाभी आपके पास है।"

शेखर कुछ सोचता हुआ-सा बोला, "पता नहीं—मैं तो अपने को बहुत छोटा अनुभव करता हूँ।"

"है भी मनुष्य कितना छोटा ! पर आप मेरी बात मानें न मानें, है वह ठीक। मैंने अपने लिए चाभी स्वयं अपने कष्ट से बनाई थी। आपने सुना है न ग़रीब की साँस वह धौंकनी होती है जो लोहा गला दे ? उसी से मैंने काम लिया···" एक मधुर हँसी फिर कोठरी में गूँज गई।

शेखर के मुख पर स्पष्ट अविश्वास का भाव दीख गया। कोशिश करने पर भी वह उसे नहीं छिपा सका।

"हाँ, मैं समझ रहा हूँ—आप सोच रहे हैं, यह आदमी बन रहा है। लेकिन सच मानिए, जहाँ मेरी बुद्धि रह गई, वहाँ आँसुओं के ज़ोर से, हाँ, आँसुओं के ज़ोर से मैं जिया—" एकाएक कोठरी के भीतर की ओर घूमकर उन्होंने कहा, "वह देखिए, मेरे पास सबूत भी है। यह आप पढ़ सकते हैं ?"

सामने की दीवार पर जहाँ मदनसिंह ने उँगली रखी थी, कुछ कठिनाई से शेखर ने लिखा हुआ वाक्य पढ़ा—'दासता क्या है ? अप्रिय तथ्य का ज्ञान नहीं, असत्य का ज्ञान भी नहीं; दासता है सत्य या असत्य की जिज्ञासा को शान्त करने में असमर्थ होना ; वह बन्धन, वह मनाही, जिसके कारण हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छिन जाता है।'

"और यह देखिए।"

शेखर ने फिर परिश्रम से पढ़ा—'हमारी सभ्यता मानव की शैशवावस्था को बढ़ाने का अनन्त प्रयास है। वह चाहती है सुरक्षा, पुरुषत्व माँगता है साहस !'

"और इधर अँधेरे में हैं ; आप कहें तो मैं सुना सकता हूँ। पर आप शायद अब जाएँगे। ख़ैर, काम की बात यह कि इनमें एक-एक नुस्खा पाने के लिए मैं घण्टों रोया हूँ। मुझे दीखता है कि शान्त बैठ रहना तपस्या नहीं है, शान्त न बैठ सकने से ही तपस्या शुरू होती है।" एकाएक उनका चेहरा फिर खिल गया। "देखिए,—विद्यावान् के निकट आने से ही मैंने बिना रोए यह बड़ी बात जान ली।"

शेखर झेंपा-सा चुप रह गया। मदनसिंह कहते गए, "ऐसे सौ-एक सूत्र लिखे पड़े हैं। यह तीन साल का काम है—तब कोठरी में सफ़ेदी हुई थी। उससे पहले के मिट गए—एक-आध शायद दीख सके—" वे एक कोने की ओर झुके, "हाँ, यह देखिए, 'क्रान्ति का प्रमाण यह है कि उसके लिए चारित्र्य आवश्यक है।'"

सीधे होकर उन्होंने शेखर की ओर देखा, वह कुछ कहने को उतावला हो रहा था। "आप कहेंगे कि यह सब मैं किताबों में पढ़ चुका हूँ? आपके पास विद्या की चाभी थी—मैं तो अभी सीख रहा हूँ।"

शिष्टाचार इस आदमी के आसपास कहीं नहीं फटकता था—उसकी विनम्रता भीतर के किसी झरने से फूटी पड़ती थी। अपने को और भी तुच्छ अनुभव करते हुए शेखर ने कहा, "आपको तीन साल इसी कोठरी में हो गए?"

"तीन? मैं तो नौ साल से इसमें हूँ। लेकिन आपने उस पठान की कहानी सुनी है न जो जेल में तीस साल काटकर अपनी आयु अट्ठाईस बताता था।" शेखर का सिर हिलता देखकर—"जब वह जेल से लौटा तो किसी ने पूछा, 'खान, तुम्हारी उम्र कितनी है?' बोला, 'अट्ठाईस'। पूछनेवाले ने फिर कहा, 'जेल में कितनी देर रहे!' तो जवाब दिया, 'पता नहीं।' 'जेल गए तब कितनी थी?' बोला, 'अट्ठाइस।' पूछनेवाले ने जब उसके गणित पर आपत्ति की तो बोला, 'जेल क्यों जोड़ते हो? उन दिनों तो कुछ हुआ ही नहीं तो उम्र कैसे बीत गई?' वही हाल मेरा है। पर बाल तो पक ही जाते हैं—" एक हल्की-सी उदासी उनकी आँखों में दौड़ गई।

शेखर के भीतर तीव्र कामना जागी कि वह इस धवल-जूट शिशु को हाथ जोड़कर अभिवादन करे…किन्तु किसी मिथ्या अहंकार ने कहा—'नहीं, यह नहीं करना होगा—' उसने सोचा, विदा लेकर चले।

"आप ऊब तो नहीं गए—फिर आएँगे न? मैंने कहा था, खूसट बुड्ढे सुनाना ही चाहते हैं, कोई मिल जाय सही सुननेवाला!' मदनसिंह फिर मुस्करा दिए।

शेखर का आन्तरिक तनाव मानों दूर हो गया। उसने हँसकर कहा—"और मैं तो जिज्ञासु हूँ ही!" फिर एकाएक गम्भीर स्वर में उसने कहा, "आपकी बातों से अभी ही कई प्रश्नों का उत्तर मुझे मिल गया जिन्हें पूछने का साहस मुझमें नहीं था। मालूम होता है कि अहंकार स्वाभाविक होता है, विनय सीखनी ही पड़ती है।"

"सूत्र बोलने का रोग आपको भी लगा क्या? जेल में बातचीत ही अस्वाभाविक हो जाती है।"

आँगन के फाटक तक पहुँचकर एकाएक शेखर ने अपना सारा साहस बटोरकर लौटकर कहा, "पिछले हफ्ते में भी खूब रोया था—" और तब एकाएक कृतज्ञता और लज्जा से भरकर जल्दी-जल्दी अपनी कोठरी की ओर बढ़ गया…

फिर एक दिन घूमता हुआ वह 'भारतवर्ष'वाली कतार की परली सीमा तक चला गया था। आखिरी चार कोठरियों में शायद फांसी के कैदी थे—उनके आंगनवाले पत्तर के फाटक बन्द थे और भीतर सन्तरी बन्दूक लिए पहरा दे रहा था। शेखर लौट पड़ा।

कुछ-एक कोठरियां लांघकर वह सोच ही रहा था कि किसी कैदी से बात करे, कि एका-एक पुकार आई, "ओ मौलवी!"

शेखर कल्पना नहीं कर सकता था कि यह पुकार उसके लिए थी, पर उसके साथ का वार्डर सिख था, और पुकार फिर आई, "बात तो सुन जा, ओ मौलवी।"

शेखर ने आंगन में खड़े होकर पूछा, "मुझे पुकार रहे थे क्या?"

"हां, और किसे। मौलवी तो बने हुए हो, कितने दिन से हजामत नहीं बनाई है। उस्तरा नहीं है क्या?"

"है तो, पर यहां कौन देखता है, यों ही नहीं बनाई।"

"अरे भले आदमी, कोई नहीं देखता तो क्या अपने भी नहीं चुभती? और खुद तो बाहर जाने लायक बने ही रहना चाहिए—फिर कोई छोड़े न छोड़े, बला से!" वह अपने बड़े-बड़े पर सुघड़ और उज्ज्वल दांत निकालकर हँस पड़ा।

शेखर तय नहीं कर सका कि इस सहज परिचय का सामना किस तरह करे। अगर यह आत्म-विश्वास से उत्पन्न हुई है, तब तो इसका सम्मान करना चाहिए, अगर ओछेपन से तो—

"न हो तो एक पतरा मुझे ही भेज देना। मुझे तो हर समय रिहाई के लिए तय्यार रहना अच्छा लगता है।"

शेखर ने हँसकर कहा, "अच्छा, कल ला दूँगा।"

"तुम उन्हीं नए पोलिटिकलों में से हो न जो सी० आई० डी० वाले को पीटने के जुर्म में आए हैं?"

"हां।"

"ठीक। अच्छा, मैं तुम्हें मौलवी कहा करूँ न?"

"तुम्हारी मर्ज़ी है।"

"मौलवी होते तो मक्कार हैं, पर मेरा मौलवी हिन्दू होगा तो निभ जायगी।"

शेखर चुप रहा।

"और सुनो, मुझे यहां अकेला-अकेला लगता है। शाम को अच्छा नहीं लगता। तुम कौन-सी कोठरी में हो?"

"परली कतार में—बारहवीं में।"

"अरे इतनी दूर! खैर। मैं शाम को तुम्हें गाना सुनाया करूँगा। गाना बुरा तो नहीं लगता?"

"गाना हो, तब तो बुरा नहीं लगता।"

वह ठठाकर हँसा। "यह तो तुम जानना कि गाना है या नहीं, मैं तो गा दूँगा। अच्छा अब जाओ।"

शेखर चलने लगा।

"मेरा नाम है मोहसिन—मुहम्मद मोहसिन। पर तुम मुझे क्या पुकारोगे।"

शेखर ने शरारत से कहा, "पंडित।"

"वाह-वा! ठीक है। तब मैं हजामत करके तिलक भी लगाया करूँगा।"

लौटते हुए शेखर को वार्डर ने बताया कि यह लड़का मोहसिन अजब लफंगा है—हर किसी को तुम कहके बुलाता है—दारोग़ा और साहब को भी—और हर वक्त ठट्ठा करता रहता है। लावारिस है, बाप-माँ, भाई-बन्द कोई नहीं है, तभी ऐसा उलंग हो गया है। एक मौलवी ने पाल रखा था और पढ़ाया था, पर पीछे स्कूल में बिगड़ गया, और बग़ावत फैलाने के जुर्म में एक साल की सजा पाकर आया है। पाँच महीने काटे हैं। हरदम, हरवक्त शरारत ही उसे सूझती है, और बराबर सज़ाएँ पाता रहता है—आजकल भी रात को हथकड़ी लगती है।

"रात को हथकड़ी?"

वार्डर ने बताया कि जेल के दण्ड-विधान में यह भी एक सजा है। शाम को बन्द करते समय कैदी के हथकड़ी लगा दी जाती है, सवेरे खोली जाती है जब मशक्कत का वक्त होता है। बदमाश हो तो उल्टी भी लगाते हैं—पीठ के पीछे। तब रात-भर औंधा पड़े रहना पड़ता है। "पर, बाबूजी यह लड़का अजीब बेशरम है कि पिछले पन्द्रह दिन से उलटी हथकड़ी भी लग रही है पर शरारत से बाज़ नहीं आता।"

"क्या करता है?"

"एक तो मशक्कत नहीं करता। कहता है, मैंने बग़ावत फैलाई, तुमने जेल में डाल दिया। अब मशक्कत क्यों करूँ? तुम मेरे लिए चक्की पीसो तब मैं भी बादशाह के लिए पीस लूँगा। दूसरे जो मशक्कत दें फेंक देता है। चक्की पीसने को दी गई थी, सब कबूतरों को चुगा दी। पूछने पर बोला, कबूतर मेरे भाई हैं, मुझे खुश रखते हैं! साहब ने बेड़ियाँ डलवा दीं तो बेड़ियों से चक्की उखाड़ डाली, ईंटों से एक बड़ा-सा थाला बनाकर उसमें मिट्टी भर दी और पानी डाल दिया। फिर पेशी हुई तो कहने लगा कि खेती करूँगा—उसमें मक्की बोई है! लड़का क्या है, शैतान की औलाद!"

शेखर का कौतूहल जाग गया था। उसने मोहसिन से फिर मिलने की ठानी, और कोठरी में चला गया।

शाम को वह बैठा न जाने क्या सोच रहा था कि दूर कहीं कोठरी का 'जँगला' खड़कने की आवाज़ उसने सुनी। उसका शरीर तन गया—उसे वह अवस्था याद आई जब उसने भी सीखचे पकड़कर झकझोरे थे…उसका हृदय समवेदना से भर आया—इस समय कोई वैसी

ही अवस्था में से बीत रहा है जिसमें से वह निकला था...वह कान देकर सुनने लगा। एकाएक वह कोलाहल बन्द हो गया, और शेखर ने सुना, जैसे कोई पुकार रहा है—

क्या उसने ठीक सुना था? पुकार फिर आई—हाँ, मोहसिन पुकार रहा था—उसने भी दोनों फेफड़े वायु से भरकर, मुँह उठाकर, स्वर को घना करने के लिए हाथों की आड़ देकर बचपन में सुनी हुई किसानों की पुकार की नकल करते हुए पुकारा—"पण्डित हो – ओ!"

इस बार मोहसिन ने सुना। "गाना सुनाऊँ?"

"हाँ, सुनाओ।"

"क्या करते थे?"

"बैठा था।"

"अच्छा सुनो।"

शेखर ने कल्पना से ही अट्ठाइस कोठरियों की दूरी नापी और वहाँ ध्यान केन्द्रित किया। कहते हैं कि इन्द्रियाँ अपना काम अलग-अलग करती हैं; शेखर ने जैसे पाँचो-छहों इन्द्रियों की घनीभूत ग्रहण शक्ति से मोहसिन का गान सुना—

" ... ... आया तो क्या
... ... "

मोहसिन का गला अच्छा था। स्वर में तीव्रता भी थी और घनत्व भी। इतना अधिक चिल्लाने से उसमें कभी-कभी कर्कशता आ जाती थी—वह फट-सा जाता था - पर फिर भी उसका स्वाभाविक तरंगित कम्पन श्रोता में भी एक सिहरन पैदा करता था—जैसे उसमें चुपचाप सही हुई यातना का 'धक्—धक्' स्पन्दन गूँज रहा था ..

"मिट गईं जब सब उम्मीदें मिट गए सारे खयाल—
उस घड़ी फिर नामाबर लेकर पयाम आया तो क्या?'

गीत बन्द हो गया। शेखर का तनाव कुछ ढीला हुआ—

"है गाना?"

"है। बड़ा अच्छा है।"

"और सुनाऊँ?"

"थक नहीं गए?"

"गाते नहीं थकता मैं!"

"अच्छा सुनाओ।"

मोहसिन फिर गाने लगा। किन्तु दो-तीन कड़ियाँ गा लेने के बाद उसका स्वर कुछ मन्द पड़ने लगा, और क्रमशः उसे सुनना असम्भव हो गया। शेखर ने नहीं चाहा कि उसे सूचित करे—वह उस पागल साहसिक के प्रति झुँभलाहट, प्रशंसा और कृतज्ञता से भर रहा था···

दस-एक मिनट के बाद फिर पुकार आई, "मौलवी ओ-ए!"

'पण्डित हो !'

'अब सो जाओ। कल और सुनाऊँगा।"

"अच्छा।"

नीरवता। शेखर को याद आया, अभी अभियुक्त होने के कारण उसके पास लालटेन है, वह पढ़ता रहेगा, फिर सो जायगा। पर मोहसिन कैदी है, उसके पास प्रकाश नहीं है, है घनी रात। शेखर ने बत्ती नीची कर दी, उठकर कोठरी के द्वार पर जाकर जँगले पकड़कर बाहर अँधेरे आकाश की ओर देखता खड़ा रहा।

ऊपर बादल घिरे थे, अकाल मेघ—अर्थहीन और बेढंगे···

जेल में इस समय चौदह सौ बन्दी होंगे—और कम-से-कम सात सौ के पास प्रकाश नहीं होगा, और नींद का विस्मृति-जनक अन्धकार भी नहीं होगा...

नीरवता—सन्तरियों की पदचाप से, नम्बरदारों की 'सब अच्छा !' से और दूर कहीं उल्लुओं के 'हू-हू' कराहने से कर्कश नीरवता—शेखर अनभिप आँखों से अदृश्य काले आकाश को देखा किया···

टप्—टप्—वैशाख की पहली बूँदे···एकाएक शिथिल होकर शेखर जाकर लेट गया, और लालटेन के बहुत छोटे-से अधनीले प्रकाश को, और उसके कारण छत पर बने हुए अन्धेरे वृत्त को, देखता रहा···

बन्धन···

*   *   *
* *   * *   * *

शेखर को एक पत्र मिला।

उसके पत्र पढ़े जाकर और कट-छँटकर भेजे जाया करें, यह उसे असह्य था, अतः उसने पत्र लिखना ही छोड़ दिया था। बाहर से भी पत्र बहुत कम आते थे, आते तो ऐसे जिनका उत्तर देना आवश्यक न होता। पर एक दिन वकील ने उसे कुछ कागज़ दिए और कहा, "इन्हें सँभालकर ले जाइएगा, आपके मुकदमे के आवश्यक कागज़ हैं। घर पर—क्षमा करें, जेल जाकर ध्यान से पढ़िएगा।" और शेखर ने रख लिए; जब जेल आकर वह बन्द हो चुका और रात घनी हो गई तब उसने उन्हें निकालकर पढ़ना शुरू किया। कागज़ों पर केवल मुकदमें की टाइप पर छपी हुई कार्रवाई का विवरण था जिस पर कहीं-कहीं पेंसिल से कुछ नोट लिखे हुए थे; पर बीच में एक सुई से नत्थी किए हुए कुछ पन्ने थे जिन्हें देखकर शेखर चौंक पड़ा—शशि का पेंसिल से बहुत बारीक लिखा हुआ पत्र था...

क्षण-भर तक शेखर सब कुछ भूलकर बेबस रह गया—उसका हृदय इतनी ज़ोर से उछल पड़ा था कि मानों अब डूब ही जायगा···फिर वह भूखी आँखों से पत्र निगलने लगा···

शशि का विवाह हो रहा था। वर का चुनाव हो गया था; आषाढ़ में तिथि भी नियत

हो गई थी। और शशि नहीं चाहती थी विवाह—अभी कुछ वर्ष वह उसका विचार भी नहीं करना चाहती थी।

अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती बातचीत को स्थगित कराने में; पर वह जेल में है, और--और कोई इस इतनी बड़ी दुनिया में है नहीं जो उसका पक्ष ले। माँ हैं पर वे अकेली हैं, समाज के विरुद्ध वे क्या करेंगी? अधिक से अधिक यह कि आषाढ़ से अगहन तक स्थगित कर देंगी, पर उससे क्या! वचन-बद्ध ही होंगी, तो कुछ नहीं कर सकेंगी...

एक धुन्ध-सी में शेखर को ध्यान आया कि पत्र रखना नहीं है, यन्त्रवत् उसने दुबारा उसे पढ़कर मानों मन में बिठा लिया, परिश्रम से उसके छोटे-छोटे टुकड़े किए, चक्की के एक ओर गेहूँ रखने के थाले में पानी भरकर उसमें उन टुकड़ों को मसलकर लिखत मिटाई और फिर गोली-से बनाकर बाहर फेंक दिया; तब वह पैर पटककर उठ खड़ा हुआ, कोठरी में चक्कर काटने लगा और सोचने लगा...

वह क्या करे? कैसे शशि की सहायता करे? वह सचमुच नहीं चाहती विवाह; उसने स्वयं पत्र में लिखा है कि आम तौर पर लड़कियों को जो डर और अनिच्छा होती है उससे शशि की अनिच्छा बहुत भिन्न है, वह अनिच्छुक भी है, अप्रस्तुत भी है और वह अपने को अन्याय का शिकार भी अनुभव करती है...

मैं बाहर होता, तो कुछ करता ही। लड़ता-झगड़ता, बहस करता। शायद लड़का भी अच्छा न हो। उसे कालेज के अपने परिचित लड़के याद आए जो भविष्य में सरकारी पद पाएँगे; सफल और यशस्वी, और कन्याओं के पिताओं की विशेष अभिधा में 'योग्य' ठहरेंगे—क्या वह अपनी बहन को वैसे किसी की गृहिणी देख सकेगा?

अगर वह नहीं चाहती विवाह करना, तो कौन-सी मजबूरी है विवाह की! समाज कौन है मजबूर करनेवाला? सम्बन्धी कौन है? माँ कौन है? कोई भी कौन है उस पवित्र यज्ञभूमि में, जिसमें आत्मा संकल्प लेकर अपने को दे देती है—'इदं कृष्णार्पणमस्तु इदन्न मम—' नहीं, इदं अग्नये इदन्न मम...अग्नये...अग्नये...यही है सत्य—पत्नी की आत्मा सदा हुतात्मा है...

क्या मौसी को लिखा जाय? पर अपनी अनिच्छा तो शशि माँ पर प्रकट कर चुकी है। क्या मौसी उसकी भावनाओं की उपेक्षा कर सकती हैं? पर बातचीत तो वे आगे बढ़ा रही हैं। क्या शशि ने काफ़ी जोर नहीं दिया!

अगर मौसी उसकी बात मानकर विवाह से इन्कार कर दें तब क्या परिणाम हो सकता है? एक तो जो लोग वर खोजने की दौड़-धूप कर रहे थे—मामा, चाचा, यह, वह—सब कहेंगे कि नहीं मिलता था तो रोती थी, अब मिलता है तो दिमाग़ आसमान पर चढ़ा जा रहा है, ऐसा है तो अपना काम आप देखो, हमें कोई वास्ता नहीं।...कहेंगे तो कहें, बला से! बल्कि छुट्टी पा लेंगी मौसी।...दूसरे वर-पक्ष नाराज़ होगा—हो। तीसरे—तीसरे—

तीसरे क्या ? आगे के लिए कठिनाई होगी—वर मिलेगा नहीं !···जिस पुरुष-जाति में शशि जैसी स्त्री की कद्र नहीं होगी, वह पड़े चूल्हे में—शशि उसमें शादी किए बिना मर नहीं जायगी।

क्यों नहीं मौसी इनकार कर देतीं ? क्या शशि के प्रति उनका उत्तरदायित्व नहीं है ? वे अनुभव नहीं करतीं ? मौसी विद्यावती न अनुभव करें तो कौन करेगा ? वे अवश्य करती होंगी। पर—लड़की ब्याहना भी तो उत्तरदायित्व ही है। वह भी तो माता-पिता को करना होता है। दायित्व है या नहीं, कम-से-कम वे अवश्य मानती हैं और सारा समाज मानता है। संस्कार ही ऐसा है—परम्परा यही है।···पर ब्याहना कर्त्तव्य है तो क्या अच्छी तरह ब्याहना कर्त्तव्य नहीं है ? क्या यह 'अच्छी तरह' ब्याहना है ?...अच्छी तरह क्या होता है ? शिक्षा हो, धन हो, कुल हो, शील हो, चरित्र हो, रूप हो, यश हो···और इनकी कसौटी क्या है ? डिगरी हो, बँधी नौकरी या जायदाद हो, सम्बन्धी हाकिम हों, बातचीत सलीके से करे, कहीं निन्दा न सुनी गई हो, रंग गोरा और नाक-आँख भले हों, यार-दोस्त प्रशंसा करें या शायद अखबार में नाम छपे ! क्या ये चीज़ें आदमी बनाती हैं ? क्या ये और केवल ये आदमी को देवत्व का वह अंश दे देती हैं कि वह किसी की आजीवन तपस्या का पुण्य अपने खाते में लिखने का हक़दार हो जाय ?... शेखर का मन फिर अपने कालेज के अनेक साथियों की ओर लौट गया—उफ़ ! इन सब वस्तुओं में भी तो कोई गारण्टी नहीं है कि कल्पना का देव-पुरुष वास्तविकता का यज्ञ ध्वंसक राक्षस नहीं होगा ?···

सारा प्रश्न यह है कि ब्याह पहले किसका दायित्व है ? माँ-बाप का, या वर-कन्या का ? कौन-सा धर्म पहले है—कि व्यक्ति गृहस्थ बने, या पितर सास-ससुर बनें ? पितरों का काम सहायक का है, विधायक का नहीं।...क्या शशि ही को इनकार करना चाहिए ?

उसका परिणाम ? सम्बन्धियों का क्रोध तो है ही। माता का भी हो सकता है। निन्दा भी है—'लड़की का चरित्र अच्छा नहीं है'···'माँ ने ही बिगाड़ा है'···और जो लड़की चरित्र-हीना घोषित हो चुकी, उसकी चरित्रहीनता के प्रमाण खोजते कितनी देर लगती है ? और उसके बाद ? जिसे 'समाज के लिए खतरनाक' कह दिया जाता है, उसके लिए समाज तत्काल खतरनाक हो जाता है···'लड़की ने शादी नहीं की। क्यों नहीं की ? आज़ाद तबीयत की होगी—और ऐसी तबीयत की लड़की क्या बीस वर्ष की उम्र में भी पुरुषों की उपेक्षा ही कर जायगी ? असम्भव !' और निन्दक समाज निन्दित का प्रसाद पाने भी आ जुटेगा—नृशंस, राक्षस !

शेखर की बुद्धि में मानों गाँठ पड़ गई, इससे आगे वह नहीं सोच सका···वह द्रुत गति से चक्कर काटने लगा, और हर कदम पर मुट्ठियाँ बाँधकर पूछने लगा, क्या करूँ—क्या करूँ—क्या करूँ ?···गति द्रुततर होती गई, कदम भी पाँच की बजाय तीन पड़ने लगे, इतनी जल्दी-जल्दी रुख बदलने से सिर भी घूम गया, पर प्रश्न का उत्तर नहीं मिला··· उसका आवेश, उसकी पराजित बुद्धि का आक्रोश बढ़ने लगा—उसने दोनों हाथों से सिर

पकड़कर मींज लिया, फिर मुट्ठियों में बाल भरकर मुट्ठियाँ जोर से घोंट लीं···बाल खिंचने लगे, उनकी पीड़ा से सिर को कुछ शान्ति मिली, पर प्रश्न···क्या करूँ···क्या करूँ ?···

"ओ मौलवी ओ—ए !"

मोहसिन बुला रहा था। उत्तर देने की शेखर की इच्छा नहीं थी। उस समय वह शशि की समस्या के और अपने प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानना चाहता था—किसी भी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं चाहता था ! वह और शशि की समस्या···

"मौलवी ओ-ए ! ओ मौलवी !"

उस शाम मोहसिन ने उसे नहीं बुलाया था, न जाने क्यों ? अब वह बार-बार पुकारता ही जा रहा था ; उसका स्वर ऊँचा ही उठता जा रहा था—

"मौलवी-ओ-ए ! मर गए ? ओ मौलवी !"

नहीं, वह पीछा नहीं छोड़ेगा। शेखर ने पुकारा, "पण्डित हो !"

"क्या कर रहे हो ?"

"कुछ नहीं।"

"बोले क्यों नहीं ?"

"ध्यान नहीं था !"

"रो रहे हो ?"

"नहीं—"

"अच्छा सो जाओ, मैं नहीं बुलाता।"

क्या उसे दुःख पहुँचा ? और क्या शेखर के स्वर से ही वह भाँप गया कि शेखर अशान्त है ? उसे कुछ परिताप हुआ। उसने अपने को मज़बूत करके आवाज़ दी—"पण्डित हो !"

"हाँ, ओ-ए !"

"गाना नहीं सुनाओगे ?"

"अच्छा ? तुम्हारा जी नहीं है—"

"नहीं, सुनाओ।"

"अच्छा।"

मोहसिन गाने लगा :—

शेखर ने दो-एक कड़ियाँ सुनीं और सोचने लगा, मोहसिन को इस समय यह गाना क्यों याद आया ? क्या मेरे लिए ही वह गा रहा है ? किन्तु शीघ्र ही उसका मन भटकने लगा, गाना सुनना वह भूल गया।

पूछता था, 'रो रहे हो ?' उसने कैसे जाना ? वह भी रोया होगा कभी—पर मोहसिन ? असम्भव। रोना आया होगा तो किसी से लड़ पड़ा होगा, बस ! बाबा मदनसिंह कहते थे, रोना अच्छा है—रोने से प्रकाश मिलता है। तीन वर्ष में सौ बार—बरस में तेंतीस—

महीने में क़रीब तीन बार···इतना रोए हैं बाबा? कितनी स्वच्छ है उनकी हँसी! कोई कल्पना करेगा कि यह आदमी रोता है? और मैं—

एक क्रुद्ध झपेटे से शेखर ने आँख में आई हुई बड़ी-सी बूँद पोंछ डाली। फिर वह बैठ गया।

नहीं रोऊँगा—नालायक! प्रकाश मिलता है तो मिले! मुझे नहीं चाहिए रोकर पाया हुआ प्रकाश। मैं अपना रक्त जलाकर प्रकाश पैदा करूँगा···रक्त के आँसू—रक्त के आँसू—क्या मतलब? रोना ही रक्त जलाना है? बकवास। कमज़ोरी के बहाने हैं।

—और मैं—ऐसा हूँ कि मोहसिन ने इतनी दूर से पहचान लिया कि मैं रोनेवाला हूँ··· इससे तो रोकर स्वच्छ रहना अच्छा—

नहीं, मुझे जवाब खोजना है। शशि के लिए मार्ग खोजना है···

वह उठकर जँगले पर चला गया, आकाश की ओर देखने लगा। इधर-उधर दो-चार तारे बिखरे हुए थे। अनजाने उसकी देह तन गई थी, उसके हाथ सीखचों को पकड़कर घुट गए थे—उसने चौंककर उन्हें छोड़ दिया।

नहीं, भीतर के इस उबाल को किसी तरह भी बिखरने नहीं दूँगा, किसी की सहायता नहीं लूँगा, स्वयं मार्ग खोजूँगा अपने लिए और शशि के लिए, शशि के लिए और अपने लिए···

और चक्कर काटना फिर आरम्भ हुआ—एक, दो, तीन, चार, पांच—एक, दो, तीन, चार, पांच···

और रात भी ढलती चली···ग्यारह, सब अच्छा! बारह, सब अच्छा! एक, सब अच्छा! दो, सब अच्छा!···शून्य—धुन्ध—शून्य···उसके आगे शेखर को बोध तब हुआ जब उसने देखा कि उसके मुँह पर धूप पड़ रही है, आठ बजे हैं, और वह थका-चूर खड्डी पर पड़ा है।

क्या हुआ था? स्मृति की लहर आई—शशि···

वह जान गया कि वह उसे क्या लिखेगा।

* * * * * * * * *

चिट्ठी लिख चुकने के बाद शेखर जैसे किसी तन्द्रा से जाग उठा; एकाएक उसके आस-पास का जीवन फिर उसके सामने आ गया, उसकी सब जिज्ञासाएँ पुनः जाग उठीं; मुकदमे की ओर भी कभी-कभी उसका ध्यान जाने लगा। न जाने क्यों मुकदमे की अब लम्बी-लम्बी तारीखें पड़ने लगी थीं। शायद सबूत कमज़ोर समझा जाने लगा था और सरकारी पक्ष नयी तय्यारी का प्रबन्ध चाहता था। शेखर कभी-कभी अदालत में बयान सुनकर सोचा करता कि उसका कितना प्रभाव किस ओर पड़ा है। पर प्रायः उसका ध्यान सिद्धान्त या व्यवहार के ऐसे प्रश्न लिए रहता जिनका दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं—ऐसे प्रश्न जो विद्याभूषण से टक्कर होने पर बार-बार जाग उठा करते···

बाबा मदनसिंह से मिले शेखर को कई दिन हो गये थे। एक दिन अकस्मात् शेखर को विचार आया कि जो प्रश्न वह विद्याभूषण से पूछा करता है वह बाबा से पूछे—बाबा की बातों से जान पड़ता था कि वे जो उत्तर देंगे वह शास्त्रीय चाहे हों चाहे न हों, उसके पीछे गम्भीर विचार की शक्ति अवश्य होगी…

दूसरी बार मिलने पर भी बाबा मदनसिंह का आनन्दित विस्मय और स्वागत-भाव उतना ही सरल था जितना पहली बार; पर उसके बाद फौरन ही उन्होंने गम्भीर होकर पूछा था, "आप चिन्तित दीखते हैं—क्या बात है?"

बाबा से बात करना, प्रश्न करना कठिन नहीं था। शेखर ने संक्षेप में अपने और विद्याभूषण के विवादों की बात उनसे कह दी, और फिर पूछा, "मैं आपकी राय जानना चाहता हूँ। पहले हिंसा का प्रश्न लीजिए। क्या हिंसा उचित है? और क्या वह लाभकर है?"

बाबा मदनसिंह ने आँगन के फाटक की ओर देखकर पूछा, "आप अकेले हैं?"

इधर कुछ दिनों से वार्डर ने अपने कामों में काफ़ी ढील देनी आरम्भ की थी—केवल बन्द करने का समय वह नहीं भूलता था। बाकी उसने शेखर पर छोड़ दिया था—"बाबू साहब, आप समझदार हैं, मुझ गरीब पर कोई मुसीबत न लाइएगा।"

बाबा मदनसिंह बोले, "देखिए, मैं आपसे कह चुका कि मैं पढ़ा-लिखा आदमी नहीं हूँ। मेरी बात में कुछ सार होगा तो इसीलिए कि मैंने जो पढ़कर नहीं जाना उसे सहकर जानने की कोशिश की है। यह भी मैं कह चुका हूँ कि जेल में आदमी स्वाभाविक ढंग से नहीं रहता या सोचता, उसका तर्क विकृत होता है। तब मेरी बात का क्या मोल? मेरे तो कुछ-एक सूत्र हैं जो मैंने अपनी तसल्ली के लिए गढ़ लिए हैं। एक सूत्र यह भी है कि हरएक को अपना रास्ता खुद बनाना चाहिए। यह सूत्र तो आपके शास्त्र में भी होगा?"

"शेखर ने कहा, "मैं भी तो जेल में हूँ—अस्वाभाविक अवस्था में। तभी ये प्रश्न भी मेरे लिए इतने बड़े बन गए हैं—स्वाभाविक जीवन में इतनी बातें कहाँ सूझतीं? बाहर तो प्रायः पाँचों ही इन्द्रियों से जीना होता है, यहाँ छठी ही पीछा नहीं छोड़ती। तो समाधान भी अगर अस्वाभाविक हो तो क्या बुरा है? मुझे लगता है कि आपकी बात ही ज्यादा सच होगी, क्योंकि आप उसकी कमज़ोरी भी दिखाते जाएँगे।"

"आप पूछते हैं, तो मैं कहता हूँ। पर मेरी बात सुनकर भूल जाइएगा, मानिएगा नहीं! कभी—अगर आपको यहीं रहना पड़ा—तब आप खुद सब बातें जान लेंगे—आप तो पढ़े-लिखे भी हैं—तब चाहे इस बुढ़ऊ की बातें याद करके मिलान कर लीजिएगा कि कहाँ क्या फ़र्क है।"

"अच्छा।"

"सूत्र कहने से आपको अच्छा नहीं लगेगा—आप ही की बातें लेकर चलता हूँ। मैं प्रकृति को बड़ी चीज़ मानता हूँ। यह भी मानता हूँ कि उसके नियम एक बहुत विशाल बुद्धि पर, प्रज्ञा पर, टिके हुए हैं। और मुझे मानव-जाति के भविष्य में गहरा विश्वास है। ये बातें

मैंने जान-बूझकर कहीं हैं—अभी आपको शायद व्यर्थ लगेंगी।" क्षण-भर रुककर वे आगे कहने लगे, "आपको लगता है, हिंसा नकारात्मक है, निरा संहार है, उससे सृजन नहीं हो सकता। बिल्कुल ठीक। पर यह आप कैसे जानते हैं कि जिस चीज़ से सृजन नहीं होता वह ग़लत ही है? और यह भी आप कैसे मानते हैं कि सृजन करना आप ही के हाथ में है?"

शेखर कुछ बोला नहीं, अपनी मुद्रा से ही उसने यह दिखाया कि वह समझा नहीं, बाबा का इशारा किधर है।

"आपने किताबों में पढ़ा होगा, जब घर में स्वच्छ हवा का संचार करना होता है तब केवल हवा निकलने के मार्ग बनाए जाते हैं। प्रवेश उसका अपने-आप हो जाता है। जब आप साँस लेते हैं, तब उसे निकालने में ज़ोर लगाते हैं, फिर फेफड़े भर अपने-आप जाते हैं। इसको सूत्र में बांधकर वैज्ञानिक कहते हैं कि शून्य प्रकृति को नापसन्द है। हां, यह सूत्र आपको याद आया दीखता है। मेरा सूत्र यह है कि सबसे आवश्यक देवता रुद्र हैं—ब्रह्मा तो आवश्यकता-अनावश्यकता के फन्दे से परे हैं। हमें विनाश के गणों की रचना करनी होगी; सृजन, जन्म—आपके शब्दों में रचनात्म चीज़—तो अनिवार्य है। क्षति-पूर्ति स्वयंभू है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है। इसीलिए मैं आज के संहारकारी युग में भी मानव के भविष्य में विश्वास करता हूँ—भविष्य वर्त्तमान् की क्षति-पूर्ति है, इसलिए वह स्वयंभू है, उससे निस्तार नहीं है।"

बाबा ने रुककर शेखर की ओर देखा। मानों कुछ सन्तुष्ट होकर वे फिर कहने लगे, "इस तर्क से शायद हमारे अभिमान को चोट पहुँचती है। अगर संहार और सृजन प्रकृति का भाटा और ज्वार है तो हम कहां हैं? क्या हम प्रकृति की उद्देश्यपूर्ति के निमित्त से अधिक कुछ नहीं हैं? क्या हम भाग्य-बद्ध हैं? क्या आत्म-निर्णय झूठ है? इन प्रश्नों का उत्तर नहीं है, क्योंकि ये प्रश्न हर किसी के मन में नहीं उठते। और जिसके मन में उठें वह अपने सूत्र खुद ढूँढ़े।"

वे फिर कुछ देर के लिए रुक गए।

"नश्तर की और चिकित्सा की बात मुझे नहीं जँची। मुझे लगता है कि प्रश्न को इस ढंग से रखना ही ग़लत है कि 'हिंसा हो या न हो।' प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? क्योंकि यह आपकी बात मैं मानता हूँ कि 'हिंसा के लिए हममें स्वाभाविक घृणा है तो उसका कारण होना चाहिए।' यह आपका सूत्र—" एक मुस्कराहट उनके चेहरे पर दौड़ गई - "बहुत महत्त्व का है। हां, तो अहिंसा क्या है? यह तो स्पष्ट है कि निष्क्रियता वह नहीं है। निष्क्रियता, कायरता, सबसे भीषण और घृणित प्रकार की हिंसा है। तब अहिंसा क्या है? अगर आत्म-पीड़न, आत्म-बलिदान अहिंसा है, तब हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'अहिंसात्मक' रक्तपात भी हो सकता है। इस बात को मान लेने पर फिर यह क्यों कहा जाय कि सब रक्तपात हिंसा है?"

बाबा मदनसिंह ने फिर एक बार स्थिर दृष्टि से शेखर की ओर देख लिया।

"यह तर्क अच्छा नहीं है। आपके कहने से पहले ही मैं स्वीकार कर लेता हूँ। मैं इसे पेश कर रहा हूँ तो इसलिए कि आपका ध्यान एक और बात की ओर जाय—कि रक्तपात कभी सामाजिक कर्त्तव्य हो जाता है। अगर ऐसा है तो, वह रक्तपात अनुचित नहीं रहता, और अहिंसात्मक वह हो ही सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि अगर आत्म-संहार अहिंसात्मक हो सकता है, तो फिर रक्तपात के हिंसा या अहिंसा होने की कसौटी सामाजिक—या कह लीजिए आध्यात्मिक—आवश्यकता ही होगी। यह नहीं कि गिरा हुआ रक्त मेरा है या दूसरे का। मेरा रक्त किसी के रक्त से पतला नहीं है।"

शेखर का मन विचलित हो गया था। उसे बाबा का तर्क पसन्द नहीं था, परिणाम भी पसन्द नहीं थे, पर वह सोचने का समय चाहता था। वह बोला, "यह आज के लिए काफ़ी है। इसे चबा लूँ, फिर आगे सही। अगर इसमें गुठलियाँ निकलेंगी तो आप ही के पास लाऊँगा फोड़ने के लिए।" वह हँस पड़ा।

"ठीक है। मैं अपनी गुठलियाँ अपने लिए फोड़ूँगा। आज अपने फल स्वयं पकाइए और खाइए। मैं तो एक कलम के नमूने पेश कर रहा हूँ।" बाबा भी हँस दिए। फिर कहने लगे, "जब आप गुठलियाँ मुझी से चबवाएँगे, तो एक फल और लेते जाइए। मैंने कहा था न बुड्ढों को कोई सुननेवाला चाहिए।"

"कहिए—"

"मैंने कहा कि अहिंसा ठीक है, पर उसकी परिभाषा ठीक हो तभी। सफल भी वह तभी हो सकती है। मुझे लगता है, अहिंसा उपयोगी तभी होगी जब वह आक्रामक अहिंसा हो---यानी जब वह केवल पारिभाषिक अहिंसा रह जाय। जैसे बहिष्कार में--बहिष्कार तभी सफल होता है जब उसे अस्त्र के रूप में किसी विशिष्ट व्यक्ति या संगठन के विरुद्ध बरता जाय--सारी दुनिया का बहिष्कार अपना ही बहिष्कार होगा। अब भारत चाहे कि सारी दुनिया का व्यापारिक बहिष्कार कर दे, तो वह असम्भव भी है और व्यर्थ भी, क्योंकि वह ब्रिटेन के विरुद्ध नहीं पड़ेगा और हमें उससे स्वाधीनता नहीं दिलाएगा। सफल वह तब होगा जब कि उसे ब्रिटेन के विरुद्ध केन्द्रित किया जाय, यानी आक्रमण का साधन बनाया जाय। यह स्पष्ट है कि अहिंसा केवल पारिभाषिक अहिंसा है क्योंकि अहिंसा में तो आक्रमण की भावना नहीं होनी चाहिए, आत्मरक्षा के लिए भी नहीं। है न?"

उत्तर में शेखर ने एक अनिश्चित "हूँ।" किया, मानों अभी वह किसी तरफ़ उत्तर देने को तय्यार नहीं है।

"और अगर परिभाषाओं पर लड़ना है तो 'सच्ची' अहिंसा आत्मपीड़न है जो अन्ततोगत्वा एक प्रकार की हिंसा ही है। पर इस फिजूल के शब्द-कलह को छोड़कर काम की बात सोचें। यह मैंने कहा कि अहिंसा सफल तभी होगी जब वह आक्रामक हो, यानी केवल शाब्दिक अहिंसा हो; दूसरी ओर हिंसा आक्रामक हुए बिना भी, केवल स्वरक्षात्मक होकर भी सफल

हो सकती है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि उदाहरण बेकार है। आप जानते हैं कि कानून भी स्वरक्षात्मक हिंसा को मानता है। तो नतीजा यह निकला कि हिंसा स्वरक्षात्मक भी सफल हो सकती है—यानी केवल पारिभाषिक हिंसा, क्योंकि बिना आक्रमण के हिंसा कैसी ? अब पारिभाषिक अहिंसा और इस पारिभाषिक अहिंसा के बीच में लकीर खींचना मेरा काम नहीं है—निकम्मों का काम है।"

बाबा मदनसिंह चुप हो गए। कुछ देर शेखर प्रतीक्षा करता रहा कि वे शायद आगे बोलेंगे, जब वे नहीं बोले तब शेखर ने सोचते-सोचते कहा, "तो परिणाम क्या निकला ?"

"परिणाम ?" बाबा जोर से हँसे। "मैंने अपनी बातें कह दीं। अब इनको एक सूत्र में आप बाँधिए !"

शेखर कुछ कहने को था कि उसने बाहर पैरों की आहट सुनी—शायद वार्डर उसे बुलाने आया था। स्वयं उसी को विस्मित करनेवाली प्रत्युत्पन्न मति से उसने, ऊँचे स्वर से कहा, "यह मजे की रही। फिर साहब ने क्या कहा ?"

बाबा ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर मुस्कराकर कहने लगे, "आप बहुत जल्दी सीखने लगे—यह है स्वरक्षात्मक हिंसा या झूठ !—हाँ तो—" फाटक पर खड़े वार्डर की ओर देखकर, "साहब, क्या कहता ! अपना-सा मुँह लेकर चला गया।"

वार्डर ने कहा, "बाबू साहब, आप यहाँ हैं, मैं तो—"

शेखर ने अनसुनी करके कहा, "अभी दूसरी बात तो रह ही गई। खैर, बाकी फिर किसी दिन सुनूँगा।"

वार्डर ने अपनी बात समाप्त की, "मैं तो खोजता-खोजता हैरान हो गया। अब चलिए न !"

शेखर चल पड़ा।

बाहर वार्डन ने पूछा, "बाबा आपको अपने झगड़े की बात सुना रहे थे क्या ?"

"क्यों ?"

"वही सबको सुनाया करते हैं। पहले साहब से झगड़ा हो गया था। साहब की नाकों दम कर दिया बुड्ढे ने।"

"हूँ।"

वार्डर ने मानों पुरानी बातें याद करते-करते कहा, "बुड्ढा कभी तूफ़ान ही रहा होगा। पर है विचारा बड़ा सन्त आदमी—तबीयत का बिल्कुल ग़रीब है।"

"हूँ।"

शेखर बन्द हो गया। वार्डर ताला बन्द करके खड़काकर चला, तो शेखर धीरे से हँस दिया—एक मीठी हँसी !

*　　　*　　　*
* *　　　* *　　　* *

जो आदमी जीवन द्वारा जीने का आदी है, उसे यह असह्य है कि उसे जीवन के बचे-खुचे बासी टुकड़े ही मिलें, जीवन का उच्छिष्ट मिले—किन्तु बन्दी शेखर के लिए यही विधान हो गया था···यह विचार ही उसको असह्य था, पर आता था वह बार-बार, और हर बार मानों उसको बाँधनेवाले लोहे के किवाड़ों का एक सोखचा उसकी अन्तर्ज्वाला से ही तप्त होकर उसके हृदय में घुस जाता था···

बाहर के संसार से—शशि से—उसका एक सम्बन्ध रह गया था निर्जीव काग़ज़ के पन्ने, उस पर निर्जीव लिपि के अक्षर···भाषा सजीव होती है, दर्द सजीव होता है, पर क्या उनके प्राण इस ज्ञान के आगे टिक सकते हैं कि आज जो उसके सामने है, उसमें जीवन का स्पन्दन तीन दिन, या सात दिन, या दस दिन पहले था ?···

शेखर को शशि का पत्र मिला, तो ऊपर तारीख देखकर उसे अनुमान नहीं हुआ कि चिट्ठी उस तक पहुँचने में जो नौ दिन लग गए हैं, वे उसके जीवन-प्रवाह के एक युग का अधिकांश एक ही घूँट से पी गए हैं। वह बढ़ती हुई वेदना से सारा पत्र एक बार पढ़ गया, फिर दूसरी बार पढ़ गया—हाँ, वेदना बहुत थी, पर इतनी नहीं कि वह फूट जाय, निर्वेद हो जाय—वह पीछे आई जब बाँया हाथ उठाकर उसने तारीखें गिनना शुरू किया, और जाना चौदह में से नौ जायँ तो पाँच बचते हैं···

अबकी बार शशि का पत्र छोटा था। शेखर से वह सहमत थी कि जीवन में हरएक को अपना मार्ग स्वयं खोजना होता है, हम किसी को मार्ग नहीं बता सकते, किसी को प्रकाश भी नहीं दिखा सकते, हम कर सकते हैं तो इतना ही कि पथिक के पैर दाब दें, उसका कवच कस दें, अगर उसके पास दीया है तो उसकी बत्ती कुछ उकसा दें। और इसलिए वह शेखर के प्रति दुगुनी कृतज्ञ है कि वह उसके लिए इतना करके उसके आगे भी जा रहा है, वह उसके दीपक में स्नेह भी भर रहा है।···"भविष्य क्या है, नहीं जानती ; और मैंने जो मार्ग अपने लिए निर्धारित किया है, उसमें भविष्य होने न होने का प्रश्न भी नहीं है। वह इतना ज्वलित है ; पर इतना मैं आज तुम्हें कहती हूँ कि तुमने जो मुझे दिया वह मैं उसमें नहीं भूलूँगी। तुमने लिखा है निर्णय मेरा है, पर उसका आदर करना तुम्हारा है ; तुमने लिखा है एक निश्चय में मुझे तुम्हारा आन्तरिक आशीर्वाद, स्नेह और सद्भावना प्राप्त होगी, दूसरे निश्चय में तुम्हारा सहयोग और संरक्षण और आवश्यक होने पर तुम्हारे हाथों का परिश्रम और तुम्हारे पसीने की रोटी ; तुम्हारी उदारता में मैंने दोनों पा लिए हैं, और अब चुनने के नाम पर तुम्हारा आशीर्वाद ही चुनती हूँ। मैंने माँ से कह दिया है कि मुझे इस मामले में किसी तरह की कोई दिलचस्पी नहीं है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।"

कठोर और कड़वा और स्वयं नारी की तरह चिरन्तन शशि का निर्णय—कठोर और कड़ुआ चिरन्तन उसका यह अपनी आहुति दे देने का निर्णय—कठोर और कड़वा और चिरन्तन नारी का अभिमान कि जो समाज उसका आदर नहीं करता उसी के हाथों नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-त्रस्त-ध्वस्त होकर वह उसकी अवमानना करेगी···आशीर्वाद ? क्या आशीर्वाद हो उस नारी

को क्षुद्र पुरुष का ? कि तू हुतात्मा हो, तेरी ज्वाला उज्ज्वल और सुगन्धित और निर्धूम हो ! लज्जा, क्षोभ और आत्मग्लानि से शेखर ने अपनी बँधी हुई मुट्ठी छाती में मार ली···

क्यों उसने शशि को अपनी सम्मति नहीं दी थी ? क्यों नहीं उसे कहा था कि समाज पर अपने को बलि देना अपनी और समाज की भी विडम्बना है ? क्यों नहीं कहा था कि समाज उसकी विविक्त इकाइयों का समूह है, और इकाई की अवहेलना समाज की अवहेलना है ? क्यों नहीं कहा था कि अन्याय को सहना उसका भागी बनना है ? क्यों स्वाधीनता दी थी निर्णय की ? क्यों दोनों सूरतों में सहानुभूति का वचन दिया था ?

उसे याद आया कि उसने क्या लिखा था···कि यह मामला शशि का है, शशि के अतिरिक्त किसी का भी नहीं है, और इसमें परामर्श भी किसी का ग्राह्य नहीं है, माँ का भी नहीं, शेखर का भी नहीं···शशि, निपट अकेली शशि, इस समस्या से लड़े और किसी निष्पत्ति तक पहुँचे ; बाकी यही कर सकते हैं कि सहानुभूति-पूर्वक देखें, अपनी इच्छा-शक्ति से उसे इतनी प्रेरणा दें कि वह ठीक ही परिणाम पर पहुँचे, यह आश्वासन दें कि निर्णय जो भी हो, वे उसके साथ हैं···'और मैं तुम्हारे साथ हूँ, शशि, तुम विवाह हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य में मिटा दो, तब भी मेरी सारी शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुए मार्ग में अडिग रहो ; और वैसा तुम नहीं करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की बजाय समाज के विरोध से ही टक्कर लेना चाहो, तो भी मैं तुम्हारे साथ हूँ। वह तुम्हें अलग कर दे, घर-बार भी तुमसे छूट जाय ; तो मेरा अकिंचन सहयोग तुम्हें मिलेगा; अगर अपने हाथों के परिश्रम से मुझे तुम्हारी रोटी प्राप्त करनी पड़ेगी तो वह मेरा गौरव होगा···मैं जानता हूँ कि तुमने मुझे जो सीख दी है उसका मूल्य मैं किसी तरह नहीं चुका सकता, उसके लिये कृतज्ञता भी दिखा सकता हूँ तो केवल इतनी कि उसी पर चलते-चलते, या चलने की चेष्टा करते-करते समाप्त हो जाऊँ । इतनी भी कृतज्ञता न दिखा सकूँ, ऐसा बुरा मैं नहीं हूँ—पहले रहा भी होऊँ तो तुम्हारी सीख का मुकुट पहनकर अब नहीं हूँ । मैं तुम्हारे साथ हूँ, चाहे जिधर भी तुम जाओ ; किधर जाओ, इसका उत्तर तुम्हें तुम्हारे भीतर का आलोक दे···'

शशि ने मार्ग चुन लिया। 'आज के ठीक दो सप्ताह बाद, आज ही के दिन, मैं—ओह शेखर, यह वाक्य अधूरा ही क्यों नहीं रह जाता !' और यह नौ दिन पहले का पत्र है—केवल पाँच दिन और !

क्यों किस चीज़ ने बाधित किया शशि को यह निर्णय करने के लिए ? क्या बुद्धि ने ? विवेक ने ? क्या डर ने ? अक्षमता ने ? क्या हृदय ने ? चाह ने ? क्या आत्मा ने ? अभिमान ने ?

"मैं जानती हूँ, मेरी सम्पूर्ण अनिच्छा है। पर क्या मुझे अनिच्छा का, अनिच्छा के बाद अस्वीकृति का, अधिकार है ? समाज का मैं अङ्ग हूँ, उसके प्रति मेरी जवाबदेही है, पर उसकी मैं उपेक्षा कर सकती हूँ क्योंकि वह मेरे प्रति कर्तव्यशील नहीं है और फिर उसके आदर्श भी

बदलते रहते हैं और रहेंगे। पर माँ—माँ तो सनातन है, सदा माँ है, उसके प्रति भी तो मेरा कर्तव्य है··· माँ विधवा हैं, फिर उनके अपने संस्कार हैं। मेरी अस्वीकृति समाज के सम्मुख उनकी क्या अवस्था करेगी, यह तो अभी नहीं कह सकती, पर स्वयं अपने ही सामने उन्हें तोड़ देगी। वे कुछ नहीं कहेंगी, मैं जानती हूँ; पर क्या उससे मुझे कुछ दीखेगा नहीं? उनका मौन उनकी व्यथा को धार देदेगा जिस पर मैं हर समय कटती रहूँगी···मैं अपना युद्ध लड़ सकती हूँ, पर मुझे क्या अधिकार है, मैं उनसे अपना युद्ध लड़वाऊँ?···और अगर किसी को मूक होकर जलना ही है, तो वह कोई मैं ही क्यों नहीं होऊँ? मैं तो विवाह के बाद चली जाऊँगी, माँ या कोई भी मेरा होम नहीं देखेगा—मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं देखेगा उसे! इस दुःख को अपने बन्धुओं के घेरे से बाहर ले जाने का यही एक तरीका है···शेखर, यही मेरा निर्णय है, आशीर्वाद दो कि मैं साभिमान इसे निभा ले जाऊँ···"

क्या शशि ठीक कहती है? क्या वह बेठीक ही कहती है?

पर सच वह अवश्य कहती है कि दुःख किसी का अवश्य है, प्रश्न यह है कि कौन बढ़-कर उसे अपने कंधों पर ले ले, कौन उसे झेलने में इतना विशाल अभिमान जुटा सके कि वह आसानी से झिल जाय···

उसे अपनी ही लिखी हुई दो-चार पंक्तियाँ याद आईं जो उस समय तक केवल एक शव थीं किन्तु इस समय प्राणोन्मेष से दीप्त हो उठीं—

I have burned in solitude
And burning has brought its own solace
In more quenchless burning...

(मैं एकान्त में जला किया हूँ, और जलना अपना ही शमन लाया है और भी अनबुझ जलने के रूप में···)

क्या यही है प्रातिनिधिक यन्त्रणा का वह सिद्धान्त, जो उसने कहीं पुस्तक में पढ़ा था और अग्राह्य मानकर छोड़ दिया था—कि हमारी यातना किसी दूसरे के पाप का प्राय-श्चित्त हो सकती है? क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे का ईसामसीह है, किसी दूसरे का क्रूस ढोनेवाला है? क्या यही है यातना के इस कुम्भीपाक में आलोक की प्रथम और अन्तिम किरण···

व्यथा से शेखर को रोमांच हो आया···

दूसरा पत्र आने में उतना समय नहीं लगा—पर जितना समय लगा था, उतना क्या कम था? शशि ने लिखा था, "आज मेरी उस अवस्था का अन्तिम दिन है जिसमें अपने आत्मीयों से अलग एक सम्बन्धी मेरा था—मेरे बहिनापे में घिरे हुए तुम! कल से मेरा पहिला परिचय होगा, अमुक की स्त्री; और सब सम्बन्ध उसके बाद आएँगे।···न जाने यह पत्र तुम्हें कब मिलेगा, पर जब भी मिले, तुम उस शशि को आशीर्वाद देना जो आज तक

तुम्हारो बहन थी और उसके अतिरिक्त किसी की कुछ नहीं थी; किन्तु कल वैसा नहीं रहेगी ; और जो आज इस पद से अन्तिम बार तुम्हें प्रणाम करती है…"

शशि ने शेखर के अभ्यन्तर का कोमलतम मर्म छू लिया था—दर्द इतना था कि शेखर आह भी नहीं कर सकता था…अन्तिम बार प्रणाम…मेरे बहनापे में घिरे हुए…उसके अतिरिक्त कुछ नहीं…

यह सच था—उफ़ कितना सच !—कि शशि ने ही उस 'न कुछ' को खींचकर सगेपन का गौरव दिया था—ऐसे दिया था जैसे कभी किसी ने नहीं दिया था—उसकी अपनी दो सहोदरा बहनों ने नहीं…शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया था, एक ऐसी निधि दी थी जिसके गौरव के लिए जीना और लड़ना और मरना स्वयं पुरुष का गौरव है…तब क्या यह भी सच है कि आज उस निधि के रक्षकत्व का अन्तिम क्षण है ?—आज क्यों, आज तो शशि को नये संरक्षण में गए हुए भी दो दिन हो गए !—क्या जो आरम्भ ही नहीं हुआ था वह आज समाप्त होने जा रहा है ?

वेदना…कोई उसके भीतर कहता है, वह नहीं थी सहोदरा, नहीं थी बहिन ; जो हुआ है वह होना ही था …उसे दुःख का अधिकार नहीं है…हाँ, नहीं है अधिकार, अधिकार होता तो दुःख क्यों होता ? दुःख उसको मेरी स्नेह की भेंट है, जैसे बहिनापा उसका मुझे स्नेह का दान था ! नहीं है वह सहोदरा, वह सहजन्मा है ; एक खण्डित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित हुई है…तभी तो…तभी तो…शेखर अपने को देखता है, और नहीं समझ पाता कि कहाँ वह अपंग हो गया है—यद्यपि एक गहरी टीस उसमें उठती है और एक मूर्च्छना भी उसके बचे हुए गात पर छाई जा रही है …

किन्तु कर्तव्य अभी बाक़ी है—यन्त्रवत् शेखर ने काग़ज़ और कलम उठाया, एक छोटा-सा आशीर्वाद का पत्र लिखकर लिफाफे में बन्द किया, पता लिखा और वार्डर को बुलाकर दफ़्तर में भिजवा दिया। दूसरा मार्ग नहीं था—और किसी तरह पत्र भेजने में बड़ी देर लगती।

तब एकाएक क्षत-विक्षत और शून्य निष्प्राण शेखर चक्की पर सिर टेककर खड़ा हो गया। उसकी निविड़ वेदना में ज्वाला की तरह उसके अन्तरङ्ग को फोड़ता हुआ कुछ फूट निकला…

जल, ऊर्ध्वगे, जल यज्ञ-ज्वाले जल ! उत्तप्त जल, उज्ज्वल और सुवासित जल, क्षारहीन और निर्धूम और अक्षय जल ! यह मुझ अभागे का तुझे आशिर्वाद हो ! तब आँसू आए, घने और झरझर ··

* * *
** ** **

फिर एक बार कुहासा शेखर के प्राणों पर छा गया। पर अबकी बार उसमें जैसे विरोध-भाव नहीं जाग्रत हुआ। अपने रोने पर क्षोभ नहीं हुआ, परास्त हो जाने के ज्ञान का प्रतिकार करने की भी इच्छा नहीं हुई। वह मानों अस्तित्व के किसी निचले स्तर पर उतर आया। जीवन शिथिल हो गया, और शैथिल्य स्वाभाविक धर्म मालूम पड़ने लगा।

शेखर ने 'साहब' से अनुमति माँगी कि उसे पहले सिरे की एक कोठरी में रखा जाय। 'साहब' ने विस्मित होकर कारण पूछा, और यह जानने पर कि शेखर एकान्त चाहता है, मुस्कराकर अनुमति दे दी। "तुम स्वयं अपनी आज़ादी कम करना चाहते हो तो तुम जानो। वहाँ पर तुम्हें वहीं के नियम मानने पड़ेंगे—बन्द भी रहना पड़ेगा। हाँ, अगर फाँसीवाले अधिक हो गए तो वहाँ से हटना पड़ेगा।" शेखर ने मौन स्वीकृति दे दी।

फाँसी की कोठरी साफ़-सुथरी थी। पक्का फ़र्श था, चक्की कोई नहीं थी, पतरे के लिए फाटक के पास कोने में अलग जगह बनी हुई थी जहाँ से पानी बाहर को बह जाता था, अतः कोठरी में बदबू नहीं थी। शेखर दिन में बन्द रहता, सुबह-शाम टहलने बाहर निकलता और तलाशी के बाद बन्द हो जाता। ये नियम उसे पसन्द नहीं थे, पर वह मानों अपनी देह से हटकर कहीं रहता था, ये उसे छूते ही नहीं थे। दिन-भर वह अर्धसुप्त-सी अवस्था में रहता—जैसे अफ़ीमची अफ़ीम न मिलने पर रहते हैं। केवल सायं-प्रातः जैसे उसकी तन्द्रा टूट जाती, वह जानता कि वह जीवित है।

उषःकाल से लेकर टहलाई के लिए द्वार खुलने तक, और शाम को टहलाई के बाद बन्द होने से लेकर दिनावसान तक—ये दो मुहूर्त्त न जाने कैसे थे कि दिन-भर मुरझाए रहनेवाले प्राण उसके भीतर एकाएक प्रदीप्त हो उठते थे—चार-साढ़े चार बजे उसकी नींद खुलती, तब वह पलटकर सिर फाटक की ओर कर लेता, और आकाश की ओर देखकर मन के मनके फेरा करता; कभी वर्षा हो रही होती तो बूँदों का स्वर उसके विचारों पर ताल देता चलता···

फूटते आलोक की पहली किरण के साथ, मिटते आलोक की अन्तिम दीप्ति के साथ, तीर-सा एक प्रश्न शेखर के हृदय को बेध जाता, 'क्या आत्महुति देकर वह सुखी है?" उसका पत्र फिर नहीं आया था; जानकारी के लिए शेखर के पास कुछ नहीं था सिवाय अपनी समझ के—कितनी क्षुद्र समझ!—और अपनी समवेदना के—कितनी असमर्थ समवेदना!

क्यों नहीं लिखा उसने? क्या दुःख में है इसलिए? या सुखी है इसलिए?

कभी व्याकुलता इतनी उग्र हो उठती कि वह दाँत भींचकर, मुट्ठी बाँधकर, फ़र्श पर, ऊँगले पर, दे मारता, एक बार, दो बार, तीन बार···जब तक कि जोड़ों पर से खून न फूट आता—तब उस रक्त को वह माथे पर पोंछ लेता और उसकी ललाई से उसे कुछ शान्ति मिलती! कभी अपने ही कार्य से घबराकर पूछ उठता, क्या मैं पागल हो गया हूँ? पर तत्काल ही पहला प्रश्न इस दूसरे प्रश्न को निकाल देता, और मानों इस अल्पकालीन विस्मृति के दण्ड-स्वरूप स्वयं अधिक तीव्र हो उठता···

किन्तु दिन में इतनी शक्ति का संचय कभी न होता, वह केवल एक क्षीण-सी चिन्ता में सोचा करता, क्या वह आत्मबलिदान उचित हुआ?···कौन कह सकता है? कोई नहीं

जानता—जाननेवाली, कहनेवाली, निश्चय करनेवाली एकमात्र शशि है ! यह प्रश्न उसका प्रश्न है···बाबा मदनसिंह ने भी तो कहा था, हरएक को अपना रास्ता खुद खोजना होता है···

कभी उसे इसमें भी सन्देह हो आता। क्या सचमुच यह व्यक्तिगत प्रश्न है ? क्या सामाजिक उत्तरदायित्व इसमें शामिल नहीं है ? व्यक्ति अपने को रखे या बलि दे, अच्छे काम में बलि दे या बुरे में, क्या इसका एकमात्र निर्णायक वह व्यक्ति स्वयं है और समाज को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है ? उसका मन भटकने लगता···यह तो वही पुराना हिंसा और अहिंसा का प्रश्न है···

चाहे यह अपने प्रश्न का उत्तर पाने की उत्कट इच्छा रही हो, चाहे केवल कुछ घूमने-फिरने की; शेखर बाबा मदनसिंह से मिलने गया। और न जाने क्यों उसकी पुरानी जिज्ञासाएँ उबल पड़ीं ; शशि का प्रश्न भी बीच में उलझ गया और शेखर हिंसा-अहिंसा और सामाजिक दायित्व के पचड़े फिर ले बैठा।

बाबा बोले, "देखिए, आजकल न जाने मन क्यों बहुत दुःखी रहता है। शायद मैं कोई नया सूत्र पानेवाला होऊँ, शायद केवल बुढ़ापा ही हो। इसलिए आपके सवालों का जवाब सूत्रों में ही—पुराने सूत्रों में ही—दूँगा। प्रश्न अवश्य सामाजिक भी है। मुझे दीखता है कि हमारा भारतीय जीवन और दर्शन अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी है,—जैसे, हम मुक्ति का साधन यही मानते हैं कि जहाँ तक हो सके अपने को समाज से अलग खींच लें और 'आत्मानं विद्धि।' इस व्यक्तिवाद का परिणाम है कि हम पाप-पुण्य भी व्यक्तिगत ही समझते हैं। तभी तो हमारे धर्मात्मा लोग साँपों को दूध पिलाना भी पुण्य समझते हैं। सामाजिक दृष्टि से यह हिंसा है। दूसरी ओर पश्चिम का जीवन और दर्शन हमारे बिल्कुल विपरीत है। वह बहिर्मुखी और समाजवादी है। उसका मानदण्ड भिन्न है, उसकी समझ में हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक कलाबाज़ी और कायरता है। हम उन्हें निकृष्ट पदार्थवादी कह सकते हैं, वह हमें थोथे अध्यात्मवादी कह सकते हैं। पर इस गाली-गलौज से भी यह बात नहीं छिपती कि हम दोनों एक दूसरे के आदर्श नहीं भूल सकते। खासकर हम लोगों को अपने आदर्शों में सुधार की ज़रूरत है क्योंकि हम नीचे हैं।" कुछ देर चुप रहकर बाबा मुस्कराए, "भेड़ों की तरह झुण्ड बाँधकर रहेंगे, तो भेड़-चाल चलनी पड़ेगी। भेड़-चाल का सभ्य नाम संस्कृति है।"

शेखर कुछ देर तक चुपचाप खड़ा रहा। चेहरे पर एक साथ पड़ी दो बूँदों ने उसे चौंका दिया। उसने ऊपर देखा, आकाश में सावन के घने बादल थे, और पश्चिमी क्षितिज पर एक मटमैला धब्बा क्रमशः फैलता हुआ बढ़ रहा था—उसके भीतर से मानों किसी तरह का प्रकाश फूट रहा था।

"अन्धड़ आ रहा है।"

"अच्छा ही है, मुझे आजकल इसकी ज़रूरत थी।" बाबा की आँखों पर भी एक बादल छा गया। "वह कहानी का पठान बाहर चला गया था, तब जेल की अवधि नहीं गिनता

था, पर मेरे लिये तो 'कुछ न होना' ही स्थायी हो गया है। ये इक्कीस वर्ष मुझ पर बोझ हो गए हैं। इसीलिए आंधी-तूफ़ान से कुछ सहारा मिलता है।"

शेखर ने विस्मय से उनकी ओर देखा, उस क्षण में बाबा उसे पहली बार बूढ़े लगे—उनकी आंखें बूढ़ी हो गई थीं, और धवल जटा और धवल दाढ़ी से भी कितनी अधिक बूढ़ी! मानों शाप-ग्रस्त प्रथम मानव का शाप उनमें चमक गया हो!—'अपने दुःख के सहारे ही तू जिएगा!'

वह सहमा हुआ-सा धीरे-धीरे लौट पड़ा।

कोठरी की ओर लौटते हुए शेखर के भीतर सहसा ग्लानि उमड़ आई। कितनी घोर लज्जा की बात है कि वह इस समय कोरी बौद्धिक उलझनों में पड़ा हुआ है जब कि शशि पर न जाने क्या-बीत रही होगी···मानसिक क्लेश, शायद शारीरिक यातना—वह चलते-चलते ठिठक गया—कौन जाने क्या अवस्था होगी इस समय शशि की!

क्या अवस्था होगी? किस बात को डर रहा है वह? वह नामहीन कौन-सा डर है जो उसके भीतर है?

मानों उसके प्रश्न के उत्तर में, वायु का एक झोंका जेल के असंख्य सीखचों, लौहद्वारों और वातायनों में से कराहता हुआ निकल गया—वह कराह फिर ऊँची उठी और फिर धीमी पड़ गई, फिर उठी और एक अपार्थिव पीड़ित प्राणी की चीख बन गई; उसकी व्याकुल सांस शेखर को धकेलने-सी लगी—आंधी का पहला वातचक्र उसे घेरे ले रहा था··

वह फिर चल पड़ा।···किन्तु सोचने से कैसे रुका जाय—सोचने से नहीं, प्रश्न पूछने से कैसे रुका जाय! और प्रश्नों का अन्त कहां—जिज्ञासा के घूँट नहीं होते, वह तो भीम-प्रवाहिनी कूलहीना नदी है, स्वयं जीवन की तरह दुर्निवार···

मदनसिंह ने कहा था, पीड़ा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योंकि वही सबसे बड़ी पीड़ा है···

वह कोठरी में पहुँच गया था। सन्तरी पहले ही वहां मौजूद था, शेखर के भीतर जाते ही उसने ताला बन्द कर दिया और स्वयं आंगन से बाहर निकलकर कुछ दूर पर सामने बने हुए कठघरे में जा खड़ा हुआ—आंधी के साथ ही बड़ी-बड़ी बूँदें वर्षा की पड़ने लगी थीं···

जिज्ञासा—जिज्ञासा—यह मर्मान्तिक पीड़ा···

पर मैं जानना चाहता हूँ—शशि की अवस्था जानना चाहता हूँ···क्या वह सुखी है?

···'जहां अपना वश नहीं है वहां दुःख करना ही मोह है।'···कहां पढ़ा था उसने यह? या यह मदनसिंह के शब्दों में 'सूत्र' है, दुःख की चोट से पाया हुआ? वेदना के बिना ज्ञान नहीं है, तभी तो ज्ञान अपौरुषेय है—पुरुष की बुद्धि से वह नहीं पाया जाता, वेदना में, तपस्या में, वह उदित होता है। वह मन्थन से मिलनेवाला अमृत नहीं है, वह अवतीर्ण

होनेवाला कोई अप्रमेय है···इसी तरह कभी प्राचीन ऋषियों ने वह सूत्रबद्ध ज्ञान पाया होगा जो अब वेद है—जो 'जाना हुआ' है, किसी भीतरी आलोक से सहसा प्रकट हुआ—इसी तरह पीड़ा की तपस्या से सहसा जागकर उन्होंने प्रज्ञा के बोझ से लड़खड़ाकर कहा होगा, 'अपौरुषेय !'···

एक चौंधियानेवाले प्रकाश ने घिरती रात के अन्धकार को फाड़ डाला, भीषण गड़-गड़ाहट ने जेल के लोहे और पत्थर को कँपा दिया, आकाश का बोझीला पर्दा मानों अपने भार से फट गया और धारासार वर्षा होने लगी; शेखर के पैरों में कुछ आकर लगा तो उसने देखा एक बड़ा-सा ओला है; वह जँगले के पास जाकर खड़ा हो गया ; शीत से काँपता हुआ, बादल के गम्भीर घोष और बिजली की तड़पन से हतबुद्धि, आँधी और पानी के क्रुद्ध थपेड़ों से पिटता हुआ खड़ा रहा···कितना अच्छा था यह सामने की मार खाना, कितना अच्छा था इस तरह पिटते हुए खड़े रहना, उस, नामहीन, आकारहीन शत्रु द्वारा असहाय लील लिए जाने की अपेक्षा···

किन्तु उससे निस्तार कहाँ है ? प्राकृतिक तत्त्वों की इस उथल-पुथल में भी आत्मा कहाँ चुप है···जेल में दूसरे भी तो हैं, वे क्या कर रहे होंगे इस समय ?···उसे याद आया, एक दिन उसने देखा था, जेठ की दुपहरी में एक कैदी वर्षा में भींगे और ठिठुरे हुए बन्दर की तरह कोठरी के जँगले के नीचे उकड़ूँ बैठा था; और बिल्लौर के मनके-सी उसकी आँखें उत्तप्त सफ़ेद आकाश पर टिकी थीं···क्या वह जीवन था ? उस समय उसका जीवन मानों स्थगित था, प्राणीत्व भी मानों स्थगित था; उस समय उसके भीतर से वह कई अर्ब वर्षों का जड़त्व झाँक रहा था जो विकास-गति द्वारा जीवोद्भव से पहले उसकी मिट्टी का रहा होगा··बाबा मदनसिंह की कहानी का पठान ठीक ही कहता था—जेल में आदमी जीता नहीं, वृद्धि नहीं पाता···पर वृद्ध अवश्य हो जाता है—गात सूख जाते हैं और बाल पक जाते हैं···

और स्थगित जीवन के उस भीषण अन्तराल में क्षुद्र बुद्धि ही एकमात्र सम्बल है, जिज्ञासा ही एकमात्र सम्बल है···वही स्थानापन्न प्राण है···

शेखर एक बार काँपा, और फिर लिखने बैठ गया। हाँ, "···

* * *
* * * * * *

ईश्वर ने सृष्टि की।

सब ओर निराकार शून्य था, और अनन्त आकाश में अन्धकार छाया हुआ था। ईश्वर ने कहा, 'प्रकाश हो।' और प्रकाश हो गया। उसके आलोक में ईश्वर ने असंख्य टुकड़े किये और प्रत्येक में एक-एक तारा जड़ दिया। तब उसने सौर-मण्डल बनाया, पृथ्वी बनाई। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

तब उसने वनस्पति, पौधे, झाड़-झँखाड़, फल-फूल, लता-बेलें उगाईं ; और उन पर मँडराने को भौंरें और तितलियाँ, गाने को झींगुर भी बनाए।

तब उसने पशु-पक्षी भी बनाए। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

लेकिन उसे शान्ति न हुई। तब उसने जीवन में वैचित्र्य लाने के लिए दिन और रात, आँधी-पानी, बादल-मेंह, धूप-छाँह इत्यादि बनाए; और फिर कीड़े-मकोड़े, मकड़ी-मच्छर, बर्रे-बिच्छू और अन्त में साँप भी बनाए!

लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। तब उसने ज्ञान का नेत्र खोलकर सुदूर भविष्य में देखा। अन्धकार में, पृथ्वी और सौर-लोक पर छाई हुई प्राणहीन धुन्ध में कहीं एक हलचल, फिर उस हलचल में धीरे-धीरे एक आकार, एक शरीर जिसमें असाधारण कुछ नहीं है, लेकिन फिर भी सामर्थ्य है; एक आत्मा जो निर्मित होकर भी अपने आकार के भीतर बँधती नहीं, बढ़ती ही जाती है; एक प्राणी जो जितनी बार धूल को छूता है, नया ही होकर, अधिक प्राणवान् होकर उठ खड़ा होता है...

ईश्वर ने जान लिया कि भविष्य का प्राणी यही मानव है। तब उसने पृथ्वी पर से धुन्ध को चीरकर एक मुट्ठी धूल उठाई और उसे अपने हृदय के पास ले जाकर उसमें अपनी विराट् आत्मा की एक साँस फूँक दी—मानव की सृष्टि हो गई।

ईश्वर ने कहा—'जाओ, मेरी रचना के महाप्राणनायक, सृष्टि के अवतंस!'

लेकिन कृतित्व का सुख ईश्वर को तब भी नहीं प्राप्त हुआ, उसमें का कलाकार अतृप्त ही रह गया।

क्योंकि पृथ्वी खड़ी रही, तारे खड़े रहे। सूर्य प्रकाशवान् नहीं हुआ, क्योंकि उसकी किरणें बाहर फूट निकलने से रह गईं। उस विराट् सुन्दर विश्व में गति नहीं आई।

दूर पड़ा हुआ आदिम साँप हँसता रहा। वह जानता था कि क्यों सृष्टि नहीं चलती। और वह इस ज्ञान को खूब सम्भालकर अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हुआ था।

एक बार फिर ईश्वर ने ज्ञान का नेत्र खोला, और फिर मानव के दो बूँद आँसू लेकर स्त्री की रचना की।

मानव ने चुपचाप उसकी देन को स्वीकार कर लिया; सन्तुष्ट वह पहले ही था, अब सन्तोष द्विगुणित हो गया। उस शान्त जीवन में अब भी कोई अपूर्ति न आई और सृष्टि अब भी न चली।

और वह चिरन्तन साँप ज्ञान को अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हँसता रहा।

[२]

साँप ने कहा, 'मूर्ख, अपने जीवन से सन्तुष्ट मत हो। अभी बहुत कुछ है जो तूने नहीं पाया, नहीं देखा, नहीं जाना। यह देख, ज्ञान मेरे पास है। इसी के कारण तो मैं ईश्वर का समकक्ष हूँ, चिरन्तन हूँ।'

लेकिन मानव ने एक बार अनमना-सा उसकी ओर देखा, और फिर स्त्री के केशों से अपना मुँह ढँक लिया। उसे कोई कौतूहल नहीं था, वह शान्त था।

बहुत देर तक ऐसे ही रहा। प्रकाश होता और मिट जाता ; पुरुष और स्त्री प्रकाश में, मुग्ध दृष्टि से एक दूसरे को देखते रहते, और अन्धकार में लिपटकर सो रहते।

और ईश्वर अदृष्ट ही रहता, और सांप हँसता ही जाता।

तब एक दिन जब प्रकाश हुआ, तो स्त्री ने आँखें नीची कर लीं, पुरुष की ओर नहीं देखा। पुरुष ने आंख मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की ओर न देख रही हो ऐसा नहीं है ; वह किसी की ओर भी नहीं देख रही है ; उसकी दृष्टि मानों अन्तर्मुखी हो गई है, अपने भीतर ही कुछ देख रही है, और उसी दर्शन में एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है··· तब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्गत भाव से लेट गई, पुरुष को न देखती हुई, बल्कि उसकी ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई···

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँदकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उसके पास शब्द नहीं थे, भाव नहीं थे, दीक्षा नहीं थी। लेकिन शब्दों से, भावों से, प्रणाली के ज्ञान से परे जो प्रार्थना है, जो सम्बन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उसमें से फूट निकलने लगी···

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पड़ा रहा, गति उसमें नहीं आई।

स्त्री रोने लगी। उसके भीतर कहीं दर्द की एक हूक उठी। वह पुकारकर कहने लगी, 'क्या होता है मुझे! मैं बिखर जाऊँगी, मैं मिट्टी में मिल जाऊँगी···'

पुरुष अपनी निस्सहायता में कुछ भी नहीं कर सका, उसकी प्रार्थना और भी आतुर, और भी विकल, और भी उत्सर्गमयी हो गई, और जब वह स्त्री का दुःख नहीं देख सका, तब उसने नेत्र खूब ज़ोर से मींच लिए···

निशीथ के निविड़ अन्धकार में स्त्री ने पुकारकर कहा—'ओ मेरे ईश्वर—ओ मेरे पुरुष––यह देखो!'

पुरुष ने पास जाकर देखा, टटोला और क्षण भर स्तब्ध रह गया। उसकी आत्मा के भीतर विस्मय की, भय की एक पुलक उठी, उसने धीरे से स्त्री का सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया···

फूटते हुए कोमल प्रकाश में उसने देखा, स्त्री उसी के एक बहुत स्निग्ध, बहुत प्यारे प्रतिरूप को अपनी छाती से चिपटाए है और थकी हुई सो रही है। उसका हृदय एक प्रकाण्ड विस्मय से, एक दुस्सह उल्लास से भर आया और उसके भीतर से एक प्रश्न फूट निकला, 'ईश्वर, यह क्या सृष्टि है जो तूने नहीं की!'

ईश्वर ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब मानव ने सांप से पूछा—'ओ ज्ञान के रक्षक सांप, बताओ यह क्या है जिसने मुझे तुम्हारा और ईश्वर का समकक्ष बना दिया है—एक स्रष्टा––बताओ, मैं जानना चाहता हूँ!'

उसके यह प्रश्न पूछते ही अनहोनी घटना घटी। पृथ्वी घूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, फिर सूर्य उदित हो आया और दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तड़प उठी···विश्व चल पड़ा!

साँप ने कहा, 'मैं हार गया। ईश्वर ने ज्ञान मुझसे छीन लिया।' और उसकी गुंजलक धीरे-धीरे खुल गई।

ईश्वर ने कहा--'मेरी सृष्टि सफल हुई, लेकिन विजय मानव की है। मैं ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ। मैं कुछ खोजता नहीं। मानव में जिज्ञासा है, अतः वह विश्व को चलाता है, गति देता है...'

लेकिन मानव में उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। वह पुकार-पुकारकर कहता जाता था,—'मैं जानना चाहता हूँ!'

और जितनी बार वह प्रश्न दुहराता था, उतनी बार सूर्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेज़ी से घूमने लगती थी, विश्व कुछ अधिक गति से चल पड़ता था। और मानव के हृदय का स्पन्दन भी कुछ अधिक भरा हो जाता था।

× × × ×

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ बैठता है, तब अनहोनी घटनाएँ होने लगती हैं।

* * *

शशि का एक और पत्र—वह लिखती है कि शायद उसका जीवन चल जाय—उसमें सुख नहीं तो दुःख भी नहीं है, किसी तरह की कोई गहरी अनुभूति नहीं है, केवल उनींदे रहने से हो जानेवाले सिरदर्द की तरह एक हल्का-सा बोझ हर समय उसके ऊपर पड़ा रहता है..."कभी सोचती हूँ क्या जीवन ऐसे ही बीतेगा? गाजर-मूली की तरह बढ़ना और उखाड़ लिए जाना, बस? पर फिर ध्यान आता है, कई ऐसे जीते हैं और दर्जनों बरस निकाल जाते हैं...और यहाँ ऐसे यन्त्र-तुल्य जीवन के सभी साधन हैं, किसी को मुझमें इतनी भी दिलचस्पी नहीं है कि तिरस्कार भी करे...यह वह जीवन नहीं है जिसकी मैंने कल्पना की थी, पर शायद सबका उदाहरण देखकर मैं भी ऐसी बन जाऊँ कि अपनी अवस्था का तिरस्कार न कर सकूँ और शान्त, सन्तुष्ट, निर्वेद होकर जीना जी डालूँ। दुःख तो मुझे अब भी कोई नहीं है।...." और फिर एकाएक बदलकर "तुम कब आओगे?"

कब जाएगा वह? वह नहीं जानता। मुकदमा मालूम होता है कभी समाप्त नहीं होगा! गवाही प्रायः समाप्त हो गई थी, वकील ने कहा था कि शेखर के विरुद्ध कुछ नहीं है, तब नये गवाह लाने की अनुमति माँगी गई थी और अदालत ने उन्हें बुला भी लिया था।...

पर अब जाए न जाए, कोई बात नहीं है। विवाह शशि का हो चुका, और अपना घर जैसे उसके मन से ही निकल गया है। और शशि अब निराग्रह होकर जी रही है, जीवन से कुछ माँगती नहीं है अतः दुःख भी नहीं पाती है। वह भी उपराम है, शून्य है, जेल और बाहर सब बराबर है।

भादों...अश्विन...कार्तिक..प्रकाश होता है और धुँधला पड़ जाता है; जेल के

चौदह सौ आदमी गिनते हैं कि एक दिन और बीत गया; लोग मानते हैं कि अस्तित्व का छकड़ा एक मंजिल और कर गया ; सभी समझते हैं कि वे जी रहे हैं···इसी प्रकार तीन महीने—शेखर सुनता और देखता है, पर जीवन उसका भी स्थगित है···

मोहसिन पर दारोग़ा का क्रोध होता है, हजामत बनाने के अपराध में उसे सजाएँ मिलती हैं, कड़ा पहरा बिठाया जाता है, पर न जाने कैसे प्रति सोमवार परेड के समय उसकी दाढ़ी साफ़ और चिकनी होती है और वह कहीं से निकालकर उस्तरे की एक पुरानी पत्ती दारोग़ा के आगे पेश कर देता है···ऐसी खुली अवज्ञा असह्य है—दारोग़ा सज़ाएँ बढ़ाते जाते हैं—बेड़ी के बाद डण्डा बेड़ी, फिर खड़ी हथकड़ी, फिर रात हथकड़ी, फिर दो-दो और तीन-तीन सज़ाएँ एक साथ—रात को उलटी हथकड़ी और दिन-रात डण्डा-बेड़ी, फिर 'कसूरी खूराक' यानी भोजन को बजाय पानी में घुला हुआ आटा···फिर एक दिन उसे बेंत लगने की आज्ञा हुई, वार्डर उसे पकड़कर शेखर की कोठरी के सामने से ले गए, मोहसिन ने उसे देखकर हँसकर कहा, "देख, मौलवी, मैं हज्ज करने चला हूँ !" पन्द्रह मिनट बाद वह उसी तरह अकड़ता हुआ चला आया—पर अबकी बार बिलकुल नंगा और कमर तक खून में लथपथ—शेखर को देखकर बोला, "मौलवी, मुझे तेरे पास ला रहे हैं, अब गाना सुना करना !" और बढ़ गया—घसीटकर आगे ले जाया गया···स्तम्भित शेखर को वार्डर ने बताया, बेंत कसूरी थे, अदालती नहीं—यानी जेल के अपराध के कारण जेल अधिकारियों द्वारा लगवाए गए थे, इसलिए तेल में भिगोकर रखे गए थे और जल्लाद के पूरे ज़ोर से लगवाए गए थे···जब मोहसिन तीस बेंत खा चुका और टिकटी से उतारा गया, तब दारोग़ा को देखकर बोला, "बस ? अब तो मैं खलीफ़ा हो गया, अब क्या है !" इस पर छोटे अधिकारियों को मुस्कराता देखकर दारोग़ा आपे से बाहर हो गया था; मोहसिन को एक और नया दण्ड मिला टाटवर्दी का ! बेत लगाने के लिए मोहसिन को नंगा तो किया ही गया था, जब उसके बाद पहनने के लिए उसे टाट-बोरिए का एक जाँघिया दिया गया तब उसने उसे पहनने से इन्कार कर दिया, इसलिए उसे नंगा ही कोठरी में भेजा गया—कोठरी भी बदलवा दी गई कि पहरा और कड़ाई से हो सके । अब वह पूरबवाली फाँसी की कोठरियों में रखा गया है···

किन्तु न जाने कैसे, मोहसिन को परास्त नहीं किया जा सका । अगले परेड में उसकी ठोढ़ी फिर चिकनी थी, और वह साभिमान नंगा ही साहब के सामने खड़ा था···

उसके बाद दारोग़ा ने अपना दैनिक अपमान देखना असम्भव पाकर मोहसिन को परेड में पेश करना ही छोड़ दिया, फाँसी कोठरी से हटाकर एक और कोठरी में डाल दिया जो जेल में कब्रिस्तान के नाम से प्रसिद्ध थी—उसमें प्रायः भीषण छूत रोगों के रोगी ही रखे जाते थे या लाइलाज बदमाश, जब ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता था तब वह खाली पड़ी रहती थी । मोहसिन ने हजामत करना नहीं छोड़ा, और टाटवर्दी नहीं पहनी । दारोग़ा शायद इस आशा में रहे कि सर्दी आने पर वह स्वयं हार मानेगा—अगर टाटवर्दी ही पहन लेगा तो वही हार होगी । पर कातिक भी आया और मोहसिन में कोई परिवर्तन नहीं आया, केवल उसकी

दुबली देह में हड्डियाँ और निकल आईं, सूखी त्वचा और साँवली पड़ गई···तब एक दिन शेखर ने सुना कि उसके शरीर पर कई-एक फोड़े निकल आए हैं, और डाक्टर ने कहा कि उसे क्षयी हो गया है···

एक दिन अपराजित मोहसिन को दफ़्तर में बुलाया गया, वहाँ उसको उसके अपने कपड़े पहनाए गए; पाँच मिनट बाद उसे पुलीस की लारी में बिठाकर चलता कर दिया गया। मालूम हुआ कि उसकी रिहाई समीप आ गई थी इसलिए उसे घर के ज़िले की जेल में भेज दिया गया···

और बाबा मदनसिंह भी अस्वस्थ रहने लगे, शेखर अब प्रायः नित्य ही उनसे मिलने जाता और देखता कि उस अत्यन्त बूढ़े चेहरे में तो कोई परिवर्तन नहीं आया है, पर उसका वह अंश जो अभी तक युवा था, वह तीव्र गति से वृद्धत्व का मार्ग तय कर रहा है—बाबा की आँखें···इक्कीस-बाईस वर्ष के स्थगित जीवन का अन्धकार मानों एकाएक ही उन चमकीली आँखों की ज्योति को छा लेना चाहता है···इस वन्दी ऋषि के लिए शेखर के मन में गहरे आदर का भाव हो गया था, और जबसे उसने सुना था कि बाबा को संग्रहणी हो गई है तब-से एक गहरी चिन्ता हर समय उसे सताती रहती थी···दिन-भर वह चिन्ता लिए रहता और सायं-प्रातः नियमपूर्वक वह बाबा के पास जाता, यही उसकी दिनचर्या हो गई थी।

इसी तरह भादों बीता, आश्विन बीता, कार्तिक भी बीत चला। तब एक दिन सहसा शेखर के स्थगित जीवन में एक गहरा आघात हुआ और उसने पाया कि स्थगित कुछ नहीं है, उसके मर्म के ऊपर बहुत ही हल्का आच्छादन है जो कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकता है और मर्मस्थल को किसी भी चोट के लिए नंगा छोड़ दे सकता है···

फाँसी कोठरियों की जिस कतार में शेखर था, उसमें कुल चार कोठरियाँ थीं। उनके वासी प्रायः बदलते रहते थे। एक कोठरी में शेखर था ही, बाकी तीन में उसके होते-होते ग्यारह आदमी आ चुके थे। दो-तीन वहाँ आने के बाद भी छूट गए थे, बाकी को फाँसी हो गई थी।

आश्विन में एक दिन संध्या समय एक नया आदमी लाया गया। शेखर ने कौतूहल से उसे देखा—२३-२४ वर्ष का जाट युवक, सुन्दर गठा हुआ शरीर, गोरा रंग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूँछे, बड़ी स्वच्छ और निर्भीक आँखें—शेखर सोच नहीं सका कि यह आदमी हत्यारा हो सकता है। जब वार्डर उसे शेखर के साथवाली कोठरी में छोड़कर चले गये, तब शेखर ने पहरेवाले सन्तरी से उसके बारे में पूछकर जाना कि यह हत्यारा है, इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।

उसका नाम था रामजी। नाम तो शेखर ने पहले ही दिन जान लिया था। दूसरे दिन शेखर के घूमने निकलने पर उसने उसे बुलाकर परिचय भी कर लिया।

"बाबूजी, ज़रा सुनिए तो !"

शेखर उसकी कोठरी के आगे जा खड़ा हुआ था।

"इस सुरग के प्लेटफ़ार्म पर आप कैसे ?"

"क्या मतलब ?"

"आपको भी सज़ा हुई है क्या ?"

शेखर ने बता दिया कि वह अभी अभियुक्त है, स्वेच्छा से ही उस कोठरी में आया था।

"तब तो आप बाहर से सामान मँगा सकते होंगे ? मुझे कभी दो-एक सिगरेट दे दिया कीजिए—बुरी आदत है बाबूजी, पर अब तो फाँसी चढ़ना ही है इसलिए पी लेता हूँ—आप पीते हैं न ?"

"नहीं, पर मँगा लूँगा, ले लिया करना।"

"आप हत्यारे पर इतनी दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते ? नहीं तो—"

"इसमें दया की कौन-सी बात है—" शेखर रुक गया ; एक प्रश्न उसकी जबान पर आया था जो वह पूछना नहीं चाहता था।

"आप रुक क्यों गए ? कुछ पूछना चाहते थे—यही न कि मैंने हत्या क्यों की ?"

"हाँ..."

"सो भी औरत की हत्या। आप जानते हैं न ?"

"नहीं।"

"आपने पूछा है, तो सारी बात बता देता हूँ। अदालत में तो कह ही आया था।" कुछ रुककर कहने लगा, "गाँव में हमारी थोड़ी-सी ज़मींदारी थी—मेरे बड़े भाई की और मेरी। पर भाई को यह काम पसन्द नहीं था, इसलिए वह भाभी को घर में छोड़कर नौकरी की तलाश में शहर चले गए थे। नौकरी उनकी लग भी गई थी, और वे हर दूसरे महीने बीस-पच्चीस रुपया भाभी को भेज देते थे।

"पर भाभी का मन अच्छा नहीं था। पड़ोस के जो लोग हमारे घर आकर भाई का हाल-चाल पूछा करते थे, उन्हीं में से एक से उसकी कुछ बातचीत हो गई थी, और मेरे पीछे वह अक्सर उससे मिलने आता था। मुझे कोई खबर नहीं थी ; मुझे एक दिन एकाएक ही पता चला। भादों में एक दिन साँझ को घर आकर मैंने भाभी को बताया कि मुझे रात खेत पर ही रहना पड़ेगा, क्यों, इसमें आपको कोई दिलचस्पी नहीं होगी। खेत में काम था। मैं कहकर और बासी रोटी लेकर चला गया।

"बारिश तो दिन में भी होती रही थी, पर रात को बड़े ज़ोर की हुई और ओले भी पड़ने लगे, तब काम छोड़कर लौट पड़ा। घर आकर दरवाज़ा खटकाने पर बहुत देर तक नहीं खुला, आवाज़ें देने पर भी नहीं। जब मैं गुस्से में आकर तोड़ने लगा तब भाभी ने आकर किवाड़ खोले और सहमी-सी एक तरफ खड़ी हो गई। मैंने देखा, सामने वही आदमी खड़ा है, उसके कपड़े और जूते सूखे हैं जिससे जान पड़ता है, वह देर का आया हुआ है।'

रामजी चुप हो गया। फिर लम्बी सांस लेकर बोला, "बाबूजी, मेरी जगह आप होते तो क्या करते ?"

शेखर कुछ उत्तर नहीं दे सका। चुपचाप खड़ा रहा। रामजी कहने लगा, "ख़ैर, मैं तो जो कर चुका, कर चुका। मैंने भाभी से पूछा कि यह कौन है, क्यों आया है ? उसने जवाब नहीं दिया। मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने भाभी को धमकाकर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है ? बहुत धमकाने पर बोली, कई बार आया है। मैंने पूछा, तू इसे चाहती है ? तो कुछ नहीं बोली। मैंने आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने कहा, "अगर तुम लोगों में प्रेम है, तो तुम ब्याह कर लो। मैं कुछ नहीं कहूँगा। पीछे जो होगी सो मैं देख लूँगा। भाई को भी मना लूँगा। बोल, तू है तय्यार ?" भाभी कुछ नहीं बोली। मैंने उस आदमी से पूछा, तो बोला, 'तू कौन है बीच में पड़नेवाला ?'

"मुझे गुस्सा आ रहा था, पर मैं चाहता था, भाभी से अन्याय न करूँ। भाभी तो वह नहीं रही थी, पर भाई के साथ जो तीन बरस रह चुकी थी उसका कुछ लिहाज़ था ही। मैंने फिर पूछा, 'बता, तू इससे ब्याह करने को तय्यार है ? वह बोला, 'मैं बीबी-बच्चेवाला आदमी हूँ, मैं क्यों मुसीबत मोल लूँ ?' मैंने पूछा, 'तब पहले क्यों इस घर में घुसा था ?' वह बोला, 'इसी ने बुलाया था।' उसके कमीनेपन पर मुझे इतना क्रोध आया कि मैं मुश्किल से सम्भाल सका। पर किसी तरह मैंने कहा, 'यह सब मैं नहीं जानता। या तो तुम दोनों सबेरे ब्याह कर लो, या फिर जो मेरे मन में आएगा, करूँगा !'

"उसने मुझे गाली दी। भाभी से मैंने पूछा, 'तू है तय्यार ? अगर है तो मैं इसे मनाकर छोड़ूँगा', पर वह भी नहीं बोली। तब मेरी आँखों में खून उतर आया। और मैंने गँड़ासे से दोनों को काट डाला।"

सांस लेने के लिए और शेखर पर बात का असर देखने के लिए वह थोड़ी देर रुका। "फिर मैंने उसी वक्त थाने में जाकर बयान दे दिया—भाभी को मारकर मेरा मन दुनिया में रहने को नहीं हुआ। खूनी को मरना ही चाहिए। बस आगे जो होता है सो है ही !"

थोड़ी देर मौन रहा। फिर रामजी अपने-आप बोला, "बाबूजी, मैं आपसे नहीं पूछूँगा, मैंने अच्छा किया या बुरा। मैं शरमिन्दा नहीं हूँ। और अच्छी तरह मरूँगा। मैंने इसीलिए अपील नहीं की है।"

शेखर चुपचाप सोचता हुआ चला गया था। उसके बाद क्रमशः उसका परिचय बढ़ता गया था—शेखर के मन में कुछ स्नेह भी इस आधे जंगली और पूर्णतः ईमानदार व्यक्ति के लिए हो गया था।

कार्त्तिक में एक दिन सुना कि रामजी की अपील नामंजूर हो गई है और चौथे दिन उसे फांसी हो जायगी। रामजी ने अपील नहीं की थी पर जेलवालों ने स्वयं ही उसकी ओर से हाईकोर्ट में दरख्वास्त भिजवा दी थी।

शेखर उदास था। पर रामजी पर मानों कोई असर ही नहीं था, जैसे कोई नई बात हुई ही नहीं थी।

शाम को रामजी ने शेखर को पुकारा, "बाबू साहब!"

शेखर जँगले पर आकर बोला, "क्या है?"

"आपने कभी फांसी देखी है?"

"नहीं।"

"आप तो लिखनेवाले हैं न, आपको सब कुछ देखना चाहिए।"

"......"

"क्यों नहीं साहब से कहते, मेरी फांसी देख लेने दे आपको? मुझे भी अकेला नहीं लगेगा—नहीं तो आखिरी समय सब जल्लादों का ही मुँह देखना पड़ेगा!"

शेखर निःस्तब्ध कुछ बोल नहीं सका। रामजी की फाँसी देखने की दरखास्त दे वह!···

"बाबूजी, आप चुप क्यों हैं? इसमें बुराई नहीं है, एक बिचारे की मदद ही है। मैं समझूँगा, मरते वक्त एक दोस्त मौजूद था।"

शेखर ने कांपते स्वर से कहा, "अच्छा···"

पर अनुमति नहीं मिली। शेखर ने उदास वाणी से रामजी से कहा, तो वह भी कुछ खिन्न होकर बोला, "जल्लाद साले! सब जल्लाद हैं!" और चुप हो गया।

उस दिन शेखर बाहर नहीं निकला, कुछ बोला भी नहीं। रामजी ने कई बार बात करने की चेष्टा की, पर शेखर 'हां-हूँ' से अधिक नहीं कर सका। अन्त में शाम को रामजी बोला, "बाबूजी, आप तो कोई बात नहीं करते, उदास दीखते हैं। घर से कोई बुरी चिट्ठी आई है क्या? लीजिए, मैं गाकर आपका मन बहलाता हूँ—ऐसा मौका कब मिलेगा?"

शेखर लज्जा से गड़ गया···

रामजी आधी रात तक गाता रहा। फिर न जाने कब शेखर को नींद आ गई···

एक दिन और भी किसी तरह बीत गया। रात आई, तब फिर रामजी गाने लगा। आधी रात के लगभग उसने थककर कहा—"बाबूजी, अब आप कुछ सुनाइए, मैं तो थक गया। सुनता-सुनता सो जाऊँगा।"

शेखर गा नहीं सकता था। पर रामजी के लिए कुछ गाने की कोशिश की। सफलता नहीं मिली। रामजी ने मीठी चुटकी ली, "बाबूजी, आप मेरे लिए ही गा रहे हैं···" तब शेखर कहानियां कहने लगा···कभी पुराणों से, कभी विदेशी साहित्य से, कभी एक-आध अपने जीवन की घटना···रामजी का 'हूँ-हूँ' धीमा पड़ने लगा और नीरव हो गया। शेखर ने वार्डर से पूछकर जाना की वह सो गया है।

पर शेखर नहीं सो सका। जेल की 'सब अच्छा' की पुकारों की ताल पर रात बीतती चली···एकाएक ऊँघ से चौंककर शेखर ने देखा, उषा फूट रही है। डाक्टर रामजी की परीक्षा के लिए आया है।

"डाक्टर साहब, टाँग तो आप देंगे ही, फिर नाड़ी क्यों देखते हैं ?"

"भाई, मेरा फर्ज है सो अदा करता हूँ। तुम भी खुदा को याद करो—"

डाक्टर गया। दिन निकलते-निकलते साहब, दारोग़ा, मैजिस्ट्रेट, चीफ वार्डर और वार्डरों की फ़ौज आ गई।

शेखर अपनी कोठरी के जँगले पर खड़ा जो देख सकता था देखता था, बाकी सुनने क कोशिश कर रहा था।

रामजी की तलाशी ली जा रही थी।—हाथ बाँधे जा रहे थे—बाहर निकाला जा रहा था—

क्या वसीयत लिखानी है ? किसी को कुछ कहना है ?

"इन साथवाले बाबूजी से दो मिनट बात कर लूँ ?"

कोई तीन सेकण्ड बाद साहब का उत्तर, "नहीं, यह तो हम नहीं कर सकते !"

"तब चलिए।"

कुछ घबराहट, कुछ अव्यवस्था, कुछ गति,...

एकाएक आँगनों को जोड़नेवाले फाटक पर रामजी, "अच्छा बाबूजी, अब तो फिर कभी मिलेंगे, उस पार कहीं—" एक द्रुत मुस्कान—जुलूस चला गया—

और जँगले भींचकर पकड़े हुए खड़ा शेखर सहसा पाता है कि उसकी मुट्ठियाँ खुल गई हैं, हाथ छटक गए हैं, सिर झुक गया है...

छः दिन के बाद शेखर ने बाहर निकलने का विचार किया ही था कि एक और घटना हुई जिसने उस बुरे स्वप्न-जैसी अवस्था को दो-तीन दिन और बढ़ा दिया। शशि का पत्र आया कि वह बहुत कष्ट में है, और मनाती है कि शीघ्र उसे जीवन से छुटकारा मिल जाय ..क्यों, क्या कष्ट है, कुछ नहीं लिखा था—कल्पना के दानव के लिए ही यह छोड़ दिया था कि वह उस दुःस्वप्न में मनमाने रंग भरे...

शेखर सोचता था, जेल में जीवन स्थगित हो जाता है ! और यह क्या है जो मानों उसे पटककर उसके गले पर चढ़ बैठा है और कह रहा है, 'मैं स्थगित ? तो ले देख, सह मेरा बोझ और मेरी गति की चोट !' आह, नहीं सहा जाता...नहीं सहा जाता...नहीं सहा जाता जीवन, नहीं सहे जाते बन्धन...

क्यों नहीं सहे जाते ? दुर्बल, कायर, झूठा कहीं का ! उसके सामने ही मामूली से मामूली आदमी, जीवन की हरएक देन से वंचित, धन से, कुल से, आत्मीयों से, विद्या से वंचित जीवन का सामना करते हुए चले जाते हैं, और वह अभिमानी रोता है कि मैं उसे नहीं सह सकता...कायर, दम्भी...वेदना होती है...समवेदना होती है...समवेदना क्या है जो जीवन को गहरा नहीं बनाती, घना नहीं बनाती, जीवन के लिए कृतज्ञ नहीं बनाती ? समवेदना की दुहाई देकर जीवन से डरता है ! आत्मवंच ..

पीड़ा और अपमान से जलकर सहसा शेखर उठ बैठा, उन्मत्त साँड की तरह कन्धे झुकाकर जीवन के दबाव से टक्कर लेने को तय्यार···फूले हुए नथनों से फुँकार की तरह साँस लेता हुआ, पृथ्वी को पैरों से मानों रौंदता हुआ वह कोठरी से बाहर निकला कि टहलेगा, सबसे मिलेगा, और नहीं दीखने देगा कि जीवन उसके लिए स्थगित है, बल्कि दुगुनी गति से चल रहा है···

बाबा मदनसिंह खड्डी पर दीवार के सहारे बैठे थे। शेखर ने एक बार उनके चेहरे की ओर देखा, उसकी जिह्वा पर आया हुआ प्रश्न वहीं रह गया। बाबा की हालत अच्छी नहीं थी।

बाबा उठे नहीं, मुस्कुराए भी नहीं। शेखर ने देखा, जटा और दाढ़ी के बीच अब त्वचा भी सफेद हो गई है, अब केवल आँखें हैं जिनमें रंग है—और आज रंग ही नहीं, आज उनमें दीप्ति है—वे जल रही हैं···

"तुम आए···इतने दिन कहाँ रहे ?"

"मेरा मन ठीक नहीं था। मेरे पड़ोसी को फांसी हो गई।"

"मेरा भी मन ठीक नहीं है शेखर ! शरीर तो अब चला ही, मन भी बहुत खराब है।"

"क्यों बाबा ?"

"कुछ नहीं, कमज़ोरी ! मैं बाहर के समाचार सुनता-पढ़ता हूँ तो विचलित हो जाता हूँ !"

"कैसे समाचार ?"

"तुमने चटगाँव का हाल पढ़ा है ?"

"हाँ—"

"वहाँ जो गोली-ओली चली, उसका नहीं, उसके बाद जो कुछ हुआ उसका ?"

शेखर ने अखबार में पढ़ा था कि वहाँ काफ़ी सख्ती हो रही है, कई तरह की मनाहियाँ जारी हुई हैं, और यह भी पढ़ा था कि वहाँ के समाचार छपने नहीं दिये जाते, तार और चिट्ठियाँ रोकी जा रही हैं।

"और ?"

"और तो मैं नहीं जानता।"

"शेखर, सुना है कि वहाँ सैनिक मनमानी कर रहे हैं, गाँव के लोगों को पीट-पीटकर सलामी कराई जाती है, स्त्रियों पर बलात्कार किया जाता है, और—और—" एकाएक बाबा का गला रुँध गया, वे कुछ बोल नहीं सके, आवेश में खड़े हो गए··

"कहाँ सुना आपने ?"

"मुझे चिट्ठी आई है—"

"पर जब खबरें नहीं आतीं तब चिट्ठी भेजनेवाले ने कैसे जाना ?"

"जाना नहीं सुना। तुम यही कहना चाहते हो न कि ये अफ़वाहें हैं, हुआ ही करती हैं, झूठी हैं, कोई प्रमाण नहीं है, जब तक पूरा पता न मिले तब तक कुछ कहना अनुचित है ? ऐसी बहुत बातें मैं भी सोच चुका हूँ ! पर यह सब धोखा है। मेरा क्रोध इसलिए नहीं कि मेरे पास प्रमाण है ; क्रोध इसलिए है कि प्रमाण नहीं हैं। तुम नहीं समझते की हमारी परिस्थिति कितनी भयंकर है, कितनी विवश है कि ऐसे-ऐसे संगीन अभियोगों की भी हम जाँच नहीं कर सकते ; उसके प्रमाण में या सफाई में ही, कुछ पूछ-ताछ नहीं कर सकते ; ये अभियोग सच ही हैं, ऐसा मैं नहीं कहता। लेकिन ये अभियोग लगाए जा रहे हैं, और हमारे पास साधन नहीं है कि हम जाँच करें। इन साधनों का पाना अधिकार है, और वह अधिकार हमें नहीं मिल रहा···"

बाबा जँगले के पास आ गए। भिंची हुई मुट्ठी शेखर की ओर उठाकर उन्होंने कहा, "दासता—एकदम घृणित परवशता—और किसे कहते हैं ? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, असत्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को जिसमें हम सत्य और असत्य को जानने में असमर्थ हो जाते हैं ; दासता है वह बन्धन, वह मनाही, जो हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छीन लेती है···"

एकाएक वे रुक गए। "यह बात शायद मैं पहले कह चुका हूँ—इसका अनुभव किए मुझे एक वर्ष हो गया।" वे एक खोखली हँसी हँसे। "एक साल पहले जानी हुई बात आज सत्य बनकर चुभती है, और मैं बँधा हुआ हूँ !" बाबा की साँस फूल गई थी। दो-तीन लम्बी साँसें खींच उन्होंने फिर कहा, "शेखर, चटगाँव हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर कलंक है। यही मेरी समझ में क्रान्ति का प्रमाण है—उसके लिए चारित्र्य की आवश्यकता है, वह चारित्र्य बनाती है—और उससे बड़ी चीज़ क्या है ? हमें चारित्र्य चाहिए, तो हमें क्रान्ति चाहिए ! क्रान्ति ! और मैं बँधा हुआ हूँ···"

बाबा खट्टी पर लौट गये। फीके स्वर में बोले, "शेखर, तुम जाओ। मेरा मन ठीक नहीं है। मैंने चाहा था, तुम मुझे हँसता ही देखो—संसार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं जो अभिमान से भी बड़े हों। यही मैं आज सीख रहा हूँ—अच्छा हुआ कि इतना तीखा दर्द मुझे मिला ! जाओ।"

शेखर चुपचाप, सहमा हुआ और रोमांचित अपनी कोठरी में लौट आया।

तीसरे दिन शाम को बाबा की हालत बहुत खराब हो गई। डाक्टर ने अस्पताल में ले जाना चाहा, पर बाबा ने कहा, "एक दिन के लिए वहाँ नहीं जाऊँगा। मैंने अपने जीवन का उत्तम अंश कोठरी में बिताया है, अब सबसे महत्त्व का दिन कहीं और बिताने नहीं जाऊँगा।" कोई और होता तो जबर्दस्ती ले जाते, बाबा से जबर्दस्ती करने का साहस किसी में नहीं था। डाक्टर एक वार्डर की ड्यूटी वहाँ लगवाकर चले गए, एक बार रात में भी आकर देख गए।

शेखर को समाचार कोठरी में बन्द होने के बाद मिला था। जेल में बाबा का कितना आदर था, यह उसने तभी जाना। उस रात-जैसा सन्नाटा उसने जेल में नहीं देखा था—बाबा की बीमारी की खबर कानों-कान फैल गई थी, और नम्बरदार लोग 'सब अच्छा !' भी धीमे, सहमे-से स्वर में पुकार रहे थे···

'एक दिन के लिए'···'सबसे महत्त्व का दिन'···सचमुच ? शेखर के भीतर प्रार्थना का भाव उमड़ आया···

सवेरे कोठरी खाली हो गई।

जब कोठरियाँ खुलीं, तब बाबा का शरीर हटाया जा चुका था। कोठरियाँ खुलने में देर होती देखकर शेखर ने वार्डर से पूछा था, 'क्या आज कोई फाँसी है ?' क्योंकि ऐसे ही दिनों खुलने में देर होती थी।

"नहीं।" वार्डर हिचकिचाकर रुक गया था।

"तब ?" और फिर एकाएक भय से प्रकाश पाकर, "क्या बाबा—"

वार्डर बोला नहीं था···

शेखर दौड़ा हुआ बाबा की कोठरी की ओर गया, जैसे कोई भक्त भूकम्प से ध्वस्त मंदिर की ओर जाता है...

कोई कह रहा था,···"रात में उठ बैठे, घण्टा भर रोते रहे। फिर दीवार से सटकर खड़े रहे, और फिर आकर लेट गए और बोले, 'अब चल !' बस—"

यह रात की ड्यूटीवाला वार्डर था। शेखर तड़पकर कोठरी के भीतर घुसा···हाँ, उसका अनुमान ठीक था, दीवार पर काँपते अक्षरों में एक नया लेख था···

"अन्तिम सूत्र—अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है···"

बाबा के पैर छूने में शेखर ने अपमान समझा था, उसके लिए अपने को कोसते हुए उसने उस अन्तिम सूत्र पर माथा टेक दिया, फिर आँखों में आए हुए दो बड़े-बड़े आँसुओं का निर्लज्ज-भाव वार्डरों को दिखाता हुआ कोठरी में चला गया—

दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है···

*   *   *
* *   * *   * *

बेहूदे दिन···

मुकदमा समाप्त हो गया था। सफ़ाई की काफ़ी-सी तय्यारी करने के बाद एकाएक यह परिणाम निकला कि सफ़ाई देना व्यर्थ है। वादी पक्ष कमज़ोर हो तो प्रतिवाद से लाभ नहीं होता, हानि हो सकती है। केवल विद्याभूषण के लिए कुछ गवाहियाँ पेश की गईं थीं और उन सबके बयान एक ही दिन में हो गए थे क्योंकि जिरह नहीं की गई थी·· वकीलों की तू-तू मैं-मैं भी हो गई थी जिसे बहस कहते हैं।

"अब मैं फैसला ही सुनाऊँगा—उसकी तारीख फिर तय की जायगी, अभी आरज़ी तौर पर तारीख डाल देता हूँ।" और हाकिम ने मुकदमे की अवधि तेरह दिन और बढ़ा दी थी...

ये दिन बीतते नहीं। यह नहीं कि फैसले के बारे में बहुत अधिक चिन्ता या उत्कण्ठा थी, पर इस प्रकार आकाश में लटके रहना...मुकदमा समाप्त हो चुका है, फैसले के लिए जो कुछ आधार होता वह सामने आ चुका है, शायद हाकिम ने मन-ही-मन फैसला कर भी लिया है। अब केवल जानने की देर है, और इसके लिए तेरह दिन बैठ रहना होगा! नहीं, तेरह दिन बाद तो यही विदित होगा कि फैसला किस दिन सुनाया जायगा···

अन्त में तेरहवाँ दिन आया···पर दुपहर हो गई, अदालत जाने के लिए बुलाहट नहीं आई। शेखर ने समझ लिया, हाकिम ने उन्हें बुलाए बिना तारीख डाल दी होगी, अपने-आप पता चल जायगा। वह लेटकर सोचने लगा, सोचते-सोचते सो गया।

"बाबूजी, बाबूजी! आपको दफ्तर में बुलाया है।"

शेखर हड़बड़ाकर उठा। "किसने बुलाया है?"

"दारोग़ा साहब ने।"

"मुलाक़ात है?"

"नहीं, दफ्तर में बुलाया है। पेशी है।"

"कैसी पेशी?" कहकर शेखर वार्डर के साथ चल पड़ा।

दफ्तर पहुँचकर मालूम हुआ कि मुकदमे का फैसला सुना दिया गया है। शेखर के बारे में मजिस्ट्रेट की राय है कि उसके विरुद्ध गवाही इतनी दृढ़ नहीं है कि सज़ा दी जा सके, यद्यपि सन्देह बहुत अधिक होता है। किन्तु अगर प्रमाण अकाट्य भी होता, तो भी शायद जितनी क़ैद वह भुगत चुका है वह पर्याप्त होती, इसलिए उसे छोड़ा जाता है।

बेजान-से स्वर में दारोग़ा ने कहा, "बधाई है। आप अब आज़ाद हैं। दफ्तर से अपना सामान वगैरह ले लीजिए।"

"और बाकी लोग? पूरा फैसला तो सुनाइए—"

"विद्याभूषण को एक वर्ष; सन्तराम और केवलराम को छः-छः महीने, हंसराज रिहा हो गया है।"

"मैं उनसे मिल नहीं सकता?"

दारोग़ा ज़ोर से हँसे। "आपने सुना नहीं, जेल की यारी क्या होती है? कैदियों से भी कोई मिलता है?"

"तो आप नहीं मिलने देंगे?"

"वे अब क़ैदी हैं। तीन महीने में एक मुलाक़ात कर सकते हैं। आप दरखास्त दे सकते हैं; पर आप मिलेंगे तो तीन महीने तक वे दूसरी मुलाक़ात नहीं कर सकेंगे। शायद इसके लिए वे आपके शुक्रमन्द नहीं होंगे।"

"और हंसराज ?"

"उसे एक घण्टा पहले रिहा कर दिया गया है।"

शेखर चुपचाप दफ्तर में चला गया।

दस महीने नष्ट···

उदास भाव से शेखर दफ्तर की कार्रवाई समाप्त करने के बाद ड्योढ़ी का फाटक खुलने की प्रतीक्षा में खड़ा था। उसे लेने कोई नहीं आया था—किसी को खबर नहीं थी। वकील को रही होगी, पर वे अभी काम में व्यस्त होंगे···अकेला ही वह बाहर निकलेगा, अकेला और उदास—जीवन के बड़े-बड़े दस महीने नष्ट करके···

नष्ट ? बाबा मदनसिंह ने इक्कीस वर्ष वहाँ बिताए थे, और उसके बाद भी लिख गए थे कि दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है...इस एक बात को जानने में दस महीने सफल हो जाते—और उसने बाबा मदनसिंह को जाना था, मोहसिन को जाना था, रामजी को जाना था, स्वयं अपने को जाना था...नष्ट ? अकृतज्ञ शेखर···

दस दीर्घ जीवनाक्रान्त महीने···बन्धनों का अन्त – जिज्ञासाओं का अन्त—जीवन, केवल जीवन, विस्तृत और अबाध जीवन···

किन्तु जब फाटक खड़खड़ाकर खुलने लगा, बाहर का दृश्य उसके सामने आ गया, ठीक उसी के सामने, बिना सीखचों की ओट लिए, तब एकाएक उसे अपनी बात पर सन्देह हो आया। बन्धनों का अन्त ? जिज्ञासा का अन्त ? शेखर को बहुत पहले पढ़ी हुई कविता की दो पंक्तियाँ याद आईं—

Peace, peace, such a small lamp
illumines, on this highway,
So dimly, so few steps infront of my feet*...

सभी कुछ जानने को है अभी, सभी कुछ काट गिराने को है···

और शशि ?

सहारे के लिए केवल एक छोटी-सी बात—पर बाबा ने लिखा था, अन्तिम सूत्र... उन्हीं के लिए अन्तिम, या मानव-मात्र के लिए अन्तिम ?···

फाटक उसके पीछे बन्द हो गये थे। वह मुक्त था।

"अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है···"

---

* शान्ति, शान्ति ! इस राजमार्ग पर केवल एक छोटा-सा दीप
आलोकित करता है—
इसके फीके प्रकाश से इतने थोड़े-से कदम मेरे चरणों के आगे...

तृतीय खण्ड :

शशि और शेखर

क्या बाबा मदनसिंह का स्वर है यह, जिसकी गूँज मेरे कानों में है ? क्या यह उत्फुल्ल गरिष्ठ स्वर उसी वीर का है, जिसकी निर्बलता भी उसके स्वर से गौरव युक्त हो जाती थी ?

"अपने विचारों को इस चारदीवारी से बाहर मत भटकने दो। अपने सगों का विचार करके तुम उनकी यातना नहीं घटा सकते, न उन्हें कोई सुख पहुँचा सकते हो। उलटे हर समय उनके क्लेश की याद से तुम अपनी दृढ़ता की नींव खोद रहे हो !"

क्या यह सच है ? नहीं, यह बाबा का स्वर नहीं हो सकता—बाबा का ज्ञान इससे बड़ा था ! तब क्या है यह ? मेरा अहंकार है ?

अतीत से मेरी दृढ़ता घटती नहीं, बढ़ती है, क्योंकि जितना ही मैं उसे देखता हूँ, उतना ही मैं उसके भीतर की अनिवार्यता को पहचानता हूँ—जानता हूँ कि आज वह 'भूत' इसलिए है कि एक दिन वह भविष्य—अवश्यं भवितव्य—था···मैं जानता हूँ कि मुझे लड़ना होगा, हमें लड़ते जाना होगा, कि लड़ाई से होनेवाले क्लेश के कारण रुक जाना उस क्लेश और अन्याय और महायातना को स्थायी बनाना है जो पहले से मौजूद है···

लेकिन वह गम्भीर स्वर मुझसे सहमत भी होता है,—घूम-घूमकर सनक उठता है, 'बन्दी, एक दिन आएगा जब तुम आज की इस यातना के गौरव के लिए अपनी दाहिनी भुजा देने को तय्यार होगे—इतना बड़ा है यह गौरव—"

क्यों ? क्या मैं आज भी तय्यार नहीं हूँ ? क्या मैं आज भी केवल एक भुजा नहीं, अपना सिर भी देने को तय्यार नहीं हूँ ?

वह स्वर हँसता है। "सिर ? सिर तो तुम्हारा दे दिया गया !"

किन्तु क्या यह स्वर सच है ? क्या यह आत्मरक्षा का एक साधन नहीं है ? क्या यह यातना सचमुच गौरव है, क्या वह सचमुच गौरव नहीं होता जिसकी याद का यत्न ही मुझे ऐसा डरा देता है कि मैं बहाने खोजता हूँ ? यदि मैं 'साधारण' मानव ही होता, अखबारों का और हस्ताक्षर माँगनेवालों का और सिपाहियों का और साम्राज्य-सत्ता का खिलौना न होता, केवल जीने और रहने और मरने की स्पष्टतया अकिंचन परम्परा में प्यार पा और दे सकनेवाला एक 'कोई', तो क्या सचमुच उसका गौरव बहुत कम होता ?

तुम्हारा जाना भी भवितव्य था या नहीं, शशि, मैं नहीं जानता, पर तुम चली तो गई ही ; और मुझे यह मानने में शर्म नहीं कि तुम न गई होतीं तो—तो—

पर नहीं, परिताप कैसे हो सकता ? तुम्हीं होतीं, तो परिताप की ज़रूरत किस बात के लिए होती !

*　　*　　*
* *　　* *　　* *

फाटक के बाहर खड़ा होकर शेखर कुछ क्षणों के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। क्षण-भर तो उसे ऐसा लगा, मानों वह फिर जेल लौट जाना चाहता है, बाहर आने में उसकी अनिच्छा है। फिर उसने अपने पैरों को बाध्य किया कि वे आगे बढ़ें। एक-एक मंजिल नाँघता हुआ वह मानों अपने को चलता रहने के लिए अपने को याद दिलाता जाता, 'यह तुम क्वार्टरों से आगे निकल आए।' 'यह मुर्दाघर पीछे रह गया।' 'यह लुहार-हाता भी निकल गया।' 'यह बाहर का जँगला है और यह फाटक, और अब तुम सड़क पर हो।' 'वह सड़क का मोड़ है।'

मोड़ पर वह फिर क्षण भर रुका ; फिर अनिश्चय की, अनिच्छा की एक रगड़ उसके हृदय को छीलती चली गई। साथ ही उसने जान लिया कि वह अनिच्छा लौटने की इच्छा नहीं है, वह उधर बढ़ने का डर है जिधर वह जा रहा है।

वह कहाँ जाय? कालेज? स्वप्नवत् एक दृश्य उसके आगे दौड़ गया—लड़कों की भीड़ शेखर को घेरे है, कुछ उसे कन्धों पर उठाना चाहते हैं, और हल्ला हो रहा है—जिन्दाबाद! शेखर! इन्कलाब! और उसके तत्काल बाद एक दूसरा चित्र—टिकटी पर मोहसिन नंगा बँधा हुआ है, और उसके चूतड़ों की चिर्रियों से खून बह रहा है। नहीं, कालेज में उसके लिए स्थान नहीं है—और दस मास बाद क्या उसका नाम खाते पर होगा?

डरते-डरते उसका मन फिर उधर को बढ़ने लगा जिधर से अनिच्छा का सोता फूटा था—शशि के घर? "उस शशि को आशीर्वाद जो आज तक तुम्हारी बहिन थी...उस पद से तुम्हें अन्तिम बार प्रणाम करती है..." क्या मैं उसे जानता हूँ? क्या वह बदल नहीं गई है, क्या वह चली नहीं गई है—क्या 'शादी के बाद रमा अपने घर चली गई,' वाली बात उसके लिए भी वैसी ही दुर्निवार सच नहीं हो गई जैसी एक दिन पहले भी शेखर के जीवन में हुई थी?

नहीं, नहीं, नहीं! यह मेरी नीचता है!

और अपने को दिलासा देने के लिए शेखर ने हठात् बाबा का वाक्य याद किया—'दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है'—क्या मुझमें विश्वास की कमी है?

वह आगे चल पड़ा। लेकिन कदम उठाने की प्रेरणा के साथ ही उसने जान लिया कि वह शशि के घर की ओर नहीं उठ रहा है।

वह नहीं समझ सका कि क्यों उसके पैर उसे इस प्रोफ़ेसर के घर ले आए हैं। प्रोफ़ेसर हीथ से उसकी कभी विशेष घनिष्ठता नहीं हुई थी, और इस समय कोई कारण नहीं था कि वह उधर आकर्षित हो—प्रोफ़ेसर हीथ अँगरेज़ थे और शेखर ने उपन्यासों से बृटिश मध्यवर्ग के आदमी का जो खाका खींचा था वह उन पर बहुत ठीक उतरता था। सामाजिक अलगाव, रूढ़ि-बद्धता, रीति-व्यवहार के कड़े बन्धनों के नीचे छिपी हुई शर्मिंदा-स भावुकता—शेखर ने समझ रखा था कि ये सब बातें प्रोफ़ेसर हीथ में पर्याप्त मात्रा में

मौजूद हैं। इस समय उनसे मिलने में उसके बिखरे हुए मन को एकाग्र होने के लिए काफ़ी ज़ोर लगाना पड़ेगा—शायद वह उसके लिए असमर्थ होकर बुद्धू बने...पर क्या कहीं इस विवश एकाग्रता के लिए ही तो नहीं वह उधर जा रहा था? एकाग्र होने को बाध्य होना एक सामाजिक लड़ाई के लिए बाध्य होना है, और उसकी डरी हुई आत्मा लड़ाई से ही तो भागना चाहती है···

प्रोफेसर साहब उसे सीढ़ियों पर से मिले। उनके चेहरे का पहला विस्मयभाव फ़ौरन ही प्रसन्नता में परिणत हो गया—"हेलो शेखर! तुम आ गए?" और उसके कुछ कहने से पहले, "बिल्कुल बरी हो न—कोई झंझट बाकी तो नहीं है?"

हाथ मिलाकर शेखर ने हाथ खींच लिया, पर उसके चेहरे की मुस्कुराहट बनी रही।

"जी हां, कोई झंझट बाकी नहीं है। सब कुछ—पूर्ववत् हो गया है।" एक छाया उसके अन्तःपट पर दौड़ गई—क्या सचमुच? और शशि···

"अच्छा! तो तुम भीतर बैठोगे न? मैं एक क्लास लेने जा रहा हूँ—मुफ्त की झंझट सिर आ पड़ी थी—चाय तो यहीं पियोगे न—ज़रूर मेरे साथ पीना—भीतर पुस्तकें बहुत हैं—और चित्र—"

"धन्यवाद; मैं केवल मिलने आया था, फिर मिलूँगा—"

"नहीं, चाय तो तुम्हें पीनी होगी"—शेखर के चेहरे पर विकलता का भाव देखकर, 'क्या दूसरा काम है? तो फिर चाय के समय तक लौट आना—हां, तुम्हारी रिहाई कब हुई थी?"

शेखर ने धीरे-धीरे कहा, "रिहा होकर सीधा यहाँ आ रहा हूँ।"

"ऐं—सच? तब तो तुम्हें अपने बन्धुओं से मिलना होगा, मैं अन्याय कर रहा हूँ। तुम मिल जाओ। चाय पर अवश्य आना—"

प्रोफ़ेसर के साथ उतरता हुआ शेखर एक खोखली मुस्कान लेकर रह गया। नीचे उतरने के बाद वे जब चाय का न्योता दुहराकर चले गए, तब वह मुस्कान हँसी में फूट निकली—'बन्धुओं से मिलना!' शेखर ने ऐसा मुँह बनाया जैसे कोई कड़वी वस्तु खा गया हो।

शेखर के चचा तिमंजले पर रहते थे। सीढ़ियाँ चढ़ने में शेखर को कम आत्म-ग्लानि नहीं हुई थी, और उन तंग सीढ़ियों पर समय इतना लगता था कि आत्म-ग्लानि की चरम सीमा तक पहुँचा जा सकता था···शेखर का साहस—नहीं, साहस की कमी से पैदा हुई बाध्यता—ऊपर पहुँचते-पहुँचते मुरझा गई थी। बन्द किवाड़ की साँकल पर हाथ रखकर वह क्षण-भर रुका रहा।

मुझमें और इस डाक विभाग के इन्स्पेक्टर चचा में क्या साम्य, क्या सम्बन्ध है? शेखर को याद आया, एक बार गर्मियों के दिनों में कालेज में वह बीमार हुआ था तो चचासे समाचार जानकर चाची ने एक तोला इमली भिजवाई थी कि इसका शर्बत करके पिये···शेखर

यदि मनुष्य न होकर एक बेरिंग चिट्ठी होता तो चचा को उसमें अधिक दिलचस्पी हो सकती —वर्ना शेखर उनकी दुनिया के बाहर की वस्तु था…उसका हाथ कुण्डे पर से उठ गया और वह दबे पाँच नीचे उतर गया।

शशि का घर वहाँ से बहुत दूर नहीं होना चाहिए—पते से शेखर ने ऐसा अनुमान लगाया, पर वहाँ तो जाना नहीं है—और—

क्यों शेखर ने शशि की सब चिट्ठियाँ फाड़ दी थीं ? इस समय उनकी कितनी ज़रूरत थी उसे—उनकी घनिष्टता की, उनके प्यार की, उनकी उस समीपता की 'जो अन्तिम प्रणाम कर गई है' ! उफ़, यदि वे पत्र होते, तो शेखर फिर खींच ला सकता उस बीती हुई स्थिति को—

जैसे पत्र कभी प्यार का स्थान ले सकते हैं !

मूर्ख कहीं का !

* * *
* * * * * *

शेखर समय से पहले नहीं पहुँचा था। किवाड़ खटखटाते ही खुल गया और प्रोफेसर हीथ ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा, "शेखर, तुम्हारे लिए एक सर्प्राइज़ रखा है।"

शेखर ने आँख उठाई। परिचय की ज़रूरत नहीं थी, सामने शेखर का मुकदमा सुनने-वाले मजिस्ट्रेट साहब बैठे थे।

मिस्टर बर्नेस ने कहा, "रिहाई पर बधाइयाँ।"

शेखर ने तत्काल उत्तर दिया, "फैसले पर आपको भी बधाई—कम-से-कम फैसले के इस अंश पर !" वातावरण कुछ हल्का हो गया। शेखर बैठ गया, इधर-उधर की बातें होने लगीं। प्रोफेसर हीथ ने बताया कि उन्होंने बर्नेस को भी चाय के लिए निमन्त्रित कर लिया था ताकि बातचीत दिलचस्प हो सके, और वे परस्पर अपने असली भाव व्यक्त कर सकें।

चाय शुरू हुई। बातचीत के सिलसिले में प्रोफेसर ने बर्नेस को बताया कि शेखर लेखक है। "क्या लिखते हैं आप—" बर्नेस ने प्रश्न शुरू ही किया था कि प्रोफेसर ने उत्तर दे दिया, "शेखर प्रायः गल्प लिखता है, कभी कुछ—"

"मैंने पहले ही यही सोचा था।"

शेखर ने कुछ उत्सुक होकर पूछा, "क्यों ?"

"क्योंकि अदालत में आपकी सफ़ाई का बयान गल्पकला का बढ़िया नमूना था !" कहकर बर्नेस अपने मज़ाक पर खिलखिलाकर हँस पड़े।

मोहसिन के नंगे चूतड़ और बाबा के अन्तिम दिन की आँखें शेखर के आगे नाच गईं। अपना अपमान उसे दुगुना तीव्र होकर चुभ गया, पर उसने ढीठ होकर हँसते हुए कहा, "आपकी साहित्यिक परख का मैं कायल नहीं हो सकता।" मन-ही-मन निश्चय किया कि वह बदला लेगा।

प्रोफ़ेसर हीथ ने शायद बात टालने के लिए कहा, "शेखर, मैंने सोचा कि तुम दोनों हाँ होगे तो एक दूसरे को जानने का अच्छा मौका मिलेगा। प्रायः भारत में भारतीयों और ग्रेज़ों का सम्बन्ध ऐसा रहता है कि हम लोग तकल्लुफ़ में ही रह जाते हैं। मिस्टर बर्नेस ी साहित्य में बहुत रुचि है। शतरंज के भी खिलाड़ी हैं। बर्नेस, कभी शेखर को अपने हाँ बुलाना—' उन्होंने बर्नेस की ओर देखा, वे बोले, "अवश्य ही—"; प्रोफ़ेसर फिर हने चले, "और शेखर, तुम अवश्य इनके यहाँ जाना। श्रीमती बर्नेस बड़ी सज्जन हैं और ई दृष्टियों से असाधारण महिला हैं—"

शेखर को रास्ता दीखा। उसने कुछ खिलकर कहा, "मैंने पहले ही यही सोचा था।"

बर्नेस कुछ चौंके, लेकिन उनके मन का प्रश्न व्यक्त हुआ प्रोफ़ेसर के मुँह से—"क्यों?"

"क्योंकि अदालत में मिस्टर बर्नेस को देखकर मुझे ख्याल आया करता था कि यह व्यक्ति कसी असाधारण स्त्री का ही पति होगा।" सन्तुष्ट होकर शेखर कुछ पीछे झुककर आराम बैठ गया। वातावरण में आये हुए हल्के-से तनाव को दूर करने की इच्छा से प्रोफ़ेसर ने तरा बदला, "शेखर, तुम अंग्रेज़ी में क्यों नहीं लिखते?"

शेखर ने कुछ सोचते-से स्वर में कहा, "अंग्रेज़ी में···?"

"हाँ, इधर कुछ समय से उधर लोग भारत में काफ़ी दिलचस्पी लेने लगे हैं। यदि ारतीय जीवन के कुछ चित्र कहानी के रूप में अंग्रेज़ी पाठक के आगे रखे जायँ, तो शायद ाफ़ी पसन्द किए जायँ।" कहते-कहते प्रोफ़ेसर ने सम्मति के लिए बर्नेस की ओर देखा।

"हूँ—ऐसी चीजों के लिए अमरीका में तो काफ़ी माँग है, पर मेरे ख़याल में हम लोग बहुत आकर्षित नहीं हैं। निजी तौर पर मुझे तो बहुत अच्छी लगती हैं, पर हम अंग्रेज़ ोई खास पसन्द नहीं करते।"

प्रोफ़ेसर हीथ ने सहमति जताते हुए कहा, "हाँ, हमारे लिए वे कोई महत्त्व नहीं खतीं—"

शेखर ने प्रोफ़ेसर की ओर उन्मुख होकर पूछा, "वैसे आपका क्या ख़याल है—यानी जी तौर पर आपका? क्या आपको वे पसन्द आती हैं?"

"हाँ, अवश्य; मैं तो बहुत पसन्द करता हूँ—"

शेखर उठ बैठा। तो यों है बात! ये दोनों ही व्यक्ति किसी वस्तु को चाहते हैं, किन्तु र भी कहते हैं, हमें उसमें दिलचस्पी नहीं है, हमारे लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है, हम रवाह नहीं करते—हम जो एक देश हैं, एक राष्ट्र हैं, एक इकाई हैं, हम जो हम हैं, न थे, हम रहेंगे···

उसे लगा, जैसे किसी ने उसे थप्पड़ मारा है। उसके दाँत घुँटकर बन्द हो गए, उसकी ाँखों में दो अपूर्ण आँसू जलने लगे। किसी तरह दो-चार घूँट और पीकर उसने विदा ांगी और बाहर आकर जल्दी से नीचे उतर गया।

क्या हमारे देशवासी भी ऐसे कहते हैं—कह सकते हैं? हाय भारत! हाय हम! हाय हम!

*   *   *
* *   * *   * *

सड़क पर बत्ती जलने के पहले के धुँधले चिकने अरुणाले प्रकाश में उसे लगने लगा कि वह व्यर्थ ही उत्तेजित हो गया है, जेल से आने के पहले दिन की उत्तेजना अप्रत्यक्ष मार्गों में प्रकट हो रही है...क्या हमारी भी संस्कृति एक नहीं है, क्या ब्रिटेन से पचीस गुने वर्ग-फल और दस गुनी आबादी के इस देश में ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक घनीभूत सांस्कृतिक एका नहीं है? और यहाँ भी अकेले व्यक्ति की रुचि और समूह के सम्मान में वैसा ही भेद हो सकता है—'मैं' एलियट अथवा एज़रा पाउन्ड पसन्द कर सकता हूँ जब कि 'हमारी' रुचि छायावाद की ओर है...व्यर्थ ही हिस्टीरिकल (उन्माद-ग्रस्त) हो रहा हूँ..

पर उसका मन नहीं माना, उसे लगा कि वह खींचतान कर अपनी सफ़ाई दे रहा है। बात चाहे वैसी हो, उसकी चेतना हममें नहीं है, अपनी एकता का अभिमान तो क्या, उसका जीता-जागता ज्ञान भी हमें नहीं है! वह एक मरा हुआ सत्य है, इसलिए झूठ है...

कसक उसके मन में बनी रही। वर्षा में बैठकर भीगता हुआ बन्दर अपने भाग्य से जभी कुछ सन्तुष्ट होने लगे, तभी ऊपर से ओले पड़ने लगें, तब जैसा ओछा वह अपने को अनुभव करता होगा, वैसा ही शेखर उस समय कर रहा था, और किसी भीतरी ग्लानि की गरदनियों से धिकलता हुआ चला जा रहा था...

एकाएक बत्तियाँ जलीं, वह ठिठक गया। उसकी आँखें जिस जगह टिकी थीं, वहाँ एक पीतल का बोर्ड लगा हुआ था।

शेखर के सामने शशि का घर था।

*   *   *
* *   * *   * *

'भोगनेवाले प्राणी में और रचना करनेवाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहता है। जितना ही बड़ा वह अलगाव है, उतना ही बड़ा कलाकार होगा।'

लेकिन क्या मैं कलाकार हूँ? क्या मुझे कलाकार होने की परवा है जब कि मैं उस जीवन को जी सकता हूँ जो कि तुम्हारे संसर्ग से बना है? अलगाव का मुझे क्यों मोह, तटस्थता से मुझे क्यों प्रेम, जब कि मैं जीवन के एक अणु से भी अलग नहीं होना चाहता; जब कि उसका एक-एक अणु तुमसे अनुप्राणित है! कलाकार मुझसे बड़े हैं, हुआ करें; मैं झुका हुआ हूँ, स्तब्ध हूँ, प्रतीक्षमान हूँ और जानता हूँ कि तुम्हारा वरदहस्त मेरे ऊपर है...

*   *   *
* *   * *   * *

शेखर तनिक-सा काँप गया, पर कोई आशंका इतनी बड़ी नहीं थी कि एक बार उस द्वार के आगे आ ही जाने पर शेखर को मोड़ ले जाय। शेखर ने दो बड़े लम्बे-लम्बे श्वास

ांचे, जैसे कोई झील में कूदने से पहले खींचता है। उन सांसों के साथ वह जैसे बहुत-सी भावनाओं को एक साथ ही पी गया—जिनमें एक यह भी थी कि शशि पराई है—पराई नहीं, सदा के लिए अपरिचित हो गई है, क्योंकि वह परिचय के घेरे से स्वयं निकल ई है।

फिर उसने किवाड़ खटखटाने के लिए हाथ उठाया, पर तत्काल ही अनुभव करके कि हाँ कुछ समय और रुकने का बहाना है, उसने हाथ खींच लिया और सीढ़ियाँ चढ़कर ंजिले पर जा पहुँचा।

बैठक में तीन-चार कुर्सियाँ पड़ी थीं। एक पर कोई सूटधारी व्यक्ति बैठा हुआ फल खा ा था; उसके आगे की तिपाई पर चाय के जूठे बर्त्तन भी पड़े थे। शेखर के आने के र से उस व्यक्ति ने मुड़कर देखा, और सहसा उसकी आंखों में अपरिचय घना हो आया। खर ने उस क्षण में दो बातें देखीं—कि सूट अच्छा फिट बैठता है, और उस व्यक्ति की ें बहुत घनी और बीच में मिली हुई हैं। फिर उसने कहा, "मेरा नाम चन्द्रशेखर है—"

"आइए, आइए—आप कब आए? यह तो बड़ा अच्छा दिन है..." वह व्यक्ति जल्दी उठकर आगे बढ़ा और फिर रुककर बोला, "आइए, आइए, बैठिए न—" शेखर ने देखा वाक्य के आरम्भ का सहज भाव क्रमशः शिष्टाचार के आवरण में छिप गया है, और जैसे व्यक्ति भी इसका अनुभव करके ही कुछ बात कर डालना चाह रहा है...

"शशि से तो अक्सर आप ही की बात होती है। हम लोग तो वहीं मिलने आने की च रहे थे; पर इधर कुछ—यह काम भी बड़ा—" सहसा पुकारकर, "शशि, यह देखना न आए हैं—तुम्हारे भइया!"

तो यही शशि के पति रामेश्वर हैं। प्रतीक्षा के दो-एक क्षणों के बाद भीतर के कमरे ओट से शशि आई। देहरी पर पैर रखते ही उसने पूछा, "अरे, तुम कैसे आ गए?" र ठिठक गई।

एक मुस्कराहट भी नहीं—चेहरे पर किसी तरह का कोई भाव नहीं झलका। पर क्या बड़ी-बड़ी खुली आँखों का स्निग्ध विस्मय और उस प्रश्न की सहज आत्मीयता झूठी थी? —किन्तु शेखर को निराश होने का समय नहीं मिला।

रामेश्वर ने कहा, "मैंने तो शशि से कहा भी था कि कम-से-कम फैसले के दिन तो ल ही आवें पर इन्होंने कोई खास उत्साह ही नहीं दिखाया—" शेखर ने शशि की ओर ट के लिए देखा, पर शशि की शून्य दृष्टि में कोई उत्तर नहीं था—"फिर मैं भी रह ा। मैं तो कहता हूँ कि ऐसे वीर पुरुष के दर्शन करना भी सौभाग्य से ही मिलता है। तो त्यागी महात्मा हैं।"

नहीं, यह सच नहीं हो सकता। पर यह मिथ्या प्रशंसा किसके लिए है, उसके या शशि ? उसने छिपी हुई, पर भेदक दृष्टि से रामेश्वर की ओर देखा, वह स्थिर भाव से शशि को र ही देख रहा था। शशि अब भी चुप ही थी, और वैसे ही एक पैर देहरी पर रखे खड़ी थी।

"अरे आप अच्छी बहिन हैं—न नमस्कार, न कुछ, न बैठने तक को कहा है ; लाइए न इनके लिए कुछ चाय वगैरह – लीजिए तब तक फल खाइए—"

शेखर के कुछ ननु-नच करने के पहले ही शशि वहीं से मुड़कर भीतर चली गई, और मिनट-भर बाद एक प्याला चाय वहीं से तय्यार करके ले आई।

"अरे, ऐसे—" कुछ हिचकती-सी दृष्टि से रामेश्वर ने मेज़ पर पड़ी हुई केतली, दूध-दानी आदि की ओर देखा।

शेखर ने जल्दी से कहा, "ठीक है, ठीक है ; असल में मैं चाय पीता भी नहीं हूँ—" और बात समाप्त करने के लिए प्याला अपनी ओर खींच लिया। शशि नीचे बिछी हुई चटाई पर बैठकर एक तश्तरी में कुछ फल रख रही थी।

रामेश्वर ने कुछ हँसकर कहा, "आपकी बहिन का स्वभाव विचित्र है।" हँसी में कोई सार नहीं था, उसका उद्देश्य केवल यही था कि इस उक्ति को आलोचना न समझा जाय, केवल बोध ही माना जाय।

शेखर ने भी कुछ हँसकर कहा, "असल में हमारा सारा कुनबा ही विचित्र है—"

शशि ने एक द्रुत, तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा और फिर अपने काम में लग गई। रामेश्वर ने कृत्रिम विस्मय से कहा, "अच्छा?" शेखर को लगा कि उसकी मुस्कराहट में हल्का-सा उपहास का भाव है। किन्तु क्यों, वह नहीं जान सका।

शेखर तुरत कुछ नयी बात छेड़ना चाह रहा था, पर उसे कुछ सूझा ही नहीं। इस बीच शशि ने फल लाकर उसके आगे रख दिए। उसने पूछना चाहा कि तुम नहीं खातीं? पर यह सोचकर कि घर-घर का व्यवहार अलग-अलग होता है और शायद पति के सामने वह नहीं खाती होगी, उसने तश्तरी अपनी ओर खींच ली और रामेश्वर से पूछा, "आप भी लीजिए न?"

"लीजिए, लीजिए—" कहकर उसने एक फांक सन्तरे की उठा ली। आपकी तो हम कुछ खातिर ही नहीं कर रहे। और आप तो अभी सीधे छूटकर आ रहे हैं? हां, यह तो हमने पूछा ही नहीं कि फ़ैसला कब क्या हुआ!"

शेखर छूटने के बाद जहाँ-जहाँ गया था उसका ब्योरा बता दिया।

"आप अब ठहरे कहां हैं!"

शेखर ने कुछ हँसकर कहा, "अभी ठहरा कहां हूँ—अभी तो चल-ही-चल रहा हूँ!"

"अच्छा, तो आप यहीं रहिए न! बहिन का घर तो अपना घर होता है। आप ज़रूर यहीं रहिए; मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, और शशि को तो होगी ही। वह तो अक्सर आपकी बात करती रहती है—"

शेखर को हल्का-सा याद आया कि यह बात दूसरी बार कही जा रही है। उसने शशि की ओर देखा, पर वह जैसे इस निमंत्रण से तटस्थ थी। रामेश्वर ने शेखर की दृष्टि का अनुसरण करते हुए कहा, "आप भी कहिए न इन्हें कि यहीं रहें? मुझसे तो शायद संकोच करते हैं—"

शशि ने दृष्टि नीचे किए हुए ही कहा, "मैं तो छोटी हूँ।"

यह उत्तर रामेश्वर को ही नहीं, शेखर को भी कुछ पहेली-सा लगा।

"तो क्या?" कुछ रुककर, जैसे नयी सूझ पाकर रामेश्वर ने कहा, "आप कहीं यह तो नहीं सोच रहे कि छोटी बहिन के घर कैसे रहा जाय! चलिए--" और वह ज़ोर से हँसा, "आप इसे होटल ही समझकर दाम चुका दीजिएगा! पर आजकल तो--" शेखर ने कहा, "नहीं, यह बात तो बिल्कुल नहीं है।" फिर वह भी हँसा। "नहीं तो मैं इन फलों के दाम निकालूँ? यह तो मैंने बिना वह सब सोचे ही खा लिए हैं।"

रामेश्वर ठठाकर हँसा।

किन्तु हँसी के शान्त होने के बाद फिर एक शून्य उत्पन्न हो गया - साथ हँसने के बाद घनिष्टता नहीं तो कम-से-कम परिचिति के जो हल्के तन्तु दो व्यक्तियों के बीच में बन जाने चाहिए, वह जैसे नहीं बने। शिष्टाचार के पैंतरे फिर होने लगे। रामेश्वर ने पूछा, "आप भोजन तो करेंगे न? शशि, भोजन में कितनी देर है?"

"तय्यार ही है—"

"नहीं, भोजन तो—"

"वाह, यह कैसे हो सकता है? चाय तो मैं देर से पीता हूँ, इसीलिए आपसे पूछा था। समय तो भोजन करने का है, आइए तब तक ज़रा घूम आएँ, लौटकर भोजन करेंगे।"

"जी नहीं, मुझे भूख बिल्कुल नहीं रही, मेरा भोजन तो हो भी चुका है। यह फल। और—"

"चलिए थोड़ा घूम तो आएँ, लौटने तक भूख लग आएगी—"

शेखर ने कहा, "घूमते-घूमते तो थक गया। अब चलता हूँ—ज़रा कालेज से पता लगाऊँ कि आगे कैसे क्या होगा!"

"यह सब तो कल हो जायगा। पर आप थके हैं तो बैठिए, मैं ज़रा क्लब तक हो आऊँ, थोड़ा-सा काम है। अभी आता हूँ लौटकर।" फिर शशि की ओर उन्मुख होकर, "ये यहीं ठहरेंगे, इन्हें जाने नहीं देना—जैसे भी हो राज़ी कर लेना।"

शेखर को बिना कुछ कहने का मौका दिए रामेश्वर नीचे उतर गया।

पाँच-सात दीर्घ सेकण्डों तक कोई कुछ नहीं बोला। फिर शशि ने पूछा, "कहाँ रहोगे?"

शेखर जानता था कि शशि के यहाँ वह नहीं रहेगा। पर शशि उससे कहेगी भी नहीं, पति के कहने के बाद समर्थन में भी नहीं, यह उसे कुछ विचित्र लगा। पर निराशा को छिपाने के लिए वह जल्दी-जल्दी कुछ-न-कुछ झूठ आविष्कार करने के लिए बोला, "सोचता हूँ, होस्टल ही जाऊँगा। कालेज का पता करूँगा कि पढ़ाई आगे चलेगी कि नहीं। नहीं तो और कुछ सोचना होगा।"

"घर नहीं जाओगे? माताजी बीमार हैं।"

"अच्छा ? पर मैं अभी तो नहीं जाऊँगा—"

"खाना खाओगे ?"

"नहीं, इच्छा नहीं है।"

थोड़ी देर मौन रहा। फिर शशि ने पूछा, "जेल कैसा लगा ?"

शेखर को अचानक उत्तर नहीं सूझा। बोला, "क्यों ?"

"बहुत-से लोग जेल जाकर खट्टे हो जाते हैं—उनका किसी में विश्वास नहीं रहता। तुम तो वैसे नहीं हो गए ?"

मदनसिंह का चित्र शेखर की अन्तर्दृष्टि के आगे दौड़ गया।

"अम्—नहीं। मैंने जेल में बहुत-कुछ सीखा है—काफ़ी कड़ुवा, पर मैं तो शायद कड़ुवा नहीं हुआ हूँ—"

शशि ने भरपूर दृष्टि से शेखर की आँखों की ओर देखा। उसकी दृष्टि में आश्वासन और सन्तोष देखकर शेखर को अच्छा लगा। शशि के इस विचित्र व्यवहार से जो रूखापन उसके प्राणों में समा रहा था वह कुछ स्निग्ध हो गया।

"अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे। योंही भटकना अच्छा नहीं है। अबकी जब आओगे तो मैं पूछूँगी कि क्या निश्चय किया है—अबकी क्यों, कल तो आओगे ही। आओगे न ? वह भी तो कह गए हैं।"

शेखर ने चौंककर शशि की ओर देखा। शशि की बात में जो एक रहस्यमय अन्तर्ध्वनि है, वह क्या है ? उसने एकाएक जाना कि आरम्भ में ही शशि ने जितनी बातें की हैं, प्रत्येक की स्पष्ट ध्वनि के नीचे एक गहरा और विशालतर अर्थ है—पर क्या ? उसका ध्यान रामेश्वर की बातों की ओर गया—उसकी बातों में भी कुछ था जो—

उसके विचार रुक गए, पर वह निर्मम होकर उन्हें आगे धकेलने लगा और उनके प्रत्याक्रमण से तिलमिलाता गया—

यहाँ कुछ है जो रहस्यमय है, जिसके रामेश्वर और शशि साथी हैं – मैं उसमें गैर हूँ ! क्या है वह ? क्या यही बात है कि पति-पत्नी सम्बन्ध के कारण उनमें एक गहरी आत्मीयता है जिसको गहरी ही रहना चाहिए, क्योंकि वह आत्मीयता है, और जिसे उघाड़कर देखना चाहना पाप है ? पर वह आत्मीयता तो प्यार की होती है, और प्यार में आनन्द मिलता है—क्या शशि सुखी है ? नहीं, मुझे तो नहीं लगता कि शशि के और मेरे—शशि और रामेश्वर के और मेरे—बीच में जो अनवच्छेद्य पर्दा खड़ा हो गया है वह वही पर्दा है जिसके पीछे आनन्द भोगनेवाला व्यक्ति जा छिपता है ! आनन्द एक झिल्ली की तरह है जिसमें व्यक्ति सिमटकर बन्द हो जाता है और दूसरों से पृथक् हो जाता है ; अपना जीवन दूसरों के लिए देकर भी वह दूसरों में मिलता नहीं, उनसे अलग रहता है···क्या यही दूरी शशि ने पाई है ?

नहीं। शशि मेरे जीवन से बाहर चली गई है। सुख के कारण नहीं, वैसे ही। हम लोग अपरिचित हो गए हैं। अब नया जो परिचय होगा, वह रामेश्वर की मार्फ़त होगा, और

मेश्वर में और मुझमें साम्य क्या है ? मेरे व्यसन अलग हैं और शील—शील तो मुझमें ही नहीं···शशि सुखी नहीं है, पर मैं यह जाननेवाला कोई नहीं हूँ कि उसे क्या दुःख । मैं गैर जो ठहरा—

"क्या सोच रहे हो ?"

शेखर ने सकपकाकर कहा, "कुछ नहीं, योंही । अब चलूँगा ।" वह उठ खड़ा हुआ । क भीषण उत्साह उसके मन में उमड़ रहा था, जिसके कारण वह वहाँ ठहरना नहीं ाहता था ।

शशि ने कहा, "बैठो अभी—" पर फिर उसके मुख की ओर देखकर चुपचाप उठ ड़ी हुई । शेखर के साथ-साथ वह सीढ़ियों के ऊपरवाले द्वार तक गई । वहाँ पहुँचकर शेखर कुछ रुककर उसकी ओर मुड़कर कहा, "अच्छा तो अब चलता हूँ—"

सहसा शशि ने पूछा, "देख लिया मेरा घर !"

तब एकाएक बाढ़-सी में शेखर ने देखा कि अगर कहीं दुराव है तो वह शशि का नाया हुआ नहीं है, और अपनी कुढ़न की सम्पूर्ण तुच्छता का अनुभव करते हुए, निश्छल नेह-भरे सहज अपनेपन के साथ उसने कहा, "देख लिया, शशि, बहुत कुछ देख लिया—" ौर नीचे उतर गया ।

पीछे प्रश्न आया, 'कब आओगे ?" पर इस प्रश्नकर्त्री को वह जानता था, और इस पनेपन के नाते समझता था कि यह प्रश्न जिज्ञासा नहीं है, केवल सूचना है कि वह तीक्षा करेगी ।

*
* *   *
* *   *
* *

यह सब निरुद्देश्य आवेग लेकर मैं कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा ?

'अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे···'

मैं क्या निश्चय करूँ ? आगे मैंने कौन-से निश्चय किए हैं ? या किए हैं तो कौन-से श्चय का अनुसरण सम्भव हो सका है···क्या जीवन की अबाध गति ही मुझे लहर पर के तराते हुए टीन के खाली डिब्बे की तरह इधर-उधर नहीं पटकती रही—कहीं पत्थर से कराा गया तो 'खन्न् !' से गूँज उठा, पर वह गूँज प्राणों के विद्रोह की थोड़े ही थी, वह वल आन्तरिक शून्य की, खोखल में भरी हुई वायु की ही थी—कभी ऊँचा उठा और भी नीचा धँसा, वह भी अपनी अन्तःशक्ति के सहारे नहीं, बहती लहर में प्रवहमान प्रेरण कारण···शक्ति के नाम पर मेरे पास क्या रहा है ? एक आन्तरिक खोखलापन, जिसके रण में तैरता गया हूँ, डूबा नहीं ! क्या इसी सम्बल के सहारे जीवन का युद्ध लड़ा जाता , क्या यही है वह पाथेय, जिससे कर्म का कँटीला पथ—

कविता, रूपक, शब्दाडम्बर !

किन्तु इस दिशा में सोचने से तो कुछ सिद्ध नहीं होता । हो सकता है कि जीवन की

लहर के प्रति अर्पित हो जाना ही सबसे बड़ा काम हो—पर यह मेरे स्वभाव के साथ तो नहीं चलता···या यही सही कि अभी इतनी मार नहीं खाई है कि वह सिद्धि स्वीकार्य जान पड़े—अभी संघर्ष बाकी है जिसमें मैं अपने को प्रेरक मानता रहूँ—चाहे भ्रमवश···अहंकार तो अहंकार ही सही, पर जब तक अहंकार अघा न जाय तब तक निष्काम आएगा कैसे, या सच्चा वह कैसे होगा ?

'अबकी बार आओगे तो पूछूँगी कि क्या निश्चय किया है·–'

सड़कों पर भटकते हुए शेखर ने आकाश की ओर देखा। शहर की जिस धूल ने उड़-उड़कर सड़क की बत्तियों की ज्योति फीकी कर दी थी, वह आकाश में भी छाई हुई थी। शेखर ने सोचा कि जेल के तारे शहर के तारों की अपेक्षा निर्मलतर होते हैं—और मन-ही-मन मुस्करा दिया। फिर उसे बाबा मदनसिंह की याद आई; और निश्चयवाला प्रश्न फिर सामने आ गया···

क्या करूँ मैं ?

'अपने भीतर जो सत्य तुमने पाया है, वह दूसरों को दे सकते हो ?'

शेखर को जान पड़ा कि यह बाबा का ही स्वर है। वह विस्मित नहीं हुआ, क्योंकि उसके विचारों पर बाबा की जो गहरी छाप पड़ी हुई थी, उसे वह जानता था। वह मानों बाबा के इस कल्पित स्वर से ही बातचीत करने लगा।

'तो क्या यह जीवन का उद्देश्य हो सकता है ? पर मैंने सत्य कहाँ पाया है—मैंने तो सन्देह ही सन्देह पाए हैं !'

'वही सही। कोई भूतपूर्व सत्य सब असन्दिग्ध नहीं रहा है, यह भी एक नकारात्मक सत्य है।'

'पर नकारात्मक सत्य के सहारे—'

'शेखर, अपने भीतर कुरेदकर देखो। क्या कोई घनात्मक राशि, कोई विश्वास वहाँ नहीं है, केवल ऋण ही ऋण है ?'

'विश्वास···"दर्द से भी बड़ा विस्सास"···शायद हो। अपने में विश्वास—यानी अहंकार। क्या वह उद्देश्य हो ?'

'क्या तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता जो तुम कर सकते हो--अपने लिए नहीं, अपने से बड़ी किसी इकाई के लिए—अर्थात् कोई भी काम, जो तुम्हारा नाता तुमसे बड़ी किसी चीज़ से जोड़े ?'

'जब अहंकार है, तब मुझसे बड़ा क्या ! मैं ही तो बड़ी चीज़ हुआ न !—'

'टालो मत—तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बड़ी वस्तु की झाँकी तुमने पाई है—सभी पाते हैं—'

शेखर ने एक बार फिर आकाश की ओर देखा। वातावरण वैसा ही धूल-भरा था, पर आकाश का रंग कुछ और गहरा हो गया था, इसलिए तारे कुछ कम धूमिल दीख रहे थे।

एक तारे के टिमटिमाने में शेखर को ऐसा भी लगा कि वह दो-तीन रंगों में चमकता है और रंग कुछ पहचाने भी जाते हैं, नीला, लाल, श्वेत···

उसे याद आया कि रात किसी के यहाँ काटनी है तो अब उस किसी को अपनी आसन्नता की सूचना देनी चाहिए। वह होस्टल की ओर चला जहाँ कम से-कम एक लड़का ऐसा था जिसके यहाँ वह जा सके···

*　　　　*　　　　*
* *　　　　* *　　　　* *

शेखर जब दुबारा शशि से मिला, तब रामेश्वर घर नहीं था। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसलिए कि शेखर ने अपने भावी कार्यक्रम की कुछ रूपरेखा बना भी ली थी, वह शशि के सामने अधिक सुस्थ रूप में आ सका और बातचीत कर सका। कांग्रेस के और जेल के अनुभव, बाबा मदनसिंह के संस्मरण, उनके कुछ सूत्र और उनकी भव्य मृत्यु, रामजी और मोहसिन की बात, घटना के रूप में जितनी बातें बताई जा सकती थीं सब उसने संक्षेप में बता दीं। शशि मुग्धभाव से सुनती रही। पर जब शेखर पूरी बात कह चुका और कुछ यह भाव भी उसमें आ चला कि वह बहुत देर तक लगातार बोलता रहा है, तब शशि ने एकाएक ऐसे पूछा जैसे बहुत देर से वह यही प्रश्न पूछना चाह रही थी—"और तुम ?"

शेखर ने अचकचाकर कहा, "क्या ?"

"यह तो सब बाहर की घटना है। तुमने अपनी बात तो कुछ कही नहीं। मैं वह भी सुनना चाहती हूँ।"

"अरे, मैं···" शेखर सकुचा गया। शशि से कैसे उस अन्तरंग जीवन की बात कहे, जिसमें शशि की ही देन इतनी बड़ी थी ?

"नहीं, मैं ज़रूर सुनूँगी। आज चाहे न सही, पर छोड़ूँगी थोड़े ही। तुम बनो अपरिचित तो बनो, मैं तो नहीं बनती, न मुझे तुमसे डर लगता है।"

शेखर चौंका, फिर लज्जित होकर सिर झुकाए रह गया।

"अच्छा, कुछ निश्चय किया है, क्या करोगे ?"

"हाँ।"

शशि प्रतीक्षा में चुप रही ; पर शेखर को न बोलते देख उसने पूछा, "क्या ?"

शेखर को लगा कि जो वह कहना चाहता है वह तभी कह सकेगा जब साथ ही उसका उपहास भी करता जाय, नहीं तो बात बड़ी बड़बोली लगेगी···हँसते हुए बोला, "कुछ करूँगा जिसे क्रान्ति कहते हैं ; सब चीज़ उलट-पलटकर रखूँगा, कुछ टूट-फूट जायगी तो कहूँगा कि पुरानी सड़ी हुई थी।"

शशि जान-बूझकर और गंभीर बनती हुई बोली, "हूँ। और ?"

"और क्या ? बाबा कहते थे, तोड़ना ही धर्म है, बनता तो अपने आप है। यानी अगर

मेरा एक दाँत टूट जाय—टूट क्यों जाय, तुम तोड़ डालो—तो डेंटिस्ट अपने आप प्रकट हो जायगा। यह विज्ञान का नियम है—कि प्रकृति को सूना मसूढ़ा अच्छा नहीं लगता।"

शशि ने उसी आरोपित गंभीरता के साथ पूछा, "यह तो हुआ उद्देश्य। इसके लिए करोगे क्या?"

"करूँगा क्या? हथौड़ा तो पास होगा नहीं, और कंकड़ मारने से दाँत टूटेगा नहीं, इसलिए हर किसी के दाँत में रस्सी बाँधकर एक-एक पत्थर उसके नीचे लटकाऊँगा--कि दाँत अपने-आप खिंच आएँ। काश्मीर में मैंने एक बुढ़िया को दाँत से पत्थर लटकाए बैठे देखा था—उसका दाँत दुखता था।"

शशि थोड़ा-थोड़ा झल्ला रही है, यह देखकर कुछ और हँसकर शेखर ने कहा, "मतलब यह कि मैं लिखूँगा। दाँतों में पत्थर नहीं, अपनी पुस्तकों के थद्दे बाँधकर लटकाऊँगा, आखिर कभी तो इतना बोझा होगा कि—"

अब जाके शशि थोड़ा-सा मुस्कराई। बोली, 'तो तुम साहित्यकार बनोगे? अच्छा।" एकाएक उसकी आँखों में एक दीप्ति जागी। "और तुम्हारा लिखना एक उद्देश्य के लिए होगा—विनाश के लिए और पुनर्निर्माण के लिए।" फिर उसने कुछ शान्त होकर कहा, "लेकिन शेखर, ऐसा लिखा हुआ सब अच्छा नहीं होता, सब साहित्य नहीं होता। वहाँ साहित्य का मोह करोगे कि उद्देश्य का?"

शेखर ने अनुभव किया कि अपनी बात को उपहास की आड़ में कहने की आवश्यकता नहीं थी। वह एकाएक गम्भीर होकर कहने लगा, "मोह तो मैं किसी का नहीं करूँगा। मोह ही तो वह दाँत है जो उखाड़ना है। पर इसके लिए तो कोई तरकीब निकालनी ही होगी—मैं जो कुछ लिखता हूँ, बहुत उबलकर लिखता हूँ, पर पीछे मुझे लगता है कि वह अच्छा नहीं है। बल्कि कभी यह भी लगता है कि उद्देश्य भी उसमें नहीं है, क्योंकि वह उबाल ही उबाल है, और उद्देश्य के लिए तो नक्शा बनाकर संयम से चलना चाहिए।"

दोनों चुप हो गए। एकाएक शशि ने उठकर कहा, "चाय बनानी है मुझे—"

शेखर ने बिदा ली और चला आया।

शेखर ने ग्वालमण्डी के पास एक चौमंजिले मकान की सबसे ऊपर की मंजिल में बारह रुपए महीने भाड़े पर डेढ़ कमरा लिया। बड़ा कमरा मकान के एक कोने पर था, आधे हिस्से में सीढ़ियों के लिए जगह घिर जाने के कारण कमरे का आकार चौरस न होकर कोण का हो गया था। कोण की बड़ी भुजा पूरब-पच्छिम थी, इसमें शेखर ने बैठक बनाई। दूसरी भुजा उत्तर-दक्खिन थी, इसमें उसने चारपाई रखी। इसके साथ ही एक छोटी-सी कोठरी थी, और कोठरी के बाहर सीढ़ियों से सटा हुआ छोटा-सा आँगन जिसमें एक ओर पानी का नल था और दूसरी ओर किसी पहले किरायेदार के चूल्हे की बची हुई लिपाई। पहले दिन तो शेखर को यह सोचकर आनन्द आया कि एक कमरे से वह दो कमरों का काम

निकाल सकता है, दूसरे दिन उसे विस्मय होने लगा कि इस इतनी जगह में जो लोग गिरस्ती और बच्चे-कच्चे लेकर रहते होंगे वे कैसे रहते होंगे, तीन दिन बाद उसने सोच लिया कि घर के बारे में ज्यादा सोचना भले लोगों का काम नहीं है। और फिर इस 'घर' का क्षेत्रफल उस कोठरी से लगभग दुगुना है जिसमें बाबा मदनसिंह ने अठारह साल तक…बल्कि, यहाँ तो पतरा कमरे में रखना आवश्यक नहीं है, इसकी व्यवस्था नीचे अलग है…

नौकर है नहीं, खाना होटल से आ जायगा (बिल का प्रश्न उठेगा, पर वह बाद का प्रश्न है।) अतः काम बहुत न था और फुर्सत पर्याप्त।

शेखर अपने बड़े—अर्थात् एकमात्र—कमरे में टहल रहा था। सोच रहा था कि इसी कमरे में उसे वह साहित्य उत्पन्न करना है जो क्रान्ति को प्रेरणा देगा·· एकाएक उसे ध्यान हुआ कि यह पहला अवसर है कि वह अपना अलग मकान लेकर अपने भरोसे अकेला खड़ा हुआ है—कि एक परिवार का या समुदाय का छोटा-सा अंग न होकर वह परिवार का मुखिया है—मुखिया ही क्यों, समूचा परिवार, क्योंकि और आगे-पीछे कौन है! जिस समाज को उसे बदलना है, उसी की वह एक स्वतन्त्र इकाई है…यह विचार कोई असाधारण विचार नहीं था, पर इसमें शेखर का समूचा आग्रह समाज पर नहीं, स्वतन्त्र इकाई पर था, इसलिए उसे यह नया मालूम हुआ। स्वतन्त्र होना, इकाई होना, अपने-आपको एक खण्ड, एक टुकड़ा, अस्तित्व का एक अल्पांश न देखकर समूचा देखना—चाहे एक अकेला कण, किन्तु सम्पूर्ण, जिसका एक स्पष्ट वास्तविक रूप है, एक छोटे-से अस्तित्व का पृथक् तेजस्पुञ्ज…अभी उसने कुछ किया नहीं था, पर इस विचार में उसे बल मिला, सान्त्वना मिली, थोड़ा-सा रस मिला जिसके सहारे वहाँ अपनी अवस्था का उज्ज्वल पक्ष देखने लगा…

उसे याद आया, कभी कहीं एक लेख उसने पढ़ा था जिसमें मकान की उपली मंजिल में रहने के लाभ बताए गए थे। क्या-क्या लाभ गिनाए गए थे वह भूल गया था, पर अपने-आप भी तो सोचा जा सकता है! स्वच्छ वायु एकान्त, नगर के कोलाहल से दूरी, जन-समाज के प्रति एक तटस्थता का भाव... बचपन में वह सोचा करता था कि जो लोग पहाड़ पर रहते हैं वे ईश्वर के कुछ निकटतर होते होंगे·· शेखर मन-ही-मन हँसा; फिर सोचने लगा कि इस ऊँचे जीवन-स्तर पर पहुँचकर वह क्या लिखे जो दातव्य हो…

साहित्य—वह साहित्य जो क्रान्ति को प्रेरणा दे…और क्राति? एकपक्षीय नहीं, सर्वतोमुखी क्रान्ति! जो क्रान्ति एक दिशा में तभी बढ़ती है जब दूसरे मार्ग बन्द कर ले, वह क्रान्ति नहीं है। हम जो इतनी हलचल के बाद भी आगे नहीं बढ़ पाते उसका यही कारण है कि हम प्रगति को कृत्रिम प्रणालियों में बहाना चाहते हैं। संयम आवश्यक होता है, पर यह संयम नहीं है। शेखर को केंचुए की जाति का एक छोटा चेंपदार कीड़ा याद आया जो एक ओर बढ़ने के लिए दूसरी ओर सिकुड़ता जाता है; जब इधर का सिकुड़ना सीमा पर पहुँच जाता है तब दूसरी ओर प्रसरण होने लगता है। हमारे कई नेता भी तो ऐसे हैं; किसी ने आर्थिक

क्षेत्र चुना है, किसी ने सामाजिक, किसी ने राजनीतिक तो किसी ने धार्मिक, पर प्रत्येक ने अपनी हलचल की सतह के नीचे किसी स्तर में अपने अस्तित्व के किसी दूसरे क्षेत्र से अपने को संकुचित कर लिया है···

शायद यह संगठन का अनिवार्य दोष है ? संगठन एक ध्येय लेकर होता है, उसका एक निश्चित कार्यक्रम हो जाता है, फलतः उसको बढ़ाने के लिए लोग दूसरी दिशाओं से हाथ खींच लेते हैं···

पर संगठन के बिना भी क्या होता है ?

होता है। क्रान्ति का एक संगठित पक्ष है तो एक महानतर व्यक्ति-पक्ष भी है। बिना संगठन के भी—बिना संगठन के ही—व्यक्ति अकेला भी बहुमुखी वृद्धि के बीज बो सकता है···और शायद जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य का मार्ग चुनता है, वह तो कर ही यही सकता है, क्योंकि वह पहले व्यक्ति है, पीछे किसी संगठन का सदस्य ! उसका तो विशेष धर्म है बहुमुखी क्रान्ति के लिए भूमि जोतना और बोना, क्रान्तिबीज की सिंचाई और निराई करना···

तीसरी बार जब शेखर शशि से मिला, तब उसके चेहरे पर प्रसन्नता का ऐसा भाव था कि उसे देखते ही शशि ने पूछा, "क्या कुछ लिख डाला है ?"

"लिखा तो कुछ नहीं है, पर सोच-सोचकर कुछ समझ में आने लगा है। घर में काम तो कुछ है नहीं, सोच-सोचकर नक्शे बनाता हूँ, अब लिखूँगा।"

रामेश्वर भी था। बोला, "तो आप लेखक बनना चाहते हैं ? कालेज छोड़ने का ही निश्चय कर लिया ?"

"वह तो अपने-आप छूट गया। दस महीने की अनुपस्थिति के बाद अब परीक्षा तो दे नहीं सकता, और नये सिरे से पढ़ने बैठकर दो साल लगाने का धीरज नहीं है। फिर पढ़कर कौन नौकरी करनी है जो एम० ए० की डिगरी ज़रूरी हो !"

"नौकरी ऐसी बुरी तो नहीं है। मेरी तरह की सरकारी नौकरी न करिए, पर प्रोफ़ेसरी तो बड़ी अच्छी चीज़ है। आदर भी होता है, काम भी कम होता है, छुट्टियाँ भी अच्छी मिलती हैं। फिर विद्या का साथ रहता है, आदमी पढ़ता-लिखता रह सकता है और अच्छे विचारों का प्रचार भी कर सकता है। आपके लिए तो सबसे अच्छा काम है।"

शेखर ने कहा, "यह तो ठीक है। पर मेरी कुछ आदत ही बिगड़ गई है, किसी के अधीन काम करने का जी नहीं होता।"

"तो बात दूसरी है। आप आदर्शवादी हैं।" शेखर नहीं जान पाया कि इसमें कितना अंश व्यंग्य का है। "तो आजकल आप क्या करते हैं ? बहुत पढ़ते होंगे ? हमें तो—शशि तो पढ़ती हैं—अक्सर पढ़ती ही रहती हैं। हँसना-खेलना तो इन्हें अच्छा नहीं लगता। हम तो कई काम करते-करते थक जाते हैं, तफ़रीह ज़रूरी मालूम होती है···"

शेखर के कुछ लिखने के सब प्रयत्न व्यर्थ गए। न जाने क्यों, जब भी वह लिखने

ठता तभी उसके सब विचार कहीं उड़ जाते; कभी उसे लगता कि वह लिखने को पेशा ना रहा है, तभी उसमें से चमत्कार की भावना नष्ट होती जा रही है। पर अभी तो उसने छ लिखा ही नहीं, लिखने से कमाने की बात दूर रहो, तब पेशा कैसा ? किन्तु पेशा दृष्टि-ोण को बात है, साहित्य जब साध्य नहीं, एक साधन है तब···

हाँ साधन तो है, पर साधन किस चीज़ का ? क्या उसका ध्येय घटिया है, दूषित है ? ाहित्य साहित्य के लिए है, स्वान्तःसुखाय है, पर क्या ध्येय की साधना स्वान्तःसुखाय नहीं ? लक्ष्य एक विशेष प्रभाव नहीं होना चाहिए, लक्ष्य होना चाहिए केवल सौन्दर्य, क्योंकि भाव की खोज में सौन्दर्य ओझल हो जायगा। पर क्यों ? सौन्दर्य देखकर ही तो इतर स्तु को उसमें ढालने की प्रेरणा मिल सकती है ? लोक-कल्याण की भावना से अलग सौन्दर्य त्या हो भी सकता है ? एकाएक उसे शशि का प्रश्न याद आया, 'साहित्य का मोह करोगे क उद्देश्य का ?' मोह वह किसी का नहीं करेगा, क्योंकि जब तक दृष्टि उद्देश्य को विमल ौर निष्कम्प एकाग्रता से देखती रहेगी, तब तक एक निष्कलुष सौन्दर्य को ही देखेगी ; ब निष्ठा नहीं रहेगी तब यह भी कहाँ कहा जा सकेगा कि उद्देश्य स्पष्ट है ?

पर विचार से नहीं चलेगा। रचना चाहिए। वह ठीक सोचता है कि ग़लत, इसकी सौटी तो वही हो सकता है जो वह लिखेगा। और लिखा उससे कुछ जाता नहीं···क्यों हीं वह अपने विचार ही लिख पाता ?

दोपहर की धूप उसके कमरे के अधिकांश में भर रही थी, केवल एक कोठरी के पास ा कोना उससे बचा था। वहीं बैठकर, अपने पैर धूप की ओर फैलाकर शेखर बैठ गया ौर सोचने लगा कि वह क्या लिखे।

धूप अभी उसके पैरों से हटी नहीं थी कि नीचे से एक लड़के ने आकर पूछा, "देखिए, ह चिट्ठी आपकी है ?" और एक लिफ़ाफ़ा उसे दे गया।

शेखर ने 'हाँ' कहकर चिट्ठी ले ली, और विस्मित होकर उसके पते की लिखावट खने लगा...मौसी विद्यावती की चिट्ठी थी। उन्होंने लिखा था कि शशि ने उन्हें लिखा कि वह अलग मकान लेकर रहने लगा है और साहित्य-सेवा करना चाहता है, इसलिए वे शि की किताबों में से अच्छी-अच्छी छाँटकर उसे भेज दें। उन्होंने किताबें एक पेटी में रकर भेजी हैं, जिसकी बिल्टी चिट्ठी के साथ है और जेल से आने की बहुत बधाई, और गुन के दस रुपये और थोड़ी-सी मिठाई भी उन्होंने पेटी में रख दी है और आशा की है वह रुपए भेजने पर बुरा नहीं मानेगा। बहुत-बहुत आशीर्वाद, और वह कभी छुट्टी पाए उन्हें मिलने जरूर जाए···मौसी विद्यावती।

बहुत देर बाद जब शेखर उठा तो धूप कभी की लुप्त हो गई थी। साँझ के रंगीन प्रकाश कमरा कुछ बड़ा-बड़ा लगने लगा था। किन्तु स्निग्ध आनन्द की एक अद्भुत दीप्ति उस पर गई थी—क्योंकि उसने एक लम्बी कविता और एक छोटी-सी कहानी लिख डाली थी···

वह चाहता था, उसी समय दौड़ा जाकर शशि को कहे कि देखो, मैंने कुछ लिखा है···

सहसा उसने सोचा, अगर वह बिना बताए मौसी को लिख सकती है, तो मैं भी बिना बताए—कविता और कहानी डाक में उसे भेजूँगा! यही निश्चय करके उसने हस्तलिपि कमरे की सूनी आलमारी में रख दी। तब उसे याद आया कि उसकी अपनी पुस्तकें भी तो थीं जो होस्टल में रह गई थीं, वे भी वह होस्टल के कमरे के भूतपूर्व साथी से ले आएगा और वहीं रखेगा, अध्ययन भी जारी रखेगा···

* * *
* * * * * *

जब खोज करके उस साथी का कमरा पाकर और उससे यह जानकर कि कई एक पुस्तकें तो 'लोग' ले गए और चित्रों के संग्रह चोरी हो गए और इत्यादि, शेखर अपनी बची-खुची पुस्तकों का गट्ठर लेकर लौटा—आधी से अधिक पुस्तकें चली जाने पर भी शेषांश काफ़ी था और उसमें भी पाठ्य पुस्तकें उतनी नहीं जितने दूसरे और अब शेखर को विशेष रुचि के ग्रन्थ थे—तब रात हो गई थी। शेखर ने उस समय उन्हें वैसे ही रख दिया। प्रातःकाल उसने आलमारी की सफ़ाई करके उसमें कागज़ बिछाए, और सब पुस्तकें सजाकर रख दीं। फिर वह जाकर शशि की पुस्तकों का पार्सल भी ले आया, और उसकी पुस्तकें भी थोड़ी देर में सफ़ाई से रखी गईं। आलमारी में पाँच खाने थे—ऊपरवाले चार, जिनके आगे किवाड़ में काँच लगे थे, पुस्तकों से भर गए; निचले में एक ओर शेखर ने कापियों का ढेर रख दिया और दूसरी ओर मौसी की भेजी हुई मिठाई। तब आलमारी के किवाड़ बन्द करके वह कुछ दूर पर होकर अपने परिश्रम का फल देखने लगा।

उस एक आलमारी भर पुस्तकों को देखकर उसे रोमांच हो आया। कितना सुन्दर हो गया था उसका कमरा उन पुस्तकों से – जिनमें आधी उसने एक-एक करके जुटाई थीं, और बाकी शशि ने! शेखर जानता था कि शशि ने भी अधिकांश पुस्तकें प्रतिमास मिलनेवाले थोड़े-से रुपयों से ही कई बरसों तक खरीदकर जुटाई थीं; वैसे ही, जैसे उसने अपने मासिक खर्च में से किसी तरह बचाकर (या अपने-आप बच जाने पर) जोड़े हुए धन से। उसे लगा कि उस आलमारी के दो खानों में से शशि की अनुग्रह-भरी सौम्य और वत्सल आँखें उसके कमरे को देख रही हैं; और उस दृष्टि से कमरे का वातावरण आर्द्र हो गया है। एकाएक कृतज्ञता से उसका मन उमड़ आया, और उसका हृदय यह भी चाह उठा कि वह उस कृतज्ञता को शशि पर प्रकट भी कर सकें···पर उसी समय जाने से उसने अपने को रोक लिया। उसने सोचा कि तीसरे पहर ही जायगा, जब शशि को काम से छुट्टी होगी, और रामेश्वर भी फुर्सत से होगा (उस दिन रामेश्वर की आधी छुट्टी थी)। और एक बात महत्त्व की यह भी थी—तब तक शशि वह पत्र पा चुकी होगी जो उसने रात डाक में छोड़ा था, उसकी कहानी और कविता पढ़ चुकी होगी···

रामेश्वर एक कुर्सी पर बैठा दूसरी पर टाँगें फैलाए सिगरट पी रहा था। शशि नीचे

चटाई पर बैठी कुछ सिलाई कर रही थी। शेखर के आने पर उसने सिलाई घुटने पर रखकर सिर उठाकर एक स्थिर और मृदु दृष्टि से उधर देखा, फिर गर्दन ज़रा सीधी करके पुनः सिलाई में लग गई। रामेश्वर ने ऊँचे स्वर में कहा, "आइए-आइए, आप अच्छे आए!" और धुएँ के बादल के बीच में से मुस्करा दिया। "कहिए, क्या लिखा जा रहा है आजकल?"

"कुछ नहीं, आजकल तो कुछ लिखने को मन ही नहीं होता।" शेखर ने कहते-कहते शशि की ओर देखा, कि वह कुछ कहती है या हँसती है कि नहीं, क्योंकि शेखर की कविता-कहानी तो उसी दिन उसे मिली होगी। पर शशि पूर्ववत सिलाई करती रही।

"लिखनेवालों को यही तो आनन्द है। लिखा, लिखा ; न लिखा, महीनों न लिखा। फिर जहाँ लिखना रोटी के लिए जरूरी न हो, वहाँ तो कहना क्या। हमें तो दिन-भर में दर्जनों फाइलें भुगताए बिना चारा नहीं—वहाँ एक दिन ढील करें तो उतनी फ़ाइलें लादकर घर लानी पड़ें—हमें तो जो करना पड़ता है दिन-के-दिन करना ही पड़ता है!"

अबकी बार सन्देह के लिए गुंजाइश नहीं थी—रामेश्वर की बात का व्यंग्य स्पष्ट था कि निठल्ले बैठ रहने के लिए लेखक होने का बहाना अच्छा है! शेखर ने उत्तर नहीं दिया। शशि की ओर उन्मुख होकर बोला, "मौसी ने मुझे पेटी-भर पुस्तकें भेजी हैं।"

"हूँ।"

"उनकी चिट्ठी भी आई थी, जेल से आने की बधाई और सगुन भेजा है।"

शशि थोड़ा-सा मुस्कराई। माँ की यह बात उसे अच्छी लगी है, यह बात उसके चेहरे पर स्पष्ट थी।

रामेश्वर ने पूछा? "कैसी किताबें।"

"शशि की पुस्तकें वहाँ पड़ी थीं, वही।"

रामेश्वर ने संयत जिज्ञासा के स्वर में पूछा, "तुमने लिखा था भेजने को?"

"जी।"

"ओः—अच्छा।" फिर शेखर की ओर, "तो आप बहुत पढ़ते हैं? हाँ, और दिन भी तो कटता होगा। पुस्तकें भी बढ़िया होंगी—आपकी बहिन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की हैं!"

फिर वही अस्पष्ट कुछ की झलक—क्या इस युक्ति के पीछे कुछ और बात है? पर बात तो बिल्कुल सहज भाव से गई है?

शेखर ने कहा, "मेरी अपनी बहुत-सी पुस्तकें पड़ी थीं ; वह भी ले आया हूँ। अब फिर नियम से पढ़ने का विचार है।"

"ज़रूर, ज़रूर।"

नीचे किसी ने किवाड़ खटखटाया। साथ ही आवाज़ आई—"डाक है सा'ब!"

शेखर सीढ़ियों के सबसे निकट था। रामेश्वर के उठने से पहले उठकर उसने डाकिए के हाथ से डाक पकड़ ली। एकाएक वह चौंका। दो पत्र थे, जिनमें एक उसी का भेजा हुआ था!

वह क्षण-भर असमंजस में पड़ गया। फिर उसने दोनों पत्र रामेश्वर को दे दिए, और जल्दी से बोला, "अच्छा, मुझे आज्ञा दीजिए, मुझे कुछ काम है—"

रामेश्वर पत्र खोलने को था, रुककर बोला, "इतनी जल्दी? अभी बैठिए न, थोड़ी देर में चाय-वाय पीकर—"

"जी नहीं, फिर आऊँगा—" कहकर शेखर चल ही पड़ा। पीछे उसने सुना, "लो, यह पत्र तुम्हारा है।"—"मेरा?"—"हाँ, किसका है?" वही संयत जिज्ञासा का स्वर, मानों जताना चाहता है कि मैं अधिकार से नहीं पूछता, यों ही पूछता हूँ—"अक्षर तो भइया के लगते हैं—" शशि का हल्का-सा विस्मय—

शेखर मन-ही-मन हँसता हुआ नीचे पहुँच गया। शशि देखेगी कि पत्र में है क्या, तो अचम्भे में आ जायगी···

घर पहुँचकर शेखर ने अपनी पुरानी कापियाँ उलट-पुलटकर देखनी आरम्भ की। जिन दिनों वह मणिका के यहाँ आता-जाता था, उन दिनों के लिखे हुए काग़ज़ों के पुलिन्दे खोल-खोलकर वह पढ़ने लगा। आज उसका जी प्रसन्न था, और वह प्रसन्नता मानों उसके पुराने सोचे हुए अव्यवस्थित विचारों को एक लड़ी में पिरोती जा रही थी···अस्पष्ट, किन्तु क्रमशः स्पष्टतर होते हुए रूप में वह देख रहा था कि पिछले दो-अढ़ाई वर्षों में उसने जो कुछ देखा-सोचा है, उस सबके निष्कर्ष-रूप कुछ धारणाएँ उसकी बन गई हैं जो अपने समाज के बारे में उसके विचारों की आधारशिला हैं; इन्हीं धारणाओं के सहारे वह समाज की वर्त्तमान रूढ़ि के विरुद्ध एक अभियोग खड़ा करता है और माँग करवा सकता है कि समाज को बदला जाय···वह देख रहा था कि इस पुलिन्दे के काग़ज़ों में ही वह प्रबन्ध बिखरा पड़ा है जो गठा जाकर एक पुस्तक बनेगा, शेखर की परिकल्पित नव-निर्माण का 'बाल-बोध'···पुस्तक का नाम भी उसने सोच लिया था—'हमारा समाज'···क्योंकि केवल समाज कहने से समाज की अमूर्त भावना ही सामने आएगी, और 'रूढ़िग्रस्त' या ऐसा कोई विशेषण लगा देने से यह स्पष्ट नहीं रहेगा कि हमारा आज का समाज ही पुस्तक का विषय है···

नहीं, लिखना उसका पेशा नहीं है; उसकी साधना है, क्योंकि उसके पास कुछ कहने को है और उत्कण्ठा भी उसमें है—उत्कण्ठा भी, और साहस भी···

पाँच-छः दिन तक लिखते रहने के बाद, जब पुस्तक का ढाँचा काफ़ी स्पष्ट हो गया और आरम्भ के कुछ अंश अपने अन्तिम रूप में भी आ गए, तब शेखर को एकाएक याद आया कि उस दिन तो वह शशि को अपनी कृतज्ञता जताने गया था! वह भी उसने नहीं किया, और यह भी नहीं जाना कि कविता और कहानी शशि को कैसी लगीं! और असल बात तो यह थी कि वह शशि को वहाँ लाकर दिखाना चाहता था कि उसके आड़े-तिरछे कमरे में वह पुस्तकों भरी (और कापियों-भरी भी!) अलमारी कैसी सुन्दर और भरी-भरी लगती है—

क्योंकि यही तो कृतज्ञता-ज्ञापन का श्रेष्ठ तरीका है, नहीं तो क्या वह मुँह फाड़कर यह कहेगा कि 'शशि, मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ कि तुमने पुस्तकें भिजवाईं', और शशि आँखें आधी मींचकर और भवें ऊँची करके उत्तर देगी, 'अरे यह भी कोई उल्लेख करने की बात है ?' नहीं, वे सब सभ्य ढंग उसके बस के नहीं हैं।

अपनी अधूरी पुस्तक की रूप-रेखा के पन्ने लेकर शेखर शशि के घर रामेश्वर और शशि को निमंत्रण देने गया। निश्चय करने के बाद उसे क्षण-भर हिचकिचाहट हुई कि वह रामेश्वर की क्या खातिर करेगा, फिर उसे याद आया कि मौसी के भेजे हुए सगुन के रुपए तो अभी अलमारी में पड़े ही हैं, मिठाई समाप्त-प्राय है तो क्या; वह एक टी-सेट और अंगीठी और कोयले आदि ले आएगा जो बाद में भी काम आएँगे – क्योंकि अब तो सर्दी भी काफ़ी हो चली है ...

रामेश्वर घर पर नहीं था। शेखर के हाथ में कागज़ों का पुलिन्दा देखकर शशि ने पूछा, "यह क्या लाए ?"

शेखर ने उत्साह से कहा, "मेरी पुस्तक की रूप-रेखा है, देखोगी ?"

"हाँ, दो –"

पर शशि ने कविता और कहानी का तो कोई ज़िक्र ही नहीं किया। क्या वे उसे अच्छी नहीं लगीं ? तो उसे यही कहना चाहिए था, चुप क्यों रही ? उसने मान से कहा, "क्यों दूँ, तुम्हें कोई दिलचस्पी भी है ?"

"क्यों ? तुम्हें क्या पता है।"

"मेरी कहानी-कविता तो पढ़ी नहीं—"

एकाएक शशि का चेहरा गम्भीर हो गया। उसने शान्त स्वर में पूछा, "डाक से क्यों भेजी थी ?"

"तुमने मौसी को लिखा था तो मुझे क्यों नहीं बताया था ? मैंने सोचा, मैं भी तुम्हें सर्प्राइज़ –" एकाएक शेखर को बोध हुआ, शशि का चेहरा गम्भीर नहीं, अप्रतिभ है; और उसका स्वर शान्त नहीं, मुर्झाया हुआ था। उसने हड़बड़ाकर पूछा, "क्यों शशि, क्या बात है ?"

"कुछ नहीं। मुझे क्या सर्प्राइज़—मुझे तो तुम स्वयं दिखला जाते –"

"नहीं शशि, कुछ बात है—बताओ तुरत !" शेखर ने आशंकित आग्रह से कहा।

"कुछ नहीं। तुम्हारे पीछे उन्होंने पूछा, "चिट्ठी किसकी है ?" मैंने बता दिया, तो अचम्भे में बोले, "अभी तो आए थे, चिट्ठी क्यों ?" मैंने बताया कि कहानी और कविता भेजी है। बोले, "अच्छा, तब तो हम भी पढ़ें—" मैंने उन्हें सब कुछ दे दिया, पर उनके पन्ने उलटने-पुलटने से मैंने जाना कि उनकी रुचि कविता-कहानी में नहीं है। फिर उन्होंने कहा, 'भई, हम कविता-अविता क्या जानें, यह तो कलाकार लोग ही समझें—' और कागज़ लौटा दिए। बहुत देर बाद फिर बोले, 'तो ऐसे सकपकाकर भागने की क्या ज़रूरत

थी ?' पहले तो मैं समझी ही नहीं कि किस बारे में बात हो रही है ; फिर मुझे याद आया। मेरा कुछ उत्तर देने को मन नहीं किया।"

शेखर सुन्न बैठा रहा। काफ़ी देर बाद उसने कहा, "मैं समझा दूँ उन्हें ?"

"नहीं, उससे उलटा असर पड़ेगा। जाने दो जो हो गई बात। अब क्या लिख रहे हो ?"

शेखर ने विषय बदलने के इस प्रकट प्रयत्न को चुपचाप स्वीकार कर लिया। बोला, "पहले लिखी हुई कई चीज़ों को जोड़-तोड़कर एक निबन्ध बना रहा हूँ - अपने समाज की आलोचना।" पर वह पहले-सा उत्साह उसके स्वर में नहीं था।

"हमारा समाज ! कितना लिख डाला है ? और शीर्षक क्या रखा है ?"

"यही तो—'हमारा समाज।' जल्दी ही पूरा कर डालूँगा।" इतने में रामेश्वर आ गया।

"कहिए, अबकी कई दिन बाद आए ?"

"हाँ, यों ही, कुछ काम करता रहा।"

"यह क्या लाए हैं, कुछ और लिखा है ? वह कविता और कहानी आपकी सुन्दर थी। शशि के कहने से मैंने भी पढ़ी थी। पर अब तो बिना सिफ़ारिश के पढ़ूँगा—आप तो बड़ा सुन्दर लिखते हैं।"

शेखर ने मन-ही-मन इस व्यक्ति को सराहा जिसके मुँह से बात अपने-आप ठीक निकलती आती है, चाहे उसके पीछे अनुभूति हो, न हो ! वह स्वयं कुछ भी बोल नहीं सका।

"लाइए, यह तो देखें—"

शेखर का जी हुआ कि इनकार कर दे। वह अधूरी हस्तलिपि उसे अपने व्यक्तित्व का इतना अपना अंश लगती थी कि उसे वह कम-से-कम रामेश्वर को नहीं देना चाहता था... पर यह सोचकर उसने अपने को सँभाला कि मना करने से रामेश्वर कहीं और उलटा अर्थ न करे, और अपनी अनिच्छा को बलपूर्वक दबाकर उसने कापी रामेश्वर को दे दी।

जब रामेश्वर उसके पन्ने अनमनी उँगलियों से इधर-उधर करने लगा, और शेखर को लगने लगा कि वे अनमनी ही नहीं, व्यंग्य से भरी हुई भी हैं, तब एकाएक अपने प्रति ग्लानि उसके मन में उमड़ आई। वह वहाँ से हट जाने के लिए उठ खड़ा हुआ। रामेश्वर के बैठने को कहने पर उसने कहा, "असल में मुझे सामने बैठकर अपनी चीज़ पढ़वाते संकोच होता है"—और मन-ही-मन सोचा कि यह पहले दिन की बात की भी अप्रत्यक्ष सफ़ाई है।

रामेश्वर ने शशि की ओर देखते हुए कहा, "वाह, संकोच कैसा ? अभी तो ये छपेंगी न ?" फिर एकाएक "नहीं तो इसे भी डाक से भेज देते—" और ठहाका मारकर हँस पड़े। "पर इतनी बड़ी कापी डाक से भेजने पर महसूल भी तो कितना लगता—"

ऐसे में निमंत्रण वह कैसे दे ? वह किसी तरह उठकर नीचे उतर गया ..

* * *

** ** **

चार-पांच दिन फिर शेखर घर से नहीं निकला। कुछ लिखने की भी प्रवृत्ति उसकी नहीं ई; वह अनमना-सा खिड़की के आगे बैठा रहता, और कभी सर्दी अधिक हो जाती तो उसे न्द करके कमरे में टहलने लगता। एक-आध दिन उसने पढ़ने का प्रयत्न भी किया; पर सकी अनमनी आंखें बीच-बीच में एकाएक अनदेखती हो जातीं, फिर चौंककर वह सोचता क जब समय नष्ट ही करना है तब अपने साथ यह छल क्यों! कभी-कभी प्रातःकाल बिस्तर लेटे-लेटे ही वह कविता के कुछ-एक पद्य पढ़ लेता, और आशा करता कि उनके प्रभाव से सका दिन अच्छा बीत जायगा!

लगभग एक सप्ताह बाद तीसरे पहर शशि वहाँ आ पहुँची। पहले उसने डरते-डरते वाड़ खटखटाया, किन्तु जब शेखर को देखकर आश्वस्त हो गई कि वह भूल नहीं कर रही , तब उसने खिलकर कहा, "आखिर मिल ही गया ठिकाना! नीचेवालों में कोई तुम्हारा म ही नहीं जानता!"

शेखर ने विनोदपूर्वक कहा, "यह क्यों नहीं पूछा कि घर-घुसना आदमी किस कमरे में ता है? सबको मेरे बारे में यही कौतूहल है कि मैं कमरे में पड़ा-पड़ा करता क्या हूँ।"

"हां, तो, बाहर क्यों नहीं निकलते?"

शेखर ने एक बार शशि की ओर देख भर दिया।

शेखर के बिस्तर का कोना हटाकर चारपाई पर बैठती हुई शशि बोली, "तुम्हारी पुस्तक ले आई हूँ। मैंने सारी पढ़ ली है—जितनी तुम दे गए थे—और यही कहने आई हूँ इसे जल्दी पूरा कर डालो।"

"मुझसे तो और कुछ लिखा नहीं गया।"

"क्यों? इतने दिन क्या किया?"

"कुछ नहीं। जी नहीं लगता। सोचता हूँ कि यह सब लिख-लिखाकर होगा क्या!"

चिन्तित तीव्रता से, "हूँ?"

"हां, और क्या। लिख चुकूँगा तो छपेगा नहीं। छप जायगा तो लोग बेवक़ूफ़ बनाएँगे। कूफ़ बनने में भी सन्तोष हो सकता है—पर किसके लिए?"

"शेखर, क्या उद्देश्य के लिए कुछ क्लेश भोगने में तृप्ति नहीं मिलती? मैं तो समझती कि बहुत बड़ी तृप्ति है। नहीं तो मैं—"

"मिलती है। पर—पता नहीं क्या। कभी मुझे लगता है कि उद्देश्य के रूप में एक -क्रान्ति काफ़ी नहीं है। आदर्श वह है, पर तृप्ति आदर्श से हो नहीं मिलती शायद; आदर्श प्रतीक से मिलती है।"

"सच?"

"हां, मुझे तो यही लगता है।"

"तो तुम चाहते हो कि तुम्हारे आदर्श का कुछ प्रतीक हो, जिसके लिए उद्योग करने तुम्हें तृप्ति मिले?"

शेखर ने सोचते हुए कहा, "हाँ।"

"हाँ।" शशि ने उसकी नकल करते हुए कहा, "कह दिया बच्चों की तरह 'हाँ'।" फिर कुछ रुककर, "प्रतीक कैसा, कोई वस्तु या कोई—व्यक्ति?"

शेखर ने मानों अनसुनी कर दी। अब तक वह खिड़की पर कोहनी टेके हुए खड़ा था; अब वह बाहर की ओर देखने लगा।

शशि उठ खड़ी हुई। जिधर शेखर खड़ा था, उससे दूसरी ओर मुँह फेरकर बोली, "शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो?"

शेखर ने चौंककर कहा, "क्या?"

"मैंने पूछा है, क्या मेरे लिए लिख सकते हो? मैंने नहीं सोचा था कि मुँह से कहना पड़ेगा, पर कहने में भी हर्ज कोई नहीं है।"

शेखर बढ़कर शशि के पास जा खड़ा हुआ। एक क्षण के विकल्प के बाद उसने कन्धा पकड़कर शशि को अपनी ओर घुमाया, शशि की आँखें उसकी ठोड़ी पर टिकी रहीं, ऊपर नहीं उठीं। शेखर ने कन्धे से हाथ उठाया, फिर अपने स्थान पर जा खड़ा हुआ और बोला, "नहीं, शशि, मैं अनिष्ट हूँ। जो मेरे सम्पर्क में आता है, खण्डित ही होता है। मेरे द्वारा लिखी जानेवाली किसी चीज़ का महत्त्व इतना नहीं है कि—"

शशि ने फिर कहा, "मैंने पूछा है, मेरे लिए लिख सकते हो! और सुनो, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से क्लेश पाओगे। पर भीतर से तुम्हें शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बड़ी बात लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक उस शान्ति का ही नहीं, उस क्लेश का भी साक्षी हो सकता है।"

"शशि!"

शशि ने आँखें उठाकर भरपूर दृष्टि से उसकी ओर देखा। अबकी बार शेखर ने आँखें नीची कर लीं - व्यथा के उस अभिमान के आगे उसकी आँख नहीं टिकी।

शशि ने कहा, "अच्छा, इससे आगे जो कुछ लिखा है वह तो मुझे दिखाओ?"

शशि के स्वर से वातावरण बदल गया। शेखर ने कहा, "लिखा कहाँ है? कुछ नोट है, वह चाहे तो देख लो।" अलमारी में से कुछ काग़ज़ लाकर उसने शशि को दे दिए।

"और ये सब पुलिन्दे क्या हैं?"

"ये सब यों ही हैं, कालेज के दिनों का लिखा हुआ—"

"वह सब भी मुझे पढ़ना है। अब तो अपना लिखा हुआ एक-एक पुर्जा मुझे देना होगा, समझा?"

शशि शेखर के दिए हुए काग़ज़ पढ़ने लगी। शेखर ने पूछा, "इन पुस्तकों से यह कमरा अच्छा-अच्छा नहीं लगता?"

शशि पढ़ते-पढ़ते मुस्करा दी।

"ये सब किताबें तुम्हारी पढ़ी हुई हैं?"

शशि ने बिना मुँह उठाए ही कहा, "हूँ—ठहरो मुझे यह पढ़ लेने दो।"

शेखर फिर खिड़की पर जा खड़ा हुआ। बाहर देखते-देखते फिर उसके मन में शशि प्रति कृतज्ञता जागने लगी—वह बिना बुलाए उसके मन की इच्छा पूरी करने जो यहाँ ली आई है...

"हाँ, तो, इसे कब पूरा करोगे?" शशि सब काग़ज़ पढ़ चुकी थी।

"देखो।"

"देखो नहीं, पूरा करना पड़ेगा!" शशि हँसने लगी। फिर गम्भीर होकर बोली, तुमने उन्हें कभी यहाँ नहीं बुलाया?"

शेखर ने कुछ खिन्न स्वर में कहा, "उस दिन बुलाने ही तो गया था।"

शशि ने काग़ज़ आलमारी में रखते हुए कहा, "अच्छा मैं जाती हूँ। अबकी आओगे, उन्हें निमंत्रित करना हो।" एकाएक आलमारी में दस रुपये पड़े देखकर, "यह से हैं?"

"सगुन है।"

"ये अभी ऐसे ही पड़े हैं? काम नहीं आए?"

"इनका तो यहाँ पड़े रहना ही काम है।' शेखर हँसने लगा।

"खाते क्या हो?"

'क्यों? होटल से खाना आता है, कोई मज़ाक है?"

"होटल का खाना!" शशि ने खोए-से स्वर में कहा। फिर प्रकृतस्थ होकर पूछा, होटल का नाम भी तो सुनूँ ज़रा?"

शेखर ने कुछ अकड़कर, आँखें चढ़ाकर, प्रत्येक अक्षर को स्वरित करते हुए कहा, चित्तपूरनी देवी प्रेम शुद्ध पवित्तर भोजनालिया'—नाम से ही पेट भर जाता है!" और सने लगा।

शशि ने कृत्रिम रोष से त्योरियाँ संकुचित करके कहा, "मेरे सामने मत ऐसे हँसा रो! अच्छा, मैं जाती हूँ।"

वह सीढ़ियाँ उतरने लगी। "चलो नीचे तक पहुँचा आऊँ"—कहकर शेखर भी पीछे-छे उतरने लगा।

* * *

शशि और रामेश्वर दो-एक बार शेखर के घर हो गए। बैठक के साथवाली कोठरी की लमारी में एक चाय का सेट और कुछ और बर्त्तन, छूरी-चाकू, दो-एक डिब्बे, एक बोतल धु, एक पैकट बिस्कुट का, एक दियासलाई का—यह सब सामान पहुँच गया। बदले में सरी अलमारी से सगुन के रुपये गायब हो गए। शेखर ने विशेष कुछ लिखा नहीं; उसकी लमारी में काग़ज़ बढ़े तो केवल कुछ-एक चिट्ठियाँ—दो-एक मौसी की, एक गौरा की;

एक पिता की, जिसमें एक ओर आवारापन पर रोष था और दूसरी ओर उसके जेल हो आने पर दबा हुआ-सा अभिमान भी ; और साथ ही यह सूचना कि उसकी माता बहुत बीमार हैं और उसे उनसे मिलने तत्काल आना चाहिए ; एक छोटे भाई रविदत्त की जो उस वर्ष बी० ए० की परीक्षा दे रहा था, एक मद्रास से सदाशिव की जिसने लिखा था कि अगले वर्ष वह डाक्टर हो जायगा और पूछा था कि शेखर कहां है, क्या कर रहा है। शेखर के जेल जाने की बात का उसे पता लग चुका था···

शेखर को उस घर में आए एक महीना हो चला था। एकाएक उसे याद आया कि अगले मास किराया देना होगा और होटल का बिल भी चुकाना होगा—और उसके पास तो कुछ है नहीं ! किराया तो कुछ देर बाद भी दिया जा सकता है, क्योंकि हर महीने पेशगी देना ज़रूरी थोड़े ही है, पर होटल का तो महीना पूरा हो चुका, और वहां देर करने से रोटी नहीं मिलेगी···

उसे थोड़ी-सी चिन्ता हुई। फिर उसने सोचा, पुस्तक तो लगभग तय्यार है, किसी प्रकाशक से उसका कुछ-न-कुछ मिल ही सकता है। न सही अधिक, तत्काल का थोड़ा हो सही, पर कुल जमा पचीस रुपया महीना तो उसका खर्च है, तो एक साल का खर्च तो पुस्तक निकाल ही देगी...उसे पता नहीं था कि पुस्तक के लिए प्रकाशक कैसे क्या देते हैं, पर एक पुस्तक के तीन सौ रुपए कुछ बहुत अधिक हैं, ऐसा उसे नहीं लगा।

'हमारा समाज'...बिकाऊ है—तीन सौ रुपये में हमारा समाज बिकाऊ है—कोई ग्राहक ? शेखर मन-ही-मन हँसा—कौड़ी मोल का नहीं है हमारा समाज, उसके तीन सौ रुपए !

शेखर ने शहर के दो-तीन मुख्य प्रकाशकों के यहां पूछताछ करने की सोची। चार दिन लगातार बैठकर उसने पुस्तक की प्रतिलिपि तय्यार कर ली, और उसे एक बड़े रुमाल में लपेटकर वाणी-निकेतन के मैनेजर से मिलने जा पहुँचा। मैनेजर से अपना अभिप्राय कहकर जब उसने हस्तलिपि उनके आगे रख दी, तब उन्होंने लिपि की बजाय शेखर को ही बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखना आरम्भ किया। थोड़ी देर बाद बोले, "साहब, हमारे यहां तो प्रतिष्ठित लेखकों की ही चीज़ छपती है। आप जानते हैं, हम यहां के प्रमुख प्रकाशक हैं, हमें अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखनी है। बिलकुल नये अनजान लेखक का प्रकाशन हम कैसे जिम्मे ले सकते हैं।"

शेखर ने आग्रह करते हुए कहा, "पर आपको चीज़ की भी तो परख करनी चाहिए। क्या प्रतिष्ठा ही उसकी कसौटी है। बड़े-बड़े लेखक भी तो पहले अनजान ही थे।"

"जी हां। पर तब उनकी पुस्तकें हमारे यहां से नहीं छपती थीं। हमने तो उन्हें तभी माना जब उनकी रचनाओं का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया। तब हमने उनको दूसरे प्रकाशकों से अच्छी टर्म्स देकर भी बुला लिया। जिनकी पुस्तकें रह गईं, वे रह गए।"

"पर यह तो दूसरे के पत्तल से ग्रास छीनना हुआ फिर—"

"वैसा ही समझ लीजिए। पर बुद्धिमानी इसी का नाम है कि दूसरों की भूलों से नुभव प्राप्त करे। हम असफल होने या हो सकनेवाले की चीज़ छापते ही नहीं।"

सरस्वती कुंज के मैनेजर ने शेखर को अपने साहित्यिक सलाहकार के पास भेज दिया। व शहर की एक गली में उनके घर का पता लगाकर शेखर वहाँ पहुँचा तो उन्होंने शीर्षक खकर पूछा, "क्या उपन्यास है?"

"जी नहीं। विवेचनात्मक निबन्ध है। मैंने समाज की वर्त्तमान अवस्था का चित्रण रके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि—"

"तो आपने कुछ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है? पर साहब, पहले तो निबन्ध कोई ढ़ता नहीं। दूसरे ऐसा निबन्ध, जिसमें तर्क ही तर्क हो। आप साहित्यिक निबन्ध क्यों हीं लिखते?"

"कैसा?"

"सैकड़ों विषय हैं। मसलन्—मसलन् 'छायावादी काव्य में नारी की कल्पना', या 'स्त्री-वियों का नारी-रूप-वर्णन,' या 'संस्कृत और हिन्दी काव्य में नायिका-भेद'। यह विषय तो ाधुनिक भी रहेगा—आजकल तो तुलनात्मक अध्ययन का ज़माना ही है।"

शेखर ने पूछा, "ऐसे निबन्ध कोई पढ़ता है?"

"वैसे तो नहीं पढ़ता, पर ऐसे साहित्यिक निबन्ध पाठ्य-पुस्तकों में रखे जा सकते हैं। ब किताब निकल भी जाती है।"

शेखर क्षण भर चुप रहा। सलाहकार फिर बोले, "आपको शायद मेरी सलाह अच्छी हीं लगी; मैं तो आप ही के हित के लिए कहता हूँ—"

शेखर ने अनमने भाव से उत्तर दिया, "नहीं, आपकी सलाह के लिए आभारी हूँ। मुझे तो दिलचस्पी समाज और सामाजिक समस्याओं में है—"

"अच्छा, तो वैसा विषय चुन लीजिए—'रहस्यवादी काव्य का प्रियतम पुरुष होता था स्त्री?' इधर एक मत चल रहा है कि रहस्यवादी कवियों का प्रेम-निवेदन किसी शरीरी क्ति के प्रति ही होता था—फ़ारसी कविता के बारे में तो यह बात मानी हुई ही है कि का साक़ी या माशूक़ काल्पनिक नहीं होता था; पर नया मत कहता है कि यह साक़ी माशूक़ न पुरुष होता था न स्त्री, बल्कि नपुंसक होता था। इस अध्ययन में आपको ययुगीन समाज के भी अध्ययन का अच्छा अवसर मिलेगा। मेरी समझ में तो यह बड़े के का विषय है।"

शेखर चुप हो रहा। थोड़ी देर बाद बोला, "तो इस पुस्तक को आप प्रकाशन के लायक ीं समझते?"

"नहीं, नहीं; यह मैं कब कहता हूँ। प्रकाशन के लायक तो सब कुछ है। पर प्रका-त होता है वही जो खप सके, नहीं तो जोखम कौन उठाए? पर मैंने तो सरस्वती-कुंज-

वालों को सदा यही राय दी है कि नये प्रतिभावान् लेखकों को प्रोत्साहन देना ही चाहिए—चाहे उसमें थोड़ा-सा जोखम भी हो ही। नहीं तो नया साहित्य बनेगा कैसे? और मेरी बात वे मानते भी हैं।"

शेखर के मन में आशा का संचार हुआ। बोला, "तो आप इसे पढ़ देखेंगे? मैं चाहता हूँ कि ज़रा जल्दी ही—"

"आप मैनेजर से मिलिए। मैं उन्हें यही सलाह दूँगा कि वे आपके खर्च पर पुस्तक छाप दें, और जहाँ तक हो सके जल्दी ही। नये लेखक को मौका मिलना चाहिए—प्रकाशक का यह कर्त्तव्य है।"

शेखर फिर हताश हो गया। उसने धीरे-धीरे बस्ता लपेटा और नमस्कार करके चल पड़ा।

शेखर ने दूसरी कोटि के प्रकाशकों के यहाँ भी चक्कर लगा डाला, फिर उसने एक विक्रेता के यहाँ से प्रकाशकों की पूरी सूची ले ली और जितने बच रहे थे उन सबको एक सिरे से देखना शुरू किया।

एक सप्ताह और हो गया। अन्त में 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' के संचालक ने उसकी पुस्तक इस शर्त पर छापना स्वीकार किया कि छपाई और कागज़ के दाम शेखर के जिम्मे रहेंगे, पर उसे नक़द कुछ नहीं देना पड़ेगा, प्रकाशक पुस्तक छपाकर और बेचकर पहले लागत वसूल कर लेगा, उसके बाद जो बिक्री होगी उसमें चौथा अंश शेखर का होगा। दस दिन भटकने के बाद शेखर में इतना धीरज नहीं रहा था कि बैठकर हिसाब लगाए कि इसमें उसे मिला क्या और कब तक; उसने यही बड़ी कृपा समझी कि प्रकाशक उससे कुछ माँग नहीं रहा है···वह यह भी भूल गया कि वह पुस्तक बेचने इसलिए निकला था कि उसे बिल चुकाना होगा—जिसका तक़ाजा शुरू भी हो गया था।

उस दिन शेखर बस्ता लेकर नहीं निकला था। उसे आशा ही नहीं थी कि उसकी आवश्यकता पड़ेगी। अतः संचालक से तीसरे दिन आने का वायदा करके—दो दिन का अवकाश उसने केवल इसलिए रखा कि प्रकाशक यह न समझे वह बहुत उतावला है।—वह घर लौट आया।

आकर वह क्लान्त शरीर और उदास मन लिए विस्तर पर लेट गया। क्षीण-सा विचार उसके मन में आया कि जाकर शशि को यह सूचना दे आवे, पर उत्साह नहीं हुआ। और अभी खबर भी क्या है? निर्निमेष नेत्रों से वह छत की ओर देख रहा था; एकाएक उसे लगा कि छत इतने दिनों से वैसी-की-वैसी है कि देखकर ऊब आती है। उसने मुँह खिड़की की ओर फेर लिया।

न जाने पुस्तक कब छपेगी, कैसा उसका स्वागत होगा···उससे कुछ आएगा? कब? लागत कितनी होगी? शायद दो सौ रुपये का कागज़ लगेगा। सौ-डेढ़ सौ ऊपर। पुस्तक की कीमत अगर एक रुपया होगी तो···शेखर ने हिसाब लगाना छोड़ दिया। 'हमारा समाज'

—मूल्य एक रुपया। और मैं उसमें लागत काटकर चौथाई का हिस्सेदार हूँ!…शेखर के
ह पर एक रूखी और म्लान हँसी की रेखा दौड़ गई…न जाने कब वह सो गया।

जब वह जागा, तब घोर अन्धकार था। रात आधी जा चुकी थी, और ग्वालमन्डी के
ौक पर भी सन्नाटा हो रहा था। शेखर का शरीर दिसम्बर के जाड़े से ठिठुर गया था…
ूख भी उसे लग रही थी। इस महीने के आरम्भ से ही उसने होटल से एक ही समय
ोजन मंगाने का तय कर लिया था, होटलवाले से उसने कह दिया था कि शाम को वह स्वयं
ना लिया करेगा…एक दिन वह चावल-दाल और आटा ले भी आया था, और उस दिन
ाम को उसने स्वयं खिचड़ी बनाकर खाई भी थी।

क्या इस समय वह खाना बनाए? इतनी भूख तो उसे नहीं है। नहीं, भूख तो है, पर
ूख को इतना महत्व देना ठीक नहीं है। उसने बिस्तर ठीकठाक किया और कम्बल ओढ़कर
ोने का प्रयत्न करने लगा। पर वह इतना ठिठुर चुका था कि अब भी शरीर को गर्मी न
ाई। तब वह उठकर शरीर गर्म करने के लिए जल्दी जल्दी टहलने लगा।

एकाएक अपने सब प्रयासों की विफलता का भाव, जिसे उसने शशि की बात के बाद
दबा रखा था, उसके भीतर बड़े वेग से उमड़ आया। अपने प्रयासों की ही नहीं, प्रयासमात्र
ी विफलता का…जीवन की इस बुदबुदाती दलदल में हाथ-पैर पटकने का लाभ क्या—
समें धँसना वैसे भी है, वैसे भी है…पुस्तक लिखूँगा—पुस्तक, हुँः! जैसे आज तक किसी ने
स्तक लिखी नहीं। जैसे आज तक किसी ने समाज को बदलने का उद्योग नहीं किया। जैसे—

शेखर और भी तेज़ चलने लगा। क्या इस होने और बीत जाने के घातक अनुक्रम से
ोई छुटकारा नहीं है? क्या इससे बाहर नहीं निकला जा सकता?

उसके मानसिक उद्वेग के गर्त में से बुलबुले की तरह उठकर एक विचार ऊपर आया—
सने अभी तक कोई ऐसी गहरी अनुभूति नहीं जानी है, जिसके प्रति वह अपने को पूर्ण-
या उत्सर्ग कर दे—एक क्षण भी ऐसा नहीं आया है, जब कि शेखर के मन से यह ज्ञान
ल्कुल मिट गया हो कि वह शेखर है। क्या इसमें समय का ही दोष है? उसका दोष कुछ
हीं है? क्या उसी ने नहीं सूम की तरह अपने को सहेज-सहेजकर रखा, जब कि बात
रने को वह सारे संसार को उलट-पलट देने का स्वप्न देखा करता है! और तो और, उसके
ीवन में कितनी कन्याएँ आई हैं, उनसे भी किसी से उसकी सच्ची घनिष्ठता नहीं हो सकी।
सने स्वयं जीने से इनकार किया है! उससे तो मणिका की जीवन-परिपाटी कहीं अच्छी
—उसमें थी वह साहसिकता जो जीवन को मिट्टी की तरह फेंक सकती है! 'मेरे जीवन
मोमबत्ती दोनों ओर से जल रही है। वह रात-भर नहीं जलेगी, पर मेरे बन्धुओ और
शत्रुओ, उसकी दीप्ति कितनी सुन्दर है!' है उसमें भी यह सामर्थ्य कि ऐसी दीप्ति से
न को आलोकित करे? मणिका ने मार्ग ठीक नहीं चुना, पर असल चीज़ तो उसमें थी,
ीवन की आग, जिसे देवता मानव से छिपा-छिपाकर रखते हैं…

उसे एक और वाक्य याद आया जो मणिका की दी हुई एक पुस्तक में उसने पढ़ा था—'संयम क्या है ? तीव्र वासना की अक्षमता ! फिर उसे याद आई एक पठान की कहानी, जो उसने न जाने कहाँ सुनी थी, शायद जेल में ; एक पठान को कोई मौलवी समझा रहा था कि आदमी को अफ़ीफ़ (संयमी) होना चाहिए, पर यह शब्द पठान की समझ में नहीं आता था। मौलवी समझाने लगा कि संयमी वह होता है जो नज़र नीची रखता है, औरतों के पीछे-पीछे नहीं जाता, स्त्री को—एकाएक पठान ने टोककर कहा, 'ओ, अम समज गया—अमारा ज़ोबान में उसकों खुसरा बोलता ए !'

शेखर रुक गया। उसे लगा कि उसके विचार जिस धारा में बहे जा रहे हैं उसमें कोई दोष अवश्य है। जैसा सब विचारों में होता है, इसमें भी सच्चाई का कुछ अंश है, किन्तु पूरा सच नहीं है। कदापि नहीं है। क्योंकि, उसको परिस्थितियों ने उसे जीने को इतनी अधिक सुविधाएँ कब दीं, कौन से ऐसे बड़े अवसर आए जो उसने हाथ से चले जाने दिए ? कोई असाधारण बाधाएँ उसके मार्ग में न भी आई हों, तो भी कोई···औरों के जीवन भी बाधा और सुविधा के इसी तरह के घोल होते हैं···

तब क्या इतनी ही बात है कि वह भूखा है ? क्या यहाँ सारा विद्रोह अतृप्त वासना का घटाटोप है ? क्या यह वासना बढ़ती जाएगी और फिर एक विस्फोट होगा और बस फिस्स् ?

तब तो यह सब—हिस्टीरिया है !

उसने अनुभव किया कि उसकी प्राणशक्ति अन्तर्मुख हो रही है और क्रमशः उसी को भस्म कर जायगी अगर किसी गहरे आन्दोलन ने फिर बहिर्मुखी न कर दिया···और यह होना ही चाहिए, क्योंकि बहिर्मुखी शक्ति ही क्रान्ति कर सकती है, अन्तर्मुख नहीं। अन्तर्मुख होकर वह एक विशेष प्रकार का कवि चाहे हो जाय, जो वह करना चाहता है, वह सब धूल हो जायगा...

शेखर बिस्तर पर बैठ गया उसने कम्बल ओढ़ लिया। अस्पष्ट रूप से उसने चाहा कि वह निरा लिखना नहीं, कुछ और भी काम करे जिससे वह लोगों के सम्पर्क में आए, पर क्या और कैसे, वह नहीं सोच पाया। फिर मन-ही-मन तय करके कि शशि से सलाह लेगा, वह लेट गया।

दिन के प्रकाश के साथ ही तार आया कि शेखर की माँ का देहान्त हो गया है।

शेखर एक अजीब-सी शिथिलता का अनुभव करता हुआ उठा था। तार पढ़ने के बाद भी जैसे वह दूर नहीं हुई; उसकी कुछ समझ में नहीं आया कि उसने अभी-अभी क्या पढ़ा है। तार रखकर, ब्रुश और तौलिया लेकर वह नल पर गया और मुँह-हाथ धोकर भीतर आया ; आकर उसने अलमारी में से काग़ज़ निकाले, उसके बाद ही एकाएक तार के चार शब्दों का आशय बिजली की तरह उसके मन में कौंध गया—माँ अब नहीं हैं !

उसके मन में एक विचित्र प्रकार की वेदना उठी जो दुःख से भिन्न थी। दुःख का

नुभव उसे नहीं हुआ, और उसे अपने-आप पर थोड़ी-सी ग्लानि भी इस कारण हुई···वह
हता था कि वह एक बार रो दे--सीधे-सादे मातृहीन मानव की तरह सरल भाव से रो
! पर उसकी आँखें मानों और भी सूख रही थीं, एक जलन-सी उनमें हो रही थी।

वह शून्य भाव से काग़ज़ों की ओर देखता हुआ बहुत देर तक बैठा रहा। धीरे-धीरे
पने बाल्यकाल की बहुत-सी स्मृतियाँ उसके मन के आगे होती हुई जाने लगीं—किन्तु उन
मृतियों में जैसे राग-तत्त्व बिल्कुल नहीं था, शेखर की रागात्मक वृत्ति जैसे मूर्च्छित हो गई
ी, केवल दृष्टि काम कर रही थी। देर बाद उसने जाना कि ये चित्र घूम-फिरकर फिर एक
ी बिन्दु पर केन्द्रित हो जाते हैं—कि शेखर भोजन कर रहा है, और साथ के कमरे से माँ
ा स्वर कहता है, मुझे तो इसका भी विश्वास नहीं है? किन्तु चित्र के साथ भी उस असह्य
ोष का कोई अवशेष नहीं था जो पहले इसके साथ गुँथा हुआ था···क्यों? क्या उसने माँ
ो क्षमा कर दिया था? उसे याद नहीं कि कभी वह जानते-बूझते इस परिणाम पर पहुँचा
ा। शायद अनजाने में उसने समझ लिया था कि यों रोष को सहेजकर रखना मूर्खता है,
ा शायद अभी-अभी उसके मन ने निश्चय कर लिया था कि जो अब नहीं है उसके प्रति कोई
ुरी भावना रखना पाप है? उसने माँ के चेहरे की कल्पना करने का उद्योग किया, प्रायः वह
समें सफल नहीं होता था, पर आज वह स्पष्ट ही उसे देख सका—वह चेहरा सुन्दर नहीं
ा, किन्तु आज उस पर वैसी रेखाएँ नहीं थीं जो शेखर प्रायः देखा करता था, पर जो वह
ानता था हर समय नहीं होतीं—चेहरा शान्त था, और ऐसा कुछ उसमें नहीं था जिसका
ातृत्व के साथ कोई विपर्यय हो···माताओं के अपने-अपने चेहरे होते हैं, पर मातृत्व का
पना एक विशेष चेहरा है—या होना चाहिए···

किन्तु शेखर रो क्यों नहीं सकता?

अपने से यह प्रश्न पूछते ही उसका मन फिर शून्य हो गया। थोड़ी देर बाद एकाएक वह
ठा कि और कुछ नहीं तो साधारण दिन-क्रम के काम ही वह करेगा। उसने कमरे की
फ़ाई की, बर्तन धोकर रखे, बिस्तर ठीक किया। फिर एक बार उसने अपने कमरे की सूनी
ीवारों की ओर देखा। किसी दीवार पर कहीं कोई चित्र होता—फोटो टाँगना उसे बहुत
ुरा लगता है, पर इस समय अगर माँ का फोटो ही उसके पास होता तो शायद उसी को
ीवार पर टाँगकर वह यत्न करता कि उस चेहरे से नया परिचय प्राप्त करे जो इतना अपरि-
चित हो गया था···

अचानक उसे शान्ति की याद आई—उस मुद्रा में, जिसमें वह रोज़ेटी के चित्र-सी लगती
ी—'मृत्यु का विराटत्व'···क्या मृत्यु विराट ही होती है···और अब माँ भी नहीं हैं—

उसे वह कविता भी याद आई, जो शान्ति ने उससे सुनी थी; पर उसमें इस समय
ोई विशेष सार्थकता उसे नहीं दीखी, उससे उसका मन टेनिसन की ही एक दूसरी कविता
ी ओर गया—'गोधूली और साँझ की घण्टाध्वनि और मेरे लिए एक स्पष्ट आह्वान; उस

समय विदाई का अवसाद न हो जब मैं लंगर उठाकर खुले समुद्र की ओर चल दूँ'...कहते हैं कि यह टेनिसन की अन्तिम कविता थी, बयासी साल को आयु में लिखी हुई...

अपराह्न में न जाने क्यों शेखर उठकर रावी-तट की ओर चला। उसने श्मशान कभी देखा नहीं था, और उसे ध्यान हुआ कि मृत्यु की यथार्थता शायद एक देह का अन्तिम संस्कार देखे बिना समझ में भी नहीं आ सकती।

श्मशान में दो-तीन चिताएँ जल रही थीं। उन्हें जलते समय हो गया था, चिता के भीतर देह का आसार नहीं पहचाना जाता था और न वहाँ कोई व्यक्ति ही थे, शेखर अकेला ही था अगर कुछ-एक कुत्तों का साथ न गिना जाय...

किन्तु विराट् तत्त्व? शेखर को लगा कि यह दृश्य लगभग उपहासास्पद है—कैसा बेहूदा अन्त! उसका विश्वास था कि आग किसी भी एक चीज़ को एक शालीनता और भव्यता प्रदान करती है, पर यहाँ तो वह भी नहीं था, यहाँ के वातावरण से तो उलटे आग ही टुच्ची हो गई थी! एक कटु भावना लेकर शेखर ने सोचा कि शायद इस टुच्चे स्थान के साथ अपने बुजुर्गों का नाता जोड़कर लोग उनके बिछोह को आसान बना लेते होंगे...

पर लौटते समय उसे शाम हो गई। आकर उसने देखा, लालटेन में तेल नहीं है। ऐसे ही मौके के लिए उसने दो-चार मोमबत्तियाँ ला रखी थीं; दो-एक साथ जलाकर उसने आले में रख दीं और चारपाई पर बैठ गया।

एकाएक मोमबत्तियों की लौ बुझ-सी चली, और फिर तिड़-तिड़-तिड़ के स्वर के साथ दीप्त हो उठी। शेखर ने देखा, एक तितली से भी बड़ा पतंगा जो नित्य लालटेन के आसपास चक्कर काटा करता था, मोमबत्तियों की लौ से टकराकर जल गया है।

एकाएक जीवन निरे अस्तित्व के रूप में उसके सामने आया; अस्तित्व, जो निरी एक घटना है...आज भी लालटेन होती तो पतंगा चक्कर काटता रहता—एक तेल न होने की घटना से—'तिड़ तिड़ तिड़'—और—निर्वाण!

सबेरे के तार का आशय फिर उसके सामने दौड़ गया। माँ अब नहीं हैं!

शेखर उठकर आले के नीचे घुटने टेककर मानों प्रार्थना की मुद्रा में बैठ गया; सिर आले पर टेककर एकाएक रो उठा, पहले निरश्रु, पर पिंजर को हिला देनेवाले रोदन के साथ, फिर धीरे-धीरे आर्द्र होकर...

जब उसके पीछे एकाएक शशि का पीड़ित स्वर बोला, "शेखर?" तब अभी उसका रोना बन्द नहीं हुआ था। चौंककर उसने सिर उठाया, शशि ने धीरे से कहा, "तो तुम्हें सूचना मिल गई -" उसने सिर हिला दिया। फिर उँगली से आँसू झटक डाले और उठकर खड़ा हो गया। शशि ने पास आकर उसके कन्धों पर हाथ रखे, और कोमल दबाव से उसे नीचे दबाते हुए चारपाई पर बिठा दिया। फिर भी वह हटी नहीं, एक हाथ से बहुत हल्के और सान्त्वना-भरे स्पर्श से उसका कन्धा सहलाती रही।

शेखर को लगा कि ऐसे तो उसको रोने की शर्म गल जायगी और वह फिर रो उठेगा। ला, "मैं कुछ देर अकेला रहूँगा—"

"तो मैं अभी जाऊँ—"

"नहीं तुम बैठो, मैं अभी आया।" और शशि को बिना कुछ कहने का समय दिए ह बाहर निकल गया।

लगभग एक घण्टे बाद वह लौटा। शशि चारपाई के कोने पर चिन्तित बैठी थी। खर के आ जाने पर उसने कहा, "अब मैं लौटूँ—देर हो गई है। मुझे अभी शाम को बर मिली, तभी तुम्हें देखने चली आई। धीरज से सहना भइया मेरे! कल मैं फिर ाऊँगी।"

शशि चली गई तो शेखर कुछ क्षण सीढ़ियों की ओर ही देखता रहा···फिर उसने देखा क छोटी कोठरी में भी प्रकाश है। वह देखने गया। एक मोमबत्ती बड़े कमरे से उठाकर धर ले जाई गई थी। अचम्भे में शेखर ने देखा, एक ढँकी हुई थाली रखी है।

शेखर की अनुपस्थिति में शशि बेसन के परांवठे बनाकर साथ में थोड़ा-थोड़ा अचार ौर मधु रख गई थी—और तो घर में था क्या!

शेखर को इच्छा कुछ खाने की नहीं थी। पर यह थाली देखकर उसे लगा कि निर्णय बारे में वह स्वतन्त्र नहीं है।

*　　　　*　　　　*
* *　　　* *　　　* *

शशि एक बार फिर आई, और दो दिन बाद रामेश्वर के साथ एक बार और। उस न से क्रिसमस की छुट्टियाँ शुरू हो रही थीं, और रामेश्वर और शशि बाहर जा रहे थे। मेश्वर ने अकारण ही कहा, "मैं तो कहता हूँ, आप यहीं रह जाइए, पर ये मानतीं नहीं। ने तो सोचा था कि इनके यहाँ रहने से आपका भी जी बहल जायगा—दुःख में अकेले हने से तो और कष्ट होता है।"

शेखर ने कहा, "जी नहीं, कोई बात नहीं, मैं तो अकेले ही रहने का आदी हूँ।"

चलते समय शशि ने कहा, "तुम एक बार घर हो आते तो अच्छा था। पिताजी से ल आना चाहिए।"

शेखर दुबिधा-सी में चुप रह गया।

सप्ताह-भर बाद पिता की चिट्ठी आई कि वे स्वयं आ रहे हैं। हरिद्वार जायँगे, वहाँ से टते हुए लाहौर होते जायँगे। चौथे दिन वह आ भी गए। शेखर उन्हें स्टेशन लिवाने ा; पिता के चेहरे पर थकान, उदासी और दुःख की गहरी रेखाएँ देखकर वह स्तब्ध रह ा। इससे पहले उसने कल्पना नहीं की थी कि वह प्रौढ़ गरिमायुक्त चेहरा कभी बूढ़ा भी जायगा, पर इस समय चेहरे पर और आँखों में वह क्लान्ति स्पष्ट थी जो काल के दुर्गम पर वत्सर-रूपी कई मील चल आने के बाद धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है।

सीढ़ियों पर एक बार कहकर कि "कहाँ जाके मकान लिया है !" पिता उसके पीछे-पीछे उसके कमरे में आ गए। सामान एक ओर रख-रखाकर ताँगेवाले को बिदा कर दिया गया, उसके बाद पिता ने पूछा, "यहीं रहते हो ?"

प्रश्न अनावश्यक था, पर उसमें जो असम्मति ध्वनित होती थी, वही प्रकट करने के लिए यह बात कही गई थी। शेखर ने कहा, "जी।"

"नौकर है ?"

"जी नहीं।"

"खाना-पीना कैसे होता है ?"

"एक वक्त होटल से आ जाता है।"

"और दूसरे वक्त ?"

शेखर चुप रहा।

पिता ने कुछ सोचते हुए-से स्वर में कहा, "अपने-आप ही करते होगे कुछ टीप-टाप —"

प्रश्न के इस रूप में गुंजाइश थी कि उत्तर दिए बिना काम चल जाय। शेखर झूठ बोलना भी नहीं चाहता था, और सच बताना भी नहीं चाहता था।

"और सफ़ाई-उफ़ाई—बर्त्तन ?"

"ज़रा-सी तो जगह है, सफ़ाई में क्या देर लगती है ?"

थोड़ी देर के मौन के बाद पिता ने फिर कहा, "ऐसे रहकर तुम्हें शर्म नहीं आती ?" उनके स्वर में क्रोध उतना नहीं था जितना आहत अभिमान।

शेखर फिर चुप लगा गया।

पिता कमरे में टहलने लगे। शेखर आवश्यक प्रबन्ध के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करने लगा। कोठरी का सामान बाहर रखा, एक पड़ोसी से थोड़ी देर के लिए बाल्टी माँगकर पानी भरकर कोठरी में रख दिया। पिता का अटाची-केस भी वहीं आले में रख दिया, तौलिया और धोती खिड़की पर टाँग दी। पिता ने एक बार कहा, 'रहने दो, मैं आप ही कर लूँगा', पर जब वह अपना काम करता ही रहा तब चुपचाप उसे देखते रहे।

पिता जब नहाने जाने लगे तब शेखर ने कहा, "मैं जरा होटल तक हो आऊँ —"

"अच्छा। और बाज़ार से मेरी दवा भी लेते आना।"

पिता ने नाम बताकर दस-दस के दो नोट शेखर को दे दिए, तो उसने विस्मय से पूछा, "कितने की आती है ?"

"जितने की हो। और एक डिब्बा बिस्कुट का भी ले आना— शाम को चाय के साथ कुछ— निरी चाय तो अच्छी नहीं लगती।"

शेखर ने जब दवा ली और उसका कुल एक रुपए कुछ आने का बिल चुकाया, तब उसे सन्देह हुआ कि बीस रुपए देने का कारण कुछ और था। जब वह लौटा, तो पिता स्नानादि

रके पाकेटबुक में कुछ लिख रहे थे। शेखर ने दवा उनके सामने रख दी और जेब में से ष रुपए निकालने लगा।

पिता ने कहा, "रहने दो अभी--और भो तो कुछ मँगाना होगा—" तब शेखर का न्देह पक्का हो गया।

थोड़ी देर बाद खाना आ गया। रोज तो लड़का खाना छोड़कर चला जाता था और कर किसी समय बर्त्तन उठा ले जाता था। आज शेखर ने उसे काम के लिए रोक लिया।

पिता ने एक बार थाली के प्रत्येक व्यंजन को ध्यान से देखा, उसके बाद पाँच-सात ौर खाए और अनमने-से होकर हाथ खींच लिया।

ऐसो बात शेखर से कभी होतो नहीं थो, बल्कि औरों के मुँह से सुनकर भी उसे विचित्र गतो थी, पर आज कुछ तो उसके मन में उत्तरदायित्व की भावना थी, और कुछ वह यह ी अनुभव कर रहा था कि पिता का पहले-सा आतंक उस पर नहीं है; उसने साहस करके हा, "आपने तो कुछ खाया नहीं—"

पिता ने असाधारण स्वर में उत्तर दिया, "अब क्या खाना—मेरा खाना-पीना तो उसी साथ गया—" और एकाएक उठ खड़े हुए। शेखर चुपका-सा हो गया, उसने भी थाली रका दी और लड़के को इशारा किया कि हाथ धुला दे···

अगले तीन-एक दिनों में कोई विशेष घटना नहीं हुई, केवल एक बार फिर कुछ चीज़ ाने के लिए पिता ने शेखर को कहा और फिर दस का एक नोट देने लगे। शेखर ने कहा, अभी तो मेरे पास है—" तो कहा "तो यह भी उसी में जोड़ लेना—"

किन्तु तीन दिन में पिता की और उसकी बातें कई बार हुईं; बीच-बीच में अचानक ोई प्रसंग ऐसा आता कि पिता को शेखर की माता की याद आ जाती और वातावरण में क बोझल और विषण्ण क्लान्ति छा जाती; किन्तु थोड़ी देर बाद फिर सिलसिला आगे चल ड़ता। पिता से शेखर की बातचीत पहले बहुत कम होती थी, होती भी थो तो प्रायः एक पक्ष से; पर अब शेखर पिता में भी कुछ थोड़ा-सा परिवर्त्तन देख रहा था, और अपने भी एक बराबरी का भाव पा रहा था, और इसके कारण बीतचीत में बात और चीत का नुपात लगभग बराबर का ही था, यद्यपि उसका प्रवाह अब भी एक-सा नहीं होता था; त अकस्मात् हो बोचोबीच में शुरू हो जाती थी और अचानक अधर में ही समाप्त···

"ऐसे कब तक रहोगे?"

"········"

"कुछ करो-धरोगे नहीं? होटल की रोटियाँ तोड़-तोड़कर बनेगा क्या? यह कोई ढंग रहने का?"

"कर तो रहा हूँ। बल्कि इतनी मेहनत तो मैंने पहले कभी नहीं की—"

अविश्वासपूर्वक—"करते होगे; पर बिना उद्देश्य के मेहनत किस काम की? निरी मेह-

नत से कुछ थोड़े ही होता है ? जीवन का एक प्लान चाहिए जिसके अनुसार मेहनत हो। सबसे पहले रहन-सहन व्यवस्थित होना चाहिए —यह क्या साँसियों की तरह एक पोटली फैलाकर बैठ गए !"

"उद्देश्य तो मैंने अपने सामने रखा है। वह आपको पसन्द न आए यह दूसरी बात है, पर मैं मेहनत तो उद्देश्य से ही कर रहा हूँ।"

"क्या उद्देश्य ? पढ़ाई तो तुमने छोड़ दी है। आगे क्यों नहीं पढ़ते ? कम-से-कम एम० ए० तो कर लो। मेहनत करो तो बड़ी अच्छी तरह पास हो सकते हो—स्कालरशिप भी मिल जायगी। फिर यहाँ न पढ़ना चाहो, विलायत चले जाना।"

"पढ़ाई में तो अब रुचि नहीं है। एम० ए० करके भी क्या होगा—आजकल तो एम० ए० पासों की भरमार हो रही है, और सब नालायक भी नहीं हैं। मुझमें ही ऐसी कौन-सी बात है कि—"

"न सही एम० ए०, कोई और लाइन ले लो। वह बैरिस्टर और इंजिनियर बनने की सब बातें ही थीं ? ये लोग तो लोक-सेवा भी कर सकते हैं—या फिर एजुकेशनल लाइन ले सकते हो अगर सेवा करने की धुन है। कोई बुरी बात थोड़े ही है सेवा—"

"अब मैं समझ गया हूँ कि उन बातों में दूसरों के आदर्श बोलते थे, मेरे नहीं। और जिस काम में जी नहीं है, उसमें मेहनत करके मेहनत भी नष्ट ही होगी।"

"तो आखिर तुम्हारा कुछ तो विचार होगा—"

"मैंने तो साहित्य का क्षेत्र चुना है।"

"चुना है ! साहित्य से क्या होगा ? साहित्य के सहारे जीवन थोड़े ही चलता है ? और फिर साहित्य दूसरे कामों के साथ-साथ भी हो सकता है, क्या डाक्टर और वकील और प्रोफ़ेसर लेखक नहीं हो सकते ? हिन्दी में तो जिस लेखक का नाम देखता हूँ, साथ में प्रोफ़ेसर लिखा होता है। ये लोग आखिर कुछ पढ़ाते ही होंगे न कहीं। अच्छा है, सेवा भी है, जीवन में निश्चिन्तता भी है, और साहित्य भी है। बात हुई न। और—"

"पर सब लेखक ऐसे तो नहीं होते। जो अच्छे-अच्छे साहित्यकार हुए हैं वे तो—"

"उनकी बात और है। हर कोई शेली और कीट्स थोड़े ही होता है। और कालिदास ने क्या दरबार में अपनी ड्यूटी नहीं भुगताई होगी ? या फिर कोई सूरदास या तुलसीदास जैसा सन्त हो—वह तो असाधारण आदमियों की बात हुई, हर कोई थोड़े ही उनके मार्ग पर चल सकता है।"

"देखिए, या तो मुझमें कुछ प्रतिभा है, या नहीं है। अगर नहीं है, तो आप यह क्यों समझते हैं कि मैं ही एम० ए० करके दूसरे एम० ए० पास बेकारों से अच्छा हो जाऊँगा ? और अगर है तो क्या पता, मैं साहित्य-क्षेत्र में भी कुछ कर ही सकूँ—"

"हुँ, दलीलें छाँटता है !"

बात ठप हो गई।

इसके काफी देर बाद, एकाएक, "लिखोगे किसमें, हिन्दी में ?"

"जी।"

"हुँः, हिन्दी में क्या रखा है ? अँग्रेज़ी में लिखकर तो कुछ प्रतिष्ठा भी बनेगी। अच्छी ामदनी न हो तो कम-से-कम प्रतिष्ठा से ही आदमी सन्तोष कर लेता है। हिन्दी से या मिलेगा ?"

"पर लिखने का कुछ उद्देश्य तो होना चाहिए। निरी प्रतिष्ठा के लिए थोड़े ही लिखना ोता है ? अँग्रेज़ी की पुस्तक तो इने-गिने ही पढ़ेंगे—हिन्दी तो करोड़ों—" (फिर एका- क याद करके कि हिन्दी-भाषी करोड़ों हों भी, पाठक तो बहुत कम होंगे !) "क्या कम- -कम लाखों पढ़ सकते हैं।"

"पर पाठक किस श्रेणी के ? हमारे जीवन में हिन्दी की हैसियत ही क्या है ?"

शेखर ने कुछ अभिमान के साथ कहा, "हिन्दी जन-भाषा है। करोड़ों व्यक्तियों के ाण इसमें बोले हैं।" फिर यह सोचकर कि ऐसी दलील पिता को रूच सकती है, जान- ूझकर शरारत की भावना से (यद्यपि ऐसा नहीं था कि इस युक्ति में उसे विश्वास बिल्कुल हो) "और हमारी जाति की परम्परा इसमें बोलती है—हमारा सारा अतीत इसमें बँधा आ है !"

"होगा। पर जिससे आदमी का भविष्य न बने उसके अतीत को लेकर क्या करें, चाटें ?"

"मुझे तो भविष्य दीखता ही हिन्दी में है—अगर हिन्दी हम सबसे छूट गई तो भविष्य आ, न हुआ, बराबर है।"

"तुम्हें तो दीखेगा ही—हर बात में मेरा खण्डन जो करना हुआ।"

"तुम्हारी माता तुम्हें बहुत याद करती रहीं। पर तुम ऐसे नालायक निकले कि आए नहीं। माता-पिता बुरे ही सही, तब भी ऐसे कोई करता है ?"

शेखर चुप।

"और वह तो विचारी अन्त तक तुम्हारी बात सोचती रही। उसने निश्चय किया था तुम जेल से लौटोगे तो तुम्हारा ब्याह कर देगी। तुम्हारे लिए बहू भी देख रही थी।"

तीर की तरह शेखर के मन में स्मृति चुभ गई, "अबकी बार वह लौटकर आए तो की शादी कर दो ?" बड़ा भाई ईश्वरदत्त जब घर से भागा था तब उसके लिए माँ ने यह स्ताव किया था...एकाएक उसे लगा कि उसका सारा उद्योग—मानसिक और शारीरिक— वन के मानचित्र में एक ठीक जगह बैठा दिया गया है जो सदा से वैसे उद्योगों के लिए श्चित है—कि अबकी बार वह लौटकर आए तो शादी कर दो ! जैसे उसके सब विचार परिचित रोग हैं, जिसका स्पष्ट उपचार है—अमुक नम्बर का मिक्सचर ! शेखर ने उत्तर ा चाहा, "सब भाइयों के लिए एक ही नुस्खा होगा ?" पर फिर संयत-भाव से बोला, ेरा क्यों ? मैं तो ब्याह करना नहीं चाहता। और अभी तो बड़े भाई हैं।"

"तुम्हारे चाहने का क्या है ? लड़कों के चाहने से थोड़े ही ब्याह होते हैं ? यह तो सामाजिक कर्त्तव्य है। लड़का, कन्या, माता-पिता, बिरादरी, सभी उसमें होते हैं। हाँ, यह बात ठीक है कि पहले बड़े भाइयों का होना चाहिए। पर ईश्वर की सगाई हो ही गई है, प्रभु की भी हो ही जायगी। सगाई का तो पहले-पीछे का कुछ होता भी नहीं; जिसके योग्य कन्या मिले, सगाई हो जाती है। और—"

शेखर ने देखा कि यह तो प्रश्न बड़ी आसानी से हल होते चले जा रहे हैं! उसने ज़ोर देकर कहा, "मुझे अभी विवाह करना ही नहीं तो—"

"क्यों ? प्रभु तो अभी पढ़ रहा है; इंजीनियर बनते उसे दो साल और लगेंगे। तुमने तो पढ़ाई छोड़ दी है, अब तुम्हें ढंग से रहना चाहिए, आगे का कुछ सोचना चाहिए। घर-गिरस्थी बनाओ, चार पैसे कमाओ, अलग निश्चिन्त होकर रहो। बहू अच्छे घर की होगी तो थोड़े में भी काम चला लेगी, बल्कि आधी गिरस्थी तो बहू के साथ आती है और मैंने कुछ जोड़ा तो है नहीं, जो कुछ होता रहा है, तुम लोगों पर खर्च कर दिया है; पर फिर भी जो कुछ बन पड़ेगा, कर ही दूँगा। मुझे कौन साथ ले जाना है—जैसा पीछे दिया वैसा अब दिया। ब्याह अच्छी तरह हो जायगा, तो समझ लूँगा कि उसके मन की एक साध पूरी हो गई। जीवन में तो बिचारी ने सुख देखा नहीं। अब पहले ज़माने की बात थोड़े ही है—पहले तो बहुएँ कितनी-कितनी सेवा किया करती थीं—" पिता फिर कुछ अन्यमनस्क-से हो गए।

शेखर ने कहा, "देखिए, मुझे विवाह करने की रत्ती-भर इच्छा नहीं है। और मैं उसके योग्य भी नहीं हूँ—कुछ कमाता नहीं हूँ, और ऐसी डिगरी भी नहीं है कि आगे चलकर कुछ कमाने की आशा हो। क्लर्की में तीस-चालीस मिल सकते होंगे, पर वह मैं कभी नहीं करूँगा। ऐसी दशा में यह बन्धन पालना पाप भी है और मूर्खता भी। और फिर—" एक क्षण रुककर शेखर फिर आग्रहपूर्वक कहने लगा, "फिर मैंने अपने जीवन का एक मिशन चुन लिया है, अब जान-बूझकर उसके मार्ग में बाधा क्यों खड़ी करूँ ?"

"क्या मिशन ? कैसा मिशन ?"

"मुझे कुछ कमाना-जोड़ना नहीं है। लिखना है, तो वह भी पैसा जोड़ने के लिए नहीं। वह साधन होगा एक बड़े उद्देश्य का—मैं अपने समाज की, अपने आस-पास के जीवन के अंगों की व्यवस्था बदल देने का व्रत ले रहा हूँ—यह तो आप भी मानेंगे कि परिवर्तन आवश्यक है ? और नहीं तो इतना तो आप मानेंगे ही कि देश को स्वाधीन होना चाहिए ?"

पिता ने कुछ खीझ और कुछ पितृत्व के अभिमान के स्वर में कहा, "कितनी बातें सीख गया है!" फिर थोड़ा हँसकर बोले, "हम तुम्हें अपने जीवन की बातें बतलाते हैं—हमने कभी कही नहीं, पर अब छिपाने में क्या रखा है, अब तुम बड़े हो गए।" उनकी आँखें बहुत दूर चली गईं और गहरे स्वर में उन्होंने कहना आरम्भ किया, "जब मैंने पढ़ाई समाप्त की तब हम तीन-चार लड़कों ने भी ऐसा व्रत लिया था। हमारी पढ़ाई तो गुरुकुल में हुई थी,

जब हम वहाँ से निकले तो हमने आपस में सलाह की कि पचीस वर्ष की आयु होने में जितने-जितने वर्ष बाकी हैं—मेरी आयु तब अठारह वर्ष की थी—उतने-उतने हममें से प्रत्येक व्रत का पालन करते हुए बिताएगा, क्योंकि ब्रह्मचर्य की अवस्था पचीस तक की होती है। तन पर जो कपड़े थे, उनके अलावा केवल एक लाठी और एक झोले में दो-तीन पुस्तकें ही हमारी पूँजी थी। तुम व्यवस्था बदलने की बात कहते हो; हमारे उद्देश्य बहुत स्पष्ट थे। अंग्रेज़ों को निकाल बाहर करना और हिन्दू राष्ट्र को संगठित करके विशुद्ध आर्य-संस्कृति की पुनः स्थापना···चार साल तक हम लोगों ने भीख माँग-माँगकर प्रचार किया। ऐसे-ऐसे बीहड़ स्थलों में हम गए कि तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। देखे तो तुमने क्या होंगे! और—' कुछ रुककर एक झेंपी-सी हँसी हँसकर, "अँग्रेज़ों के विरुद्ध हमने जितना विष-वमन किया—आज के आतंकवादी क्या करेंगे! पर अन्त में—" उनकी भँवों और कन्धों ने संकेत से वाक्य पूरा किया कि 'सब निष्फल'!

पिता ने शेखर की ओर देखा। उसके चेहरे पर कौतूहल स्पष्ट देखकर फिर कहने लगे, "एक साल तक हम लोग इकट्ठे रहे। फिर अलग-अलग मार्ग पकड़े। अपना कर्त्तव्य हमारे आगे इतना स्पष्ट था, कि राह चलते कोई इक्का-दुक्का अंग्रेज़ मिल जाय तो उसकी बुरी गत बनाते थे! मैं—" उनके नथने अभिमान से फूल गए- "बहुत तगड़ा था--और चेहरा ऐसा लाल होता था कि बस! आजकल की तरह थोड़े ही। बाबू साहब नहीं थे हम!"

फिर थोड़ी देर के लिए उनकी दृष्टि अन्तर्मुख हो गई, मानों दूर दबी हुई स्मृति को खोदकर ला रहे हों· "पर अन्त अच्छा नहीं हुआ। दो साथी किसी आतंककारी दल के साथ पकड़े गए, और फाँसी लग गए। तीसरे का कुछ पता नहीं लगा कि वह कैसे मर गया, पता यही लगा कि कुछ ईसाई मिशनरियों ने उससे चिढ़कर उसे विष दिला दिया था। चौथा—चौथा मैं था। चार साल तक यह करते-करते मुझे लगने लगा कि मैं व्यर्थ काम कर रहा हूँ—केवल इसलिए नहीं कि यह टटीहरी का प्रयास है; अधिक इसलिए कि यह घृणा का प्रचार कभी अच्छा फल नहीं ला सकता···फिर एक दिन एक घटना से मेरी आँखें बिल्कुल खुल गईं और—" एकाएक विषय बदलकर उन्होंने कहा, "घृणा का प्रचार तो यह है ही। तुम भी क्या करोगे? जो अच्छा नहीं है, उसके विनाश का ही तो प्रचार करोगे न?"

"उतना ही नहीं, जो हम चाहते हैं उसका—"

"हाँ, हाँ; पर परिस्थिति की लाचारी है कि विनाश पर ही तुम्हारा आग्रह हो जायगा। मैंने देखा है कि सब प्रचार अन्ततः घृणा का प्रचार है; क्योंकि घृणा में शक्ति है, प्यार में वह नहीं है। वैसे ही जैसे विष में शक्ति है। लड़ाई लड़ी जाती है, जिहाद होते हैं, तो घृणा के सहारे···और घृणा सचमुच विष है। वह दूसरे को भी मारती है, अपने को भी नहीं छोड़ती। और जब दूसरों को नहीं मार पाती, तब तो अपने को इतनी जल्दी खा लेती है कि···"

वे एकाएक चुप हो गए। शेखर कुछ प्रतिवाद भी करना चाहता था, और यह भी न पूछा

चाहता था कि वह घटना क्या थी, पर उसे डर हुआ कि पूछने से कहीं पिता का मूड ही न बदल जाए। क्योंकि आज तक अपने अतीत की बात उन्होंने कभी नहीं कही थी; सचमुच शेखर ने कभी इस कल्पना से साक्षात्कार नहीं किया था कि पिता भी कभी एक ऐसे युवक रहे होंगे। अतः वह चुप ही खड़ा रहा। थोड़ी देर बाद पिता फिर बोले—"तुम भी पागल हो जाओगे।" और फिर खो-से गए। फिर जैसे अपने को जगाकर कहने लगे, "तीन-चार साल में अपने कामों से आस्था बिल्कुल उठ गई। तब मुझे इस बात की बड़ी आवश्यकता जान पड़ने लगी कि किसी से उपदेश लेना चाहिए। पर ऐसा था ही कौन! फिर किसी ने मुझे बताया कि टिहरी की तरफ़ हिमालय की किसी गुफ़ा में एक महात्मा रहते हैं, उन्हीं से सच्चा उपदेश मिल सकता है। संस्कार तो ऐसे थे ही कि हिमालय की कन्दराओं में सच्चे साधक और ज्ञानी रहते हैं; मैं उधर ही को चल पड़ा। कई महीने भटकने के बाद एक दिन जंगल पार करते-करते एक खुले-से टीले पर बैठ गया। टीले के नीचे ही एक पहाड़ी नाला बहता था; उसकी धारा का ऊपर का भाग तो पथरीली जमीन में शोर करता हुआ बहता था, पर निचला एक चौड़े-से थाले की घास में खो गया था, और वहां दलदल-सी भी हो रही थी।"

साँस लेकर पिता फिर कहने लगे, "थोड़ी देर बाद ऊधर से एक भीमकाय मूर्ति आती दीखी। काला चमकता हुआ शरीर, लम्बी-लम्बी रूखी जटा और सिंह की-सी अयाल, बदन पर एक कौपीन। जहां से दलदल आरम्भ होती थी, वहीं बैठकर उसने हाथों से बहुत-सा कीचड़ खोदा और टीले के ढलाव पर जमा करने लगा। जब काफी कीचड़ जमा हो गया तब वह उसे थाप-थापकर जाने क्या करने लगा। मैं वहां से बहुत दूर था, अतः बिना उसे चौंकाए कुछ पास आने के लिए मैंने दूसरी ओर से टीले का चक्कर लगाया और जहां वह बैठा था वहां से कुछ ही नीचे एक पेड़ की ओट खड़े होकर उसे देखने लगा। जो मैंने देखा उससे मैं चकित रह गया।

"उसने मिट्टी की एक तोप बनाई थी। नीचे झुककर निशाना देखता, फिर हाथ की एक लकड़ी से तोप को आग देता, और फिर मुँह से ज़ोर का शब्द करता—'ठांय!' फिर एक अट्टहास से जंगल गुँजाकर वही क्रम दुहराने लगता…"

पिता ने रुककर देखा कि शेखर पर इसका क्या असर हुआ है, फिर बोले, "मैं बहुत देर तक मुग्ध भाव से यह देखता रहा। फिर मैंने देखा, उसी स्थान के आस-पास और भी कई मिट्टी की तोपें पड़ी हैं जिनकी मिट्टी सूखकर टूट गिरी है… दो घण्टे बाद मैं उठकर चला आया।"

अबकी शेखर ने पूछा ही तो, "फिर?"

"बाद में पूछताछ करने पर मुझे पता लगा कि वह सन् सत्तावन का एक विद्रोही सिपाही था, जो पीछे जब अँग्रेज़ों ने अमानुषी ढंग से बदला लेना आरम्भ किया तब भागकर वहां आ छिपा था। तबसे उसका यही नित्य-क्रम था—चालीस बरस से वह ये मिट्टी की तोपें दाग रहा था!"

बहुत देर तक मौन रहा ।

"उस घटना से अपने प्रयासों की विफलता मेरे सामने स्पष्ट हो गई । मैंने महात्माओं ी खोज छोड़ी, और लौटकर दूसरे आश्रम में प्रवेश किया। इस बात को पैंतीस साल हो ए । मुझे नहीं लगता कि मैंने भूल की ।" फिर क्षण-भर रुककर सोचते हुए—"घृणा का ही अन्त होता है—हो ही यही सकता है । पागलपन ।" फिर कुछ इस भाव से कि इसके ागे सब तर्क परास्त हैं, उन्होंने कुछ मुस्कराकर शेखर की ओर देखा ।

शेखर के मुँह पर दर्जनों प्रतिवाद एक साथ आ गए । बोला, "यह आप कैसे कह सकते ? पहले तो यही सिद्ध नहीं है कि वह घृणा से पागल हुआ—या कि घृणा से ही उसे अस- फलता मिली । जंगल में रहकर मिट्टी की तोपें दागने का असल कारण तो था आतंक—वह छिपकर तोप दागता था, इसलिए मिट्टी की तोप थी । यह बेबसी का विद्रोह था—और बेबसी ी आप मोल ली हुई, इसीलिए विद्रोह भी विफल था । न छिपता, लड़ मारता, तो घृणा क्यों सफल मानी जा सकती ? और मान ही लीजिए कि वह विद्रोह करने के कारण पागल हुआ, ो आपके पास यह कहने का क्या कारण है कि उसका जीवन कम सिद्ध हुआ ? पागल तो सभी ोते हैं, उसके पागलपन में एक असाधरण एकाग्रता थी, बस इतना ही तो सिद्ध हुआ न ?"

पिता ने झल्लाकर कहा, "पागल होओगे क्या, तुम तो अभी पागल हो ।"

पिता ने कहा, "निश्चिन्तता बड़ी बात होती है ।"

शेखर कुछ सोच नहीं सका कि क्या कहे ।

"तुम अभी इसका महत्त्व नहीं समझोगे । जीवन में सिक्योरिटी बड़ी चीज़ है । साहित्य कुछ टका-पैसा आ भी गया, तो उसका क्या भरोसा ? आमदनी की बरकत तब होती है ब नियम से एक-सी आती रहे, चाहे थोड़ी हो । इसलिए कहता हूँ, घर बसाओ, कुछ माओ, चैन से रहो । जीवन का कुछ ढंग हो तो आदमी को पता रहता है कि वह कहाँ ड़ा है ।"

शेखर फिर चुप रहा । पिता ने कहा, "बोलते क्यों नहीं ?"

"क्या बोलूँ, मेरी तो समझ में नहीं आता ।"

"इसमें समझने की क्या बात है ? ऐसा कौन है जो जीवन में सिक्योर होना नहीं ाहता ? नहीं तो यह बीमा, प्राविडेण्ट फण्ड, पेंशन आदि का रिवाज ही कैसे होता ? आज- ल तो कोई नौकरी करता है तो पहले पूछता है कि पेंशन या प्राविडेण्ट फण्ड है या नहीं । यों, मेरी बात ठीक नहीं है ?"

"ठीक है । पर मैं तो सिक्योर होना नहीं चाहता । आप घर-गिरस्थी, निश्चित आम- नी और सिक्योरिटी की बात कहते हैं; मुझे यही जीवन के रोग लगते हैं—इन्हीं से तो बचना चाहता हूँ । यह चैन की ज़िन्दगी, यह आश्वासन का भाव, यह दिनों-दिन जोखम ी अनुपस्थिति—यही तो घुन है जो जीवन की शक्ति को खा जाता है । मैं इन सबक

उलटा चाहता हूँ, चाहता हूँ निरन्तर आशंका और जोखम का वातावरण, ताकि मैं हर समय लड़ने को बाध्य होऊँ ; अपने हाथ से तोड़कर नष्ट करूँ और अपने ही हाथ से फिर नये सिरे से बनाऊँ ।"

"खाहमखाह बहस करने के लिए बहसते जाओगे। दो दिन सचमुच ऐसे रहना पड़े तो नर्वस ब्रेकडाउन हो जाय ! जोखम राह चलते आता है तो भुगत लिया जाता है, कोई माँगता भी है ? तुम बहुत विज्ञान बघारते हो, क्या यह सभ्यता के विकास की ही गति नहीं है कि मानव निरन्तर निरापद अवस्था की ओर बढ़ता गया है ?"

"सभ्यता ! यह सभ्यता तो ढकोसला है । सिक्योरिटी, सुख-शांति और उन्नति की सब बातों का असली मतलब यह है कि मानव का बचपन लम्बा होता जाता है । जो जितना सभ्य है, उसकी बचपन की अवस्था उतनी लम्बी है । सभ्यता तो परावलम्बिता का नाम बन गया है । पशुओं में बचपन एक साल का होता है, हद-से-हद दो साल का । जंगली लोगों में दस-बारह साल का होता होगा । हम लोग इतने सभ्य हो गए हैं कि अब तीस-तीस साल तक बच्चा बच्चा ही बना रहता है, अपने पैरों नहीं खड़ा होता । कई लोग तो बचपन से निकले बिना ही मर जाते हैं ।"

"क्या मतलब ?"

"अब मैं ही इक्कीस साल का हो चुका । अभी आप मुझे इस लायक नहीं समझते कि लाहौर जैसे निरापद शहर में अपना मकान लेकर रह सकूँ । मैं तो समझता हूँ कि आपके ऐसा सोचने का मतलब यही है कि आपने बीस साल तक मुझे जो कुछ सिखाया-पढ़ाया है उस सबको आप रद्दी कर रहे हैं, क्योंकि उसने मुझे इस लायक नहीं बनाया । मुझे लगता है कि हम ज़रूरत से ज़्यादा सभ्य हो गए हैं । हमारे संयुक्त घरों में न जाने क्या हाल होता होगा ! क्या इस तरह व्यक्ति को ज़बरदस्ती पर-निर्भर नहीं बनाया जाता, उसके सच्चे व्यक्तित्व को और आन्तरिक शक्ति को सुलाया नहीं जाता ? सभ्यता का क्या यही अर्थ होना चाहिए कि जीवन की ललकार अनसुनी कर दी जाय, बढ़कर उससे टक्कर लेने की शक्ति को कुचल दिया जाय ? आप ही बताइए कि अगर आर्य शुरू से ऐसे आराम चाहनेवाले होते तो जावा और कम्बोज और चीन तक उनकी संस्कृति कैसे पहुँचती ? बल्कि आर्य होते ही कहाँ—आर्य तो वे तब कहलाए जब कहीं से वे एक नये देश में आकर बसे ।"

पिता ने झुँमलाई हुई सराहना के साथ शेखर की ओर देखकर कहा, "ये सब पढ़ी हुई बातें बोल रहे हो, या अपनी सोची हुई ?"

शेखर को एकएक बाबा मदनसिंह की याद आई । 'अपनी व्यथा में से सूत्र खोजना होता है'···शायद उसकी दलीलों पर बाबा के विचारों की छाप है, पर क्या इतनी कि शेखर केवल तोते की तरह दुहरा रहा है ? क्या जो कुछ वह कह रहा है, उसका अनुभव उसकी नाड़ियों में नहीं है ?

उसने खिन्न होकर मौन साध लिया···

पिता ने दो-तीन दिन और शेखर के साथ मगज़ मारा। बीच में एक-आध दिन वे कुछ ...-घामकर लोगों से मिल भी आए, और दो-एक व्यक्ति वहाँ आकर भी उनसे मिल गए। ...सरे दिन रामेश्वर के साथ शशि भी उन्हें मिलने आई—उसी दिन वे लाहौर लौटे थे। ... उसके समवेदना के वाक्यों से पिता का हृदय पिघल गया और वे माता के संस्मरण कहने ...ो, शेखर दबे-पाँव उठकर बाहर चला गया। उसे लगा कि उसकी अनुपस्थिति में शशि ...धिक सहज भाव से उन्हें वहाँ सान्त्वना दे सकेगी, जो देने की शेखर में तनिक भी योग्यता ...ीं है– पता नहीं और किसी को भी वह सान्त्वना दे सकता है या नहीं, पर पिता से ऐसी ...त करते तो उसकी जीभ ऐंठ जाती है।

रात को शेखर एकाएक चौंककर जागा। उसने स्वप्न नहीं देखा था, उसकी समझ में ...ीं आया कि वह क्यों ऐसे घबड़ाकर उठ बैठा है। घबड़ाहट और असह्य बेचैनी बड़ी स्पष्ट ...—उसने मुड़कर पिता की ओर देखा और फिर चौंका—पिता भी उठकर बैठे हुए थे। ...ाएक पिता के भर्राए हुए कण्ठ से एक विचित्र स्वर निकला जो न चीख थी न कराह— ...र शेखर ने जाना कि इसी स्वर से वह हड़बड़ाकर जागा था···वह थोड़ा-सा काँप गया; ...ता ने शायद जान लिया कि वह उठ बैठा है, तब वह जल्दी से उठकर और जूता घसीटते ... बाहर आँगन में चले गए।

शेखर ने पिता को कभी रोते नहीं देखा था– और इस बेबस ढंग से रोते···उसके ...तर में बहुत गहरे कहीं दर्द होने लगा, और शब्दहीन समवेदना उसमें उमड़ने लगी। वह ...ीं जानता था कि पिता इतना दुःख मना सकते हैं; अब तक उसने यह भी नहीं समझा ... कि दैनिक व्यवहार की कठोरता और रुखाई का मोल हर कोई कभी कहीं अकेले में चुकाता ...है—कि सन्तान पर कठोर शासन करनेवाले पिता की भी नैसर्गिक मानवी कोमलता आखिर ...ीं तो प्रकट होती ही होगी··

बाहर आँगन से उसने हाँपे हुए कण्ठ का 'हुँहुँक—हुँहुँक'—सुना और फिर नाक साफ ...ने की आवाज़...फिर चप्पल के स्वर से अनुमान करके कि पिता भीतर को आ रहे हैं, वह ...ी से मुँह ढँककर लेट गया, और साँस को नियमित बनाकर हृद्गति की तीव्रता को छिपाने ...यत्न करने लगा···

थोड़ी देर बाद पिता आकर चारपाई पर बैठ गए, एक बड़ी लम्बी और टूटी हुई आह ...्होंने भरी, फिर धीरे से लेट गए।

बहुत देर बाद तक शेखर सोचता रहा कि वे अभी सो गए हैं या नहीं और अन्त में सो गया।

अगले दिन पिता को लौटना था। प्रातःकाल मुँह-हाथ धोकर और सामान ठीक करके ...पीते समय उन्होंने रूखे स्वर से पूछा—"फिर क्या निश्चय किया तुमने?"

रात की स्मृति अभी तक बनी होने के कारण शेखर नहीं चाहता था कि कोई ऐसी बात ... मुँह से निकले जिससे पिता को क्लेश हो। उसने अपना स्वर यथा-सम्भव विनीत

बनाकर कहा, "जी, मैं तो पहले ही बता चुका हूँ। एक पुस्तक तो मैं छपने भी दे रहा हूँ—" इतने दिन तक शेखर वह हस्तलिपि देने नहीं गया था।

"अच्छा ? क्या पुस्तक है ?"

" 'हमारा समाज' शिर्षक रखा है। उसमें—"

"तो समाज के पीछे लाठी लेकर पड़े हो। तुम्हारी मर्जी बाबा। अक्ल की बात सुनोगे थोड़े ही।" फिर जैसे कुछ ढीले पड़कर, "हम भी कब सुनते थे। जवानी का लहू ही ऐसा होता है। आप पटकी खाए बिना मानता कौन है ?"

शेखर ने मन-ही-मन कहा—"तो ठीक तो है।" पर प्रकाश्य कुछ नहीं बोला।

इतने में शशि आ गई। पिता ने उसकी ओर देखकर पूछा—"तुम क्यों नहीं समझातीं इसे ? सुना है, तुम्हारी बहुत मानता है।"

शेखर ने पूछा—"किससे सुना है ?"

"किसी से सुना सही। क्यों बात ठीक नहीं है ?"

शशि ने कहा—"मेरी बात कब सुनते हैं—मुझे तो झट डाँट देते हैं।"

"डाँटने का क्या मतलब उसका ? तुम क्यों सुनती हो ?"

शशि के झूठे अभियोग पर शेखर को हँसी आने लगी ; वह उठकर कुछ लाने के बहाने कोठरी में चला गया और वहाँ से आँगन में ; काफी देर तक वहीं घूमता रहा। फिर उसे विस्मय भी हुआ कि अभी तक उसकी बुलाहट नहीं हुई। शशि न जाने कैसे बिना झिझक पिता से बातें कर लेती है—वह भी तो उससे एक स्निग्ध स्वर में बोलते हैं जिसमें अधिकार की भावना नहीं होती। उन दोनों में लगातार सहज भाव से वार्तालाप हो सकता है, शेखर और पिता के बीच तो बहस ही होती है, या फिर खिंचा हुआ मौन !

एकाएक शेखर को याद आया, उसके पास रुपए पड़े हैं जिनका हिसाब नहीं दिया गया। वह भीतर चला, इतने में पिता की आवाज़ आई, "शेखर !"

शेखर ने अपने कुर्ते की जेब में से नोट और रुपए निकालकर पिता की ओर बढ़ाते हुए कहा, "यह लीजिए बाकी ; हिसाब भी मैंने एक पर्ची पर लिख दिया है।"

पिता ने किंचित् डाँटकर कहा, "अच्छा-अच्छा रखो ; बड़ा आया हिसाब देनेवाला !"

शेखर क्षण-भर किंकर्त्तव्यविमूढ़ खड़ा रहा। फिर शशि को इशारे से कहता पाकर कि इस प्रसंग को तो तुरन्त बन्द कर दे, उसने रुपए जेब में रख लिए।

थोड़ी देर में ताँगा आया, शशि प्रणाम करके लौट गई और शेखर पिता के साथ स्टेशन चला।

*　　　　*　　　　*
* *　　　* *　　　* *

'हमारा समाज' की पाण्डुलिपि प्रकाशक को दे आने के बाद शखर को ऐसा अनुभव

लगा कि जो उद्देश्य उसने अपने सामने रखा है, उसकी ओर एक सीढ़ी वह चढ़ गया है। उसे बहुत सांत्वना मिली, और वह कुछ अधिक नियमित होकर काम करने का प्रयास करने । अबकी बार उसने संसार के विभिन्न समाजों में पुरुष और स्त्री के अधिकारों का तुलनात्मक यन करने का निश्चय किया। प्रतिपाद्य विषय यह था कि इस समय पुरुष और स्त्री के आपस म्बन्धों को, और एक-दूसरे के सम्मुख प्रत्येक के अधिकार को, नियमित करनेवाली जो सीढ़ियाँ उनमें बहुत कम ऐसी हैं जो विवेक की नींव पर खड़ी हुई हैं, या कि जिनके पीछे प्रकृति ही लतर अर्थशास्त्र की व्यवस्था है, उस अर्थशास्त्र की, जिसकी पूँजी की इकाई रुपया न र जीव है। इतना ही नहीं, इससे आगे बढ़कर वह यह भी सिद्ध करना चाहता था कि रकों में भी जो प्रचलित तर्क-परम्परा है— कि रूढ़ियाँ किसी जमाने में ठीक थीं क्योंकि समय की परिस्थिति के लिए बुद्धि-संगत थीं, पर अब नयी परिस्थिति में असंगत हो गई —वह भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि बहुत से विश्वासों की जड़ नवीन या प्राचीन किसी भी परि-ति में अनिवार्य नहीं है— अर्थात् अतीत की परिस्थिति के साथ भी उनका अपरिहार्य -कारण सम्बन्ध नहीं है। उनकी जड़ है विशुद्ध अन्ध-विश्वास या जादू-टोने की तर्कातीत ाओं में। टोने की प्राचीन रीतियों के ही बहुत-से अवशेष हैं जिन्हें हम अनन्तर बुद्धि-त बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं। यह प्रयास वैसा ही है, जैसे पुरानी टूटी हुई मिट्टी लुटिया मिल जाने पर हम उसमें पीतल की नयी पेंदी टाँकना चाहें—पर ऐसा उपहासा- प्रयास हम नित्य ही करते हैं।

शेखर यह भी कहना चाहता था कि इन सुधारकों के असफल होने का एक कारण यह है। वे ऐसी रूढ़ियों को पुराने ज़माने की दृष्टि से ठीक मानकर मानव के अहंकार को करते हैं— वह और भी आग्रहपूर्वक कहने लगता है कि अजी साहब, पुराने सब रिवाज ऋषियों ने निर्दिष्ट किए थे—आप खुद मानते हैं कि वे समयानुकूल थे। इससे फिर वह ानी से एक सीढ़ी और बढ़ता है जब वह देखता है कि बहुत-से नये रिवाज भी बुद्धि-त नहीं हैं; तब वह कहता है, 'साहब, वे तो ऋषि थे, वे जो निश्चित कर गए वह जमाने के लिए नहीं, युग-युगान्तर के लिए ठीक था, क्योंकि वे तो त्रिकालदर्शी थे— र वह अपने जमाने के लिए बुद्धि-संगत विधान बना सकते थे, तो क्या भविष्य के लिए बना सकते थे?' बस, इस दृष्टिकोण के आगे सुधारक की एक नहीं चल सकती—यह का दुर्भेद्य कवच है।

शेखर चाहता था, उसकी पुस्तक में निरे सिद्धान्त का प्रतिपादन न हो, जो युक्तियाँ वह स्थित न करे उन्हें पुष्ट करने के लिए इतिहास, मनोविज्ञानिक और जीव-विज्ञान--विशेष-मानवशास्त्र से प्रमाणों का ऐसा पहाड़ खड़ा कर दे कि उसकी एक-एक युक्ति अकाट्य जाय। वह अनुभव कर रहा था कि इसके लिए उसका अध्ययन पर्याप्त नहीं है। कालेज ज्ञान उसका विषय ही रहा था, और वैसे भी वह इधर-उधर की बहुत पुस्तकें पढ़ता और जेल के दस महीनों में भी उसने बहुत कुछ पढ़ा था जिससे समाजशास्त्र और

मानवशास्त्र में उसकी रुचि भी परिष्कृत हुई थी; पर वह अच्छी तरह जानता था कि मानव का ज्ञान-पुंज जिस तीव्र गति से बढ़ रहा है, उसके साथ-साथ चलना बहुत कठिन है, विशेष-कर उस व्यक्ति के लिए, जिसके अध्ययन को किसी बहुज्ञ का निर्देश न मिल सकता हो—वह चाहता था कि नगर के प्रमुख सार्वजनिक पुस्तकालय का सदस्य बन जाय, ताकि पढ़ने की सामग्री मिल सके ; और पिता के दिए हुए रुपए में से होटल का बिल आदि चुकाकर बारह-एक रुपए उसके पास बाकी भी थे ; पर पुस्तकालय का आठ रुपए तो वार्षिक चन्दा था, और जिन विषयों की पुस्तकें वह लेना चाहता था, उनके लिए बीस रुपए का डिपाज़िट भी आवश्यक था···

एक दिन बैठे-बैठे उसे ध्यान हुआ, उसकी कई किताबें खो गई हैं अवश्य, पर बहुत सी बची हुई भी हैं। जो पुस्तकें वह पढ़ चुका है, उन्हें पूंजीपतियों की तरह सँजोकर रखने का उसे क्या अधिकार है ? वे उसे बहुत प्यारी हैं, बल्कि उन्हें वह अपने विशालतर अर्थात् सामाजिक शरीर का एक अंग मानता है ; पर ज्ञान क्यों कम प्यारा हो ? और ज्ञान क्यों बिना प्रयास मिले—ज्ञान क्या कोई चूरन की पुड़िया है कि मुफ्त चखने को मिल जाय !

शेखर ने अलमारी के पास जाकर पुस्तकें देखना आरम्भ किया। दो-एक बार सब देख चुकने के बाद उसने अधिक दामोंवाली तीन पुस्तकें निकालीं ; फिर एक बार सब पुस्तकों को देखकर दो वापस रख दीं और एक और निकाली ; फिर सबको वापस रखकर टहलने लगा···फिर उसने बड़े आकार की दो जिल्दों की एक पुस्तक निकाली—वेल्स लिखित 'इतिहास की रूपरेखा'। जल्दी-जल्दी उसके बहुत-से पन्ने उलट डाले, फिर मन-ही-मन कहा, यह तो जनरल पुस्तक है, और इसे बार-बार देखने की आवश्यकता तो पड़ती नहीं—दो बार पढ़ ही चुका हूँ। और उसे बाहर रख लिया। फिर दो चक्कर काटकर उससे भी बड़े आकार की एक पुस्तक निकाली—चुग़ताई का चित्र-संग्रह···इसके दो-एक चित्र देखकर वह जैसे पुस्तक को सम्बोधित करके मन-ही-मन कहने लगा, जब और संग्रह नहीं रहे, तब इस एक से क्या होगा ! फिर चुग़ताई कौन दुनिया का सबसे बड़ा चित्रकार है—और चित्र तो आदमी तब रखे जब रखने लायक जगह हो। यहाँ क्या जाने कब दीमक लग जाय—और उसने अपने को याद दिलाया कि उसकी पहली रचना को कीड़े खा गये थे, और दूसरी को गाय खा गई थी···पर उसके मन का भाव चोर का-सा अधिक था, निश्चय उसमें बिलकुल नहीं था···

शेखर ने तीनों पुस्तकों की जिल्दें खोलकर फिर देखीं। ये पुस्तकें उसे कालेज में पुरस्कार मिली थीं, और जिल्द के अन्दर इस आशय का प्रमाण-पत्र भी चिपका हुआ था। क्षण-भर शेखर उसे देखता रहा, फिर एकाएक उसने दृढ़ हाथों से प्रमाणपत्र कोने से पकड़-पकड़कर उखाड़ डाले, पुस्तकें पुराने अखबार में लपेटीं और बाहर चल दिया।

पुस्तकें कुल लगभग अड़तालीस रुपए की थीं, पर बाज़ार में उनके अठारह रुपए से

क नहीं लगे। दो-एक जगह पूछकर शेखर ने वेल्स का इतिहास एक सेकंडहैंड पुस्तक-ता के पास साढ़े पन्द्रह रुपये में बेच दिया--यह उसकी कीमत का ठीक आधा था। दूसरी क के चार रुपए से अधिक देने को कोई तय्यार नहीं हुआ, क्योंकि शेखर को पता लगा, सत्रह होने पर भी नयी पुस्तक बाजार में पचास प्रतिशत कमीशन काटकर साढ़े में मिल रही थी। अतः शेखर उसे लेकर कालेज के एक लड़के के पास गया जो उसका चित भी था और चित्रकला में रुचि रखता था; शेखर ने वह पुस्तक किसी तरह उसके मढ़कर उससे आठ रुपए ले लिए—यद्यपि शेखर ने स्पष्ट अनुभव किया कि ग्राहक पर तना दबाव डाला जा सकता है, उससे किसी तरह भी कम वह नहीं डाल रहा है…

किन्तु सदस्य बनकर जब वह पहले ही खेप में फ्रेज़र की 'गोल्डन बो', क्राली की स्टिक रोज़' और पाल्लिनोस्की की…तथा मनुस्मृति का एक सटीक और विशद आलोचना-संस्करण ले आया, तब उसके मन का अवसाद उतर गया, और इन पुस्तकों को, का उल्लेख बार-बार पढ़कर उसकी उत्कण्ठा तीव्र हो चुकी थी, वह मनोयोग-पूर्वक पढ़ने जुट गया। पढ़ना स्थगित करके जब वह पुस्तक अलमारी में रखता तब उसे ऐसा जान ा कि ये भी पराई नहीं हैं, उसकी आत्मीयता के घेरे में आ गई हैं…

एक दिन शेखर ने लिखते-लिखते चौंककर देखा कि कोई उसके द्वार पर खड़ा प्रतीक्षा रहा है कि वह मुँह उठाए तो अनुमति लेकर प्रवेश करे। शेखर ने हड़बड़ाकर कहा, इए-आइए—" और इधर-उधर फैले हुए कागज़ समेटकर चारपाई पर स्थान बनाने लगा।

आगन्तुक ने चेहरे पर बनावटी मुस्कान का जाल फैलाते हुए कहा, "मेरा नाम अमोलक है, और मैं यहाँ की हिन्दू-सुधार-सभा का मंत्री हूँ।"

शेखर ने कहा, "आज्ञा?"

"मैंने सुना है कि आप समाज-सुधार के कार्य को अपने जीवन का मिशन बनाना चाहते आप अध्ययनशील भी बहुत है, यह तो प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ। असल में साधना ही र की पहली माँग है। मैं—"

शेखर ने विस्मय से पूछा, "आपने यह सब कहाँ सुना?"

"प्रतिभा छिप थोड़े ही सकती है—आप विनय से लाख छिपाएँ—"

यह नहीं हो सकता—कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। शेखर ने कुछ रुखाई से कहा, कृपा हुई?"

"यों ही दर्शन के लिए चला आया। समाज-सेवा के काम में इतने कम व्यक्तियों दिलचस्पी होती है—और आजकल के नौजवान तो आप जानते हैं जैसे हैं—किसी के काम में उन्हें रुचि नहीं—सेवा के तो नाम से चिढ़ते हैं—आपसे हमें बड़ी-बड़ी एँ हैं—"

"कहिए, मैं क्या कर सकता हूँ—"

"आप बहुत कुछ कर सकते हैं। आपमें उत्साह है, लगन है, जवानी का बल है। आप कभी हमारी किसी सभा में आकर देखिए, हमारा कार्यक्रम देखकर आप स्वयं जान लेंगे कि आप कितनी मदद कर सकते हैं।"

शेखर ने कुछ रुचि दिखाते हुए कहा, "अवश्य आऊँगा। पर आप कुछ संक्षेप—"

"हाँ, हाँ। सुधार तो हम बहुत-सी बातों का चाहते हैं, पर यह अनुभव करके कि समाज की बुनियाद परिवार पर खड़ी है, और समाज का सुधार तभी हो सकता है जब पहले परिवार का जीवन सुधारा जाय, हमने उसी को अपना क्षेत्र चुना है।"

"बहुत ठीक —"

"और परिवार की बुनियाद विवाह है, इसलिए हम सबसे पहले विवाह की परिपाटी में सुधार चाहते हैं।"

"यह तो बड़े महत्व का काम है। आपका कार्यक्रम क्या है?"

"कोई एक बात हो तो बताऊँ न? ऐसे काम में बहुमुखी उद्योग करना पड़ता है। नवयुवकों और नवयुवतियों और उनके माता-पिताओं सबका सहयोग आवश्यक होता है; फिर पत्र-पत्रिकाएँ अपना महत्व रखती हैं; फिर नेताओं-पंडितों आदि को भी प्रसन्न रखना पड़ता है—"

"क्यों?"

"क्योंकि व्यर्थ का विरोध बढ़ाने से लाभ? अपना काम जितने कम विरोध के साथ सम्पन्न हो सके उतना ही अच्छा, क्यों आपकी क्या राय है?" लाला अमोलक राय कुछ हँसे।

"ठीक है। अच्छा, मैं अवश्य आपकी सभा में आऊँगा। कब है।"

"आइए ही नहीं, आपको बोलना भी अवश्य पड़ेगा—"

शेखर ने कुछ झिझकते हुए कहा, "बोलने का तो मुझे बिल्कुल अभ्यास नहीं है, मैं तो बातचीत करके ही अधिक उपयोगी हो सकता हूँ —"

"वाह, यह भी कोई बात है? समाज-सुधार के काम में समाज से भागने से कैसे चलेगा? और फिर कोई बड़ा जलसा थोड़े ही है—इने-गिने आदमी होंगे जिन्हें काम में रुचि है। समझ लीजिए कि वर्करों की मीटिंग है—बाकी हमारा सब काम तो बाहर होता है, मीटिंग में केवल विचार-विनिमय होता है —"

अन्त में तय हुआ कि शेखर मीटिंग में जायगा और विचारों के आदान-प्रदान में हिस्सा लेने के लिए कुछ कहेगा भी। लाला अमोलक राय चले गए।

यद्यपि शेखर ने इस निमंत्रण की बात शशि को बड़े शान्त भाव से बताई, और उसकी सहमति भी शान्त भाव से स्वीकार कर ली, तथापि भीतर-ही-भीतर उसके उत्तेजना बढ़ने लगी—एक ओर नये दायित्व की भावना और काम के लिए मार्ग मिलने का उत्साह, दूसरी

पहले-पहले शास्त्रार्थ का संकोच और डर—कालेज में और विशेषकर 'एंटिगोनम ब' में वह काफ़ी उत्साह के साथ अपने मत का पोषण कर लेता था, पर वह बात थी—वहाँ सब परिचित और साथी थे, और वहाँ स्वयं क्लब के निर्माताओं में से वह था; यहाँ पर वही एक ग़ैर होगा, निमंत्रण की औपचारिकता में बँधा हुआ, और अनु- समाज-सेवियों में एक अकेला नौसिखिया 'अमेचर'···फलतः उसने बड़े परिश्रम से ारी आरम्भ की—और अपने वक्तव्य के लिए 'पाइंट' लिखते-लिखते पूरा एक निबन्ध डाला··· उन दिनों वह जो पढ़ रहा था, उसका और उसके दृष्टान्तों का उसने भरपूर ोग किया—कौटुम्बिक प्रणाली के सुधार की बात करते हुए उसने कुटुम्ब की व्युत्पत्ति से म्भ करके उसके विकास का निरूपण किया—सिद्ध किया कि आरम्भ में उस विकास जीवन के अर्थशास्त्र में कोई सम्बन्ध नहीं था और कौटुम्बिक जीवन की प्रागैतिहासिक ियों की आर्थिक भित्ति खोजना मूर्खता है; किन्तु क्रमशः रूढ़ियों का विकास जादू-टोने परिधि से निकलकर आर्थिक नियमों से प्रभावित होने लगा, और फलतः आर्थिक विकास साथ-साथ उनका भी घोर परिवर्त्तन होता रहा। मनुस्मृति से उद्धरण देकर उसने प्रमाणित ा कि स्मृतिकाल का परिवार-चिन्तन तात्कालिक आर्थिक परिकल्पनाओं से बँधा हुआ —इसीलिए स्मृतियों की तर्क-परम्परा ही नहीं, उनके रूपक और दृष्टान्त भी एक विशेष स्था की कृषि-मूलक सभ्यता के द्योतक हैं। इसीलिए स्त्री के अधिकारों का नियमन करने बराबर गाय, घोड़ी, ऊँटनी, दासी, महिषी के दृष्टान्त देकर निर्धारणाएँ की गई हैं - पुरुष 'उत्पादक' मानकर इन सबको और स्त्री को उत्पादन के उपकरण माना गया है—और की भाँति ही इन सबकी सन्तान को उत्पादक की सम्पत्ति, इन सबके धन को स्वामी का । पितृत्व का निर्णय करने के लिए भी क्षेत्री और क्षेत्र और फल का रूपक व्यवहृत ा। किन्तु यह कहने में स्मृतियों की अवज्ञा नहीं है—जब तक समाज का नियमन सभ्यता तात्कालिक अवस्था के साथ विकसित होता रहा तब तक समाज ठीक रहा और उसके तर सड़ाँध नहीं उत्पन्न हुई। किन्तु (शेखर ने प्रतिपादन किया) आधुनिक युग में यह ंजस्य नष्ट हो गया—हमारे जीवन की परिस्थितियाँ अधिक तेज़ी से बदलने लगीं, पर ाज का विकास रुक गया। इसका एक कारण निस्सन्देह यह था कि विदेशी शासन-सत्ता एक नयी और कृत्रिम स्मृति खड़ी कर दी—समाज को व्यवस्था बनाए रखने के लिए ने जोड़-बटोरकर जहाँ-तहाँ के प्रचलनों का एक पुंज खड़ा किया और उसको प्रमाण न लिया—यह भूलकर कि प्रमाण भी सदा विकासशील रहे हैं और रहते हैं; और जिस स्थिति में ये प्रमाण इकट्ठे किए गए थे वह तो अपेक्षाकृत और भी अधिक स्थायी, अनि- त और द्रव थी! बहते पानी को एकाएक बाँधकर जमा लिया गया—उस जमी हुई बर्फ़ीली ड़ी के नीचे नया बीज फूटता और बढ़ता तो कैसे? किन्तु यह बाहरी कारण केवल एक रण था—दूसरा और हमारे लिए अधिक महत्त्व का कारण अवश्य यह था कि समाज के तर ही दुर्बलता और जड़ता थी—उस लचकीलेपन की कमी जो जीवन का अपरिहार्य

धर्म है...इन साधारण सैद्धान्तिक स्थापनाओं के बाद शेखर ने पारिवारिक जीवन के मुख्य-मुख्य अंगों का विवेचन करके आधुनिक सभ्य जीवन की परिस्थितियों के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक परिवर्तनों का उल्लेख किया था।

ज्यों-ज्यों सभा का दिन निकट आता गया, त्यों-त्यों शेखर की उत्तेजना बढ़ती गई—'हमारा समाज' की समाप्ति के बाद भी वह इतना उतावला नहीं हुआ था जितना इस मीटिंग के लिए हो गया...

एक पथरीले नील रंग की धूमिल साँझ—चौतल्ले के एक अकेले कोणाकार कमरे की खुली खिड़कियों में से ठण्डा और बोझीला और तेज़ाब की तरह चुभनेवाला, साँप की केंचुल-सी मरी और बदरंग चिकनाहट लिए शहर के पौष का धुआँ भीतर धँसा चला आ रहा है। नीचे और आस-पास फैले हुए अदृश्य शहर में से प्रेत-सा आकारहीन शोर धुएँ के कफ़न को भेदकर ऊपर उठ रहा है, पर उसकी नीरव चाप मानों कमरे के पथराए हुए सन्नाटे को बढ़ा रही है। शेखर धुएँ से अंधे पर जलन के कारण और भी निर्जल आँखों को बलात् खोले हुए खाट के एक कोने में दुबका बैठा है, और धूमिल भाव से अनुभव करता है कि यह बाहर का चित्र उसकी भीतरी अवस्था की अच्छी विडम्बना है...

शेखर को सुधार-सभा की बैठक से लौटे घण्टा-भर हुआ है। वह अपने को मना लेना चाहता है कि बैठक की बात को वह बिल्कुल भूल चुका है, पर जैसे पक्षघात उत्पन्न करनेवाले विष से पैदा होनेवाली जड़ता ही उसके प्रसार की चेतना उत्पन्न करे, वैसे ही शेखर की स्तब्धता उस मीटिंग के अनुभव की आवृत्ति का रूप ले रही थी...

सभा में सौ से ऊपर व्यक्ति देखकर शेखर ने विस्मय से सोचा था कि क्या सचमुच समाज-सुधार के इतने 'वर्कर' शहर में हैं? उसके मन में आशा का नया संचार हुआ था, और कार्यवाही के विषय में जो नया कौतूहल जागा था उसमें वह अपने वक्तव्य की अकुलाहट भूल गया था। किसी तरह सभा आरम्भ हुई—पहले वक्ता ने अपना विषय घोषित किया 'ब्राह्मण-समाज में विवाह की समस्याएँ'—शेखर एकाग्र होकर सुनने लगा, पर क्रमशः एकाग्रता कम होने लगी, और थोड़ी देर बाद उसका मन बिल्कुल उचट गया, वह वक्ता की ओर से मन सर्वथा हटाकर श्रोताओं में से एक-एक की मुद्रा का अध्ययन करने लगा। अनेक बहुत एकाग्र होकर सुन रहे थे—बल्कि उनकी तन्मयता यहाँ तक पहुँची थी कि वे हाथ या सिर हिलाकर, ओठ और भवों की भंगिमा बदल-बदलकर न केवल अनुमोदन कर रहे थे, बल्कि वक्ता के अमूर्त विचारों को मानों मूर्त क्रियाओं में अनुवादित भी करते जा रहे थे। शेखर सहसा अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर सका—क्योंकि वह किसी तरह भी अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पा रहा था, बल्कि वक्ता पर कुढ़ भी रहा था। धुँधला-सा ज्ञान उसे रहा कि वक्तृता ने प्रस्ताव का रूप ले लिया है—कि प्रस्ताव का आशय यह है कि ब्राह्मणों में वर इतने दुर्लभ हो रहे हैं कि कुमारियों के विवाह की भीषण समस्या उपस्थित हो गई है;

तः उनकी सहायता के लिए और उनके माता-पिताओं के निस्तार के लिए सुधार-सभा एक मिटी बना दे जो ब्राह्मण-कुमार-विवाह-प्रबन्धक-समिति कहलाए, और जिसका सबसे पहला म हो प्रान्त-भर के विवाह-योग्य ब्राह्मण-कुमारों की एक सर्वाङ्गपूर्ण सूची तय्यार करके काशित करना, जिससे कभी भी जरूरतमन्द पिता को अपनी कन्या के लिए उपयुक्त वर का ता मिल जाय और साथ ही अन्य ज्ञातव्य सूचनाएँ भी—आयु, आय, कुल, शील, पिता आय, पद, रंग-रूप, रुचि-व्यसन, कैसी कन्या पसन्द है, भविष्य के लिए प्लान, इत्यादि··· प्रकार की तालिका से कितनी सुविधा हो जायगी, कितनी दौड़-धूप, कितना कष्ट और य बच जायगा! प्रस्ताव पेश भी हो गया, मत लिए बिना सर्वसम्मति से पास भी हो ा···शेखर ने छुटकारे की एक लम्बी साँस ली और अगले वक्ता की प्रतीक्षा करने लगा, सका परिचय देने के लिए लाला अमोलक राय खड़े हुए थे। एकाएक चौंककर उसने जाना इतने सब प्रशंसात्मक विशेषणों के साथ जिसे बखाना जा रहा है वह शेखर ही है! तका मन और भी डूब गया; पर किसी तरह साहस बटोरकर (उस समय उसके लिए साहस टोरना मीटिंग के अनुभवों को छाप को बिखेरने का ही पर्याय था!) वह आगे आया और ले से तय्यार की हुई योजना के अनुसार अपनी बात कहने लगा। आरम्भ करते ही अगली ार में दो-एक व्यक्तियों की कानाफूसी और उसके बाद एक के द्वारा अमोलक राय से कहा ा वाक्य, 'लड़का तो अच्छा मालूम होता है, लालाजी, बधाई –' सुनकर उसे कुछ ढाढ़स हुआ और कुछ उलझन भी, पर जिस वीर भाव से नया साधक सब प्रलोभनों को दुत्कार- मन बाँधता है, कुछ उसी भाव से शेखर अपने प्रतिपाद्य से चिपटा रहा···

किन्तु तपोबल से अपनाया हुआ अन्यापन भी दूर होता ही है — उर्वशी और तिलोत्तमा देखकर नहीं, ऊब से फैले हुए जमुहाए मुख-विवरों को और तिरस्कार से कुंचित भवों देखकर! एक क्षण ऐसा आया कि शेखर समूची सभा की उपेक्षा की और अनदेखी कर सका—अपनी बात की गति दूनी तेज करके भी नहीं·· तब जैसे उसका मन एक ही दो-तीन स्तरों पर काम करने लगा, और उसकी स्मृति भी मानों पूर्वापर का ज्ञान ड़कर कई एक बातों या घटनाओं को साथ मिलाने लगी···सभा के बाद अँधेरे होते हुए रे में बैठा हुआ प्रत्यवलोकी शेखर किसी तरह भी इस उलझन के तार अलग न कर ा— क्या पहले हुआ, क्या बाद में, वह नहीं निश्चय कर पाया; एक साथ ही वह सुनने कि शेखर मनुस्मृति के उद्धरण दे रहा है, कोई कह रहा है (या कह रहे हैं?) ड़का राज़ी है, लड़की का बाप राज़ी है, तो बाबा, हमें क्या? शादी करो, छुट्टी करो, हमारी मिट्टी-पलीद करते हो? पण्डितजी आप तो आप, यहाँ तो मनु की मिट्टी-पलीद है! ायती पढ़ाई जो न करे सो थोड़ा! आखिर ईसाई लोग पढ़ाएँगे तो हिन्दू-धर्म का आदर ा कैसे—वे हिन्दू-धर्म का प्रचार करने थोड़े ही आए हैं? लालाजी ने यह नहीं सोचा ा! खत्री लड़की ब्राह्मण लड़के से शादी करेगी—ब्राह्मण लड़का मनु की नाक काटेगा! तो लालाजी की खूब थी, पर आखिर ब्राह्मण क्वाँरियों के भाग्य तगड़े हैं—' शेखर

मालिनोवस्की का प्रमाण देता है, अमोलक राय का नाम सुनता है ; याकि अमोलक राय का प्रमाण देता है और मालिनोवस्की की लड़की को बात सुनता है ; याकि दोनों याकि कोई नहीं—वह कुछ समझ नहीं पाता ; थोड़ा-सा जानता है कि उस सभा में कहीं वह खो गया है, पर असल में मंच पर खड़ा होकर बोल रहा है याकि मंच खो गया है और वह सभा में है, याकि सभा खो गई है और मंच—तब एकाएक जलता हुआ एक बाण शेखर की चेतना की ढाल को बेध जाता है और वह सब समझ जाता है—अमोलक राय की कन्या विवाह योग्य है, और वे खत्री हैं, पर ब्राह्मण जमाई पाकर प्रसन्न ही होंगे ; और समाज-सुधारक ससुर को समाज-सुधारक दामाद मिल जाय तो और क्या चाहिए—सम्बन्ध का सम्बन्ध, सुधार का सुधार !—और वह खड़ा है इस सब जाननेवाली भरी सभा के आगे घोषित करने को कि देखो, मैं शेखर उल्लू बनाया जा रहा हूँ और इसके लिए मनु प्रमाण है, मालिनोवस्की प्रमाण है···

धुआँ अच्छा है, तेज़ाब की चुभन अच्छी है, केंचुल की मरी बदरंग ठण्डी चिकनाहट अच्छी है, सबको घुस आने दो इस चौतल्ले को कब्र में—समाज-सुधारक शेखर !

उस खण्डित अवस्था में लौंदे-सा शेखर सब कुछ के लिए तय्यार था ; तय्यार नहीं था तो उसी बात के लिए जो हुई—किसी ने दरवाज़ा खटखटाया और बिना उत्तर की प्रतीक्षा के भीतर चला आया—हड़बड़ाकर उठते हुए शेखर ने देखा कि एक अपरिचित व्यक्ति के साथ सामने खड़े हैं—लाला अमोलक राय !

नैसर्गिक विनय ने कहा कि बत्ती जला ले, पर विनय शेखर को अपने साथ अन्याय लगा। उसने कहा, "कहिए ?"

लाला अमोलक राय ने कुछ आहत स्वर में उत्तर दिया, "आप तो बहुत नाराज़ जान पड़ते हैं ?"

"मेरी क्या नाराज़ी—"

"आप थक गये मालूम होते हैं—लाइए मैं बत्ती-वत्ती जला दूँ—"

शेखर ने जल्दी से बत्ती जलाकर एक ओर रख दी और बोला, "बैठिए।"

लाला बोले, "ये स्वामी हरिहरानन्द हैं। हम लोग आपसे मीटिंग के बारे में बात करने आए हैं—"

शेखर ने देखा कि नवागन्तुक गेरुआधारी हैं, और मुँड़ी हुई चिकनी खोपड़ी के कारण उनके तैलाक्त बाल फूले हुए मालूम होते हैं। अधूरा-सा प्रणाम करते हुए उसने पूछा, "मीटिंग की क्या बात ? मीटिंग तो हो चुकी - "

स्वामीजी बोले, "कर्म अपने-आपमें पूरा नहीं होता, उसका फल भी होता है। मीटिंग से जो सिलसिला चला था वह···" इसके बाद वे ऐसे रुक गए जैसे ज्ञान के इस चारे को पगुराना आवश्यक हो।

लाला ने कहा, "आपकी स्पीच से तो मीटिंग में तहलका मच गया। मैं तो आपको
ी आशा से ले गया था—"

शेखर ने भभककर कहा, "आशा? मुझे आपने अच्छा बेवकूफ़ बनाया। यही बात
तो—"

"क्या बात—कैसी बात—मैं तो बिल्कुल शुभेच्छा से आपको ले गया था, लोग तो
ते हैं—"

स्वामीजी ने समर्थन किया, "हाँ, बेटा, लोगों की तो आदत होती है, ईर्ष्या से
ते हैं।"

शेखर ने रुखाई से कहा, "अच्छा जाने दीजिए। अब तो खत्म हुई बात—"

"मीटिंग की बात छोड़िए, अब आपसे हमारा परिचय हो गया है तो उसे पुष्ट
ना चाहिए—"

"यह आपकी कृपा है। मैं तो जंगली आदमी हूँ, अकेला रहने का आदि हूँ—मुझसे
चय से क्या लाभ—"

"समाज में रहना तो हर आदमी का कर्त्तव्य है; बल्कि समाज के बिना कोई जी ही
सकता है—"

"मुझे तो समाज के बीच में जीना ही कठिन मालूम होता है—उतना ही कठिन
ना डिब्बे के 'वैकुअम' में। अकेले रहना तो बहुत आसान है—रहे, सो रहते
गए!"

"माना कि आप असाधारण व्यक्ति हैं। पर असाधारण आदमी भी—"

स्वामीजी ने बात काटकर कहा, "क्यों असाधारण? हर बात में असाधारण की दुहाई
से नहीं चलता। मैं कहता हूँ, सब आदमी साधारण हैं, और होने चाहिए।"

शेखर ने कहा, "मैंने तो असाधारण होने का कभी दावा नहीं किया; मैं साधारण हूँ
साधारण ही बना रहना चाहता हूँ—आप ही मुझ पर असाधारणता का जामा लादकर
जान मुसीबत में डाल रहे हैं—"

स्वामीजी ने दुहराया, "सब कोई साधारण हैं। और कोई खास बात किसी में हो भी तो
उसके सहारे जिया नहीं जा सकता? आपकी नाक लम्बी है तो क्या आप पाखाने नहीं
? नाक कट भी जाय तो भी आदमी जी सकता है; पाखाने जाये बिना नहीं जी सकता।
लिए सब कोई साधारण हैं।"

शेखर को इस आदमी से, उसके तर्क से, और उसके बात को दुहराने के ढंग से विराग
। उसने बहस से बचने के लिए कहा, "आप ठीक कहते हैं।"

"इसलिए कहता हूँ, समाज ज़रूरी है। आप समाज में जाइए, नाक फिर भी लम्बी
ी। (शेखर ने चाहा, स्वामीजी से कहे कि वे अपना वाक्य सुधारकर कहें कि 'आप
ने जाइए, नाक फिर भी लम्बी रहेगी,' पर चुप रहा)—क्यों, आप सहमत नहीं हैं?"

शेखर कुछ बोला नहीं, वह चाहता था कि बात किसी तरह खत्म हो और ये लोग जायँ।

"आप उत्तर नहीं देते। मन में सोचते होंगे कि इनको बकने दो। नौजवानी का अहंकार सबमें होता है। मुझमें भी था - उसका नतीजा यह देख लीजिए—"

शेखर ने अबकी बार कुछ दिलचस्पी से हरिहरानन्द की ओर देखा।

"मैं संन्यासी हूँ, गेरुआ पहने हूँ। आप संन्यास का अर्थ जानते हैं। पर मैं संन्यासी इसलिए नहीं हूँ कि मैंने सब छोड़ा है, इसलिए हूँ कि सब कुछ मुझसे छिन गया। और सब अहंकार के कारण। अहंकार ही थाती था; फिर वह भी टूट गया। मैं प्रचार करता फिरता हूँ, पर यह गेरुआ झण्डा नहीं है, कफ़नी है। मिट्टी के रंग की—जो मिट्टी सब कुछ ढक देती है। सब कोई साधारण होते हैं—"

स्वामीजी की इस स्वीकारोक्ति की स्पष्टता शेखर को छू गई। उसने कुछ नर्म पड़कर कहा, "मैं अहंकार के कारण चुप नहीं था, चुप इसलिए था कि कुछ कहना नहीं है, मैं अपनी अकिंचनता जानता हूँ। पर अकिंचन हूँ, इसलिए अपने पैर कुल्हाड़ी मारूँ, यह तर्क मेरी समझ में नहीं आता।"

"लालाजी आपके शुभचिन्तक हैं। वे जो कहते हैं, ठीक कहते हैं। प्रतिभा का हौवा नहीं बनाना चाहिए; सब कोई साधारण होते हैं और इसलिए विवाह ठीक बात है।"

"मैं कब कहता हूँ कि ठीक नहीं है? पर मुझे अभी नहीं करना है, और किसी के कहने से नहीं करना है। चाहता ही नहीं, चाहता भी तो योग्य नहीं हूँ।"

"क्यों?" लाला ने कुछ आशा से पूछा।

"पचास बातें हैं। पर छोड़िए उन्हें—"

"आखिर कुछ तो बताइए—"

"नहीं, रहने दीजिए। अभी विवाह की बात सोचना आफ़त मोल लेना है।"

एकाएक हरिहरानन्द ने उत्तेजित स्वर में कहा, "ठीक है, आफ़त मोल लेना है। तो है हिम्मत—बढ़ो आगे और लो आफ़त सिर पर—"

शेखर ने एक बार फिर ध्यान से हरिहरानन्द की ओर देखा, फिर बोला, "क्षमा कीजिए, मैं थका हूँ। यह बहस तो समाप्त होगी नहीं, मैं अपने मन की बात आपसे कह चुका हूँ।"

आखिर लालाजी का आसन हिलता देखकर उसने तसल्ली की साँस ली...

*　　　　*　　　　*
* *　　　* *　　　* *

शशि से दुबारा मिलने पर शेखर ने मीटिंग की सारी कहानी उसे सुना दी, और मीटिंग के बाद अमोलक राय और हरिहरानन्द से हुई बातचीत भी। शशि पहले चुप-चाप सुनती रही, फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर कुछ गम्भीर होकर उसने पूछा, "बहुत दुःखी हुए थे क्या?"

शेखर ने झिझकते हुए कहा, "उस समय तो काफ़ी क्षोभ हुआ था। अब सोचता हूँ तुम्हारी तरह मैं भी क्यों न हँस सका—"

शशि फिर हँसने लगी।

थोड़ी देर बाद शशि ने पूछा, "वे लोग फिर आएँगे ?"

"अन्देशा तो है। पर मैंने उनकी बात मन से बिल्कुल निकाल दी है।"

"बिल्कुल ? अच्छा, एक बात पूछूँ, शेखर ? उन दोनों की किसी बात में तुम्हें कोई मिला ?"

"सार ? किसी में नहीं—किस बात में—?"

"कि 'बढ़ो आगे और लो आफ़त सिर पर'—"

शेखर एक क्षण शशि को ओर स्थिर भाव से देखता रहा। फिर बोला, "हाँ, कुछ था तो मेरे-जैसे लोगों के मन के अनुकूल, पर—" एकाएक कुछ चौंककर—"शशि, हारा अभिप्राय क्या है ?"

शशि चुप रही। शेखर ही फिर बोला, "तुम्हें भी इस ब्राह्मण-कुमार के भविष्य की न्ता है क्या ?"

"हाँ, कुछ है तो। सचमुच, तुम शादी क्यों नहीं कर लेते—"

"शशि !"

थोड़ी देर सन्नाटा रहा। फिर शशि कहने लगी, "पिताजी मुझसे कहते थे, तुम्हें झाऊँ। समझाने की तो बात क्या है, पर तुमने जिस तरह अपने को संसार से अलग च लिया है, इस तरह आदमी बहुत देर तक काम का रहेगा, इसमें मुझे सन्देह होता इससे यथार्थ पर तुम्हारी पकड़ छूट जायगी—"

"यथार्थ पर मेरी—या मुझ पर यथार्थ की ?"

"एक ही बात नहीं है क्या ? यों कहो कि यथार्थ का और तुम्हारा सम्बन्ध-सूत्र जायगा—"

शेखर ने जैसे एकाएक बहुत-सा साहस बटोरकर कहा, "देखो, शशि, हम लोगों ने ढंग की बात कभी की नहीं, पर तुम सच-सच बताओ, तुम्हीं ने शादी में क्या पा लिया " फिर शशि के मुँह पर वेदना की हल्की-सी रेखा देखकर—"मैं तुम्हें कष्ट नहीं देना ता, पर—"

शशि ने सुस्थ होकर कहा, "नहीं, मैं समझती हूँ। पर मेरी बात उदाहरण नहीं बन ती—मेरे ब्याह की तो बुनियाद ही और है। मैंने ब्याह किया नहीं था, मेरा तो ब्याह था। ब्याह करके कुछ पाने का प्रश्न मेरे आगे नहीं था ; पाना तो—" वाक्य अधूरा रह गया।

थोड़ी देर बाद शेखर ने कहा, "पर फिर मेरे लिए परिस्थिति भिन्न कैसे हुई—मेरे भी तो···या क्लेश पाना ही अगर पाना हो तब तो··"

"नहीं, वह मैं नहीं कहती । तुम्हें एक साथी खोजना चाहिए जो बराबर साथ चल सके, साथ क्लेश भोग सके और साथ सुख पा सके—क्लेश या सुख बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात साथ की है—साझा करने और सहने की क्षमता की !"

"शादी करने से यह सब मिल ही जायगा, इसका क्या प्रमाण है ? और विशेषकर ब्राह्मण-कुमार बनकर—"

"प्रमाण नहीं है, यह मैं जानती हूँ । और मैं नहीं कहती कि वैसे ढंग से शादी करो । मैं इतना ही कहती हूँ कि अगर ठीक साथी तुम्हें मिल सके तो—"

शेखर ने संक्षेप से कहा, "तो छोड़ो इस बात को—अगर वैसा कोई मिलेगा तो देखी जायगी । यह स्पष्ट है कि ढूँढ़ने से वह नहीं मिलेगा—मिलेगी; राह चलते ही मिल जायगी तो मिल जायगी, तब आँचल पसार लूँगा, बस ?"

एकाएक उसने देखा कि शशि का ध्यान उसकी बात की ओर होकर भी नहीं है, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें किसी बड़ी दूर के पथ पर कोई दृश्य देखती हुई और भी बड़ी हो गई हैं, मानों उस दूर दृश्य के अर्थ का अभिनन्दन करने को उसकी आत्मा द्वार खोले बैठी है··· शेखर ने भी कुछ खोए-से, पर साथ ही कुछ कौतुक-भरे स्वर में कहा, "और जब राह चलते मोती मुझे मिलेगा, तब मैं कोई प्रश्न नहीं पूछूँगा, संशय नहीं करूँगा, शर्तें नहीं बाँधूँगा। जो देवता देते हैं···"

शशि बिल्कुल नहीं सुन रही थी । शेखर ने जान-बूझकर उसे चौंकाने के लिए कहा, "जो देवता देते हैं, उसके लिए शास्त्रों की भी साक्षी क्यों माँगी जाय ?"

शशि ने सहसा जागकर कहा, "क्या ?"

उनकी आँखें मिलीं और जैसे जकड़ी गईं । शेखर ने बलात् कल्पना कहकर उसे निकाल देना चाहा, पर फिर भी वह देखता रहा कि उन खुले कपाटों के पीछे आलोक है, उस आलोक के भीतर गहरी वेदना है, उस वेदना के भीतर और गहरा आहत आलोक—

और इस इतने अपलक काल तक उसके भीतर किसी गुम्फ में प्रतिध्वनि गूँजती रही, 'साक्षी क्यों माँगी जाय···साक्षी क्यों माँगी जाय···'

*　　*　　*

एक विचित्र शान्ति उसके मन पर छा गई और वह लगन से पढ़ने और लिखने लगा । सुधार-सभावाले लेख का परिष्कार ; दो नये निबन्ध, दो कहानियाँ - इतना सब काम समाप्त करके जब उसने साँस ली, तब सभावाली घटना को लगभग दो सप्ताह हो गए थे ; और शशि को आए भी दस दिन—इन दस दिनों में शेखर ने होटलवाले लड़के के सिवा किसी को नहीं देखा था ; केवल एक दिन नीचे तीन तल्लेवालों के दो बच्चे न जाने किस बाल-सुलभ विश्वास के साथ उसके पास चले आये थे और पूछ गए थे, "आपको पतंग बनानी आती है ?" शेखर के स्वीकार करने पर वे कह गए थे, "अच्छा, हमको पैसे

लेंगे तो हम कागज़ ले आएँगे—हमें पतंग बना दीजिएगा, ज़रूर !" शेखर ने हँसकर वचन दिया था, और साथ ही यह भी पता लगा लिया था कि किसको कितने पैसे मिलेंगे; कितने र और चरखी में खर्च हो जायँगे और कितने मंझा तय्यार करने में—फलतः अगर काग़ज़ कर स्वयं पतंग न बनाई जायगी तो केवल एक पतंग आ सकेगी और वसन्त-पंचमी के न एक-एक पतंग से क्या होगा ?

वसन्त-पंचमी···क्यों न शेखर स्वयं उन बच्चों के लिए सब सामान ला दे और उनके से और परिश्रम बचा दे ? वसन्त-पंचमी···पर पैसे कहाँ हैं ? और होटल का बिल और भाड़ा···

शेखर ने निश्चय किया कि जो कुछ लिखा है, सब पत्रिकाओं को भेज देगा और सबसे रिश्रमिक माँगेगा—कोई तो कुछ देगा ही···पर सब रचनाएँ लौट आईं। सबके साथ शंसात्मक पत्र थे ; शेखर यह विरोधाभास पहले समझ नहीं सका, पर अन्त में एक सम्पा-कीय पत्र के अस्पष्ट संकेत से जान गया कि जो मुफ्त अच्छा है वह पारिश्रमिक का भी धिकारी हो है, ऐसा नहीं है···उसने दुबारा उद्योग करने की ठानी, पर डाक-महसूल का जुआ खेलने की उसकी सामर्थ्य नहीं थी ; एक बार उसने सोचा कि पुराने ही लिफाफे पता काटकर फिर भेज दे, पर नये पत्र के सामने पहले से ही यह स्वीकार कर लेना कि वना और कहीं से लौटकर आई है, कुछ बुद्धिमानी नहीं जँचा···अन्त में उसने रचनाएँ यं लेकर स्थानीय सम्पादकों के द्वार खटखटाने की ठानी।

"हमारा समाज" वाले ही चक्कर की आवृत्ति फिर हुई, अबकी बार कुछ और करुण रूप , और कुछ अधिक निष्परिणाम···केवल एक साप्ताहिक के सम्पादक ने उससे वसन्त-पंचमी विषय पर कहानी या कविता माँगी, क्योंकि पत्र का विशेषांक निकलनेवाला था। शेखर ने रना पुराना निश्चय याद किया कि फरमाइशी साहित्य वह कभी नहीं रचेगा ; पर फिर सोचा जो फ़रमाइशी है उसे साहित्य कहने की कोई बाध्यता नहीं है और जो साहित्य है उसे ाजू-बाट से ऊपर रखने के लिए आवश्यक भी है कि रोटी कमाने का साधन दूसरा हो··· सने कहानी लिखना स्वीकार कर लिया और पारिश्रमिक के बारे में इतना आश्वासन पर्याप्त मझा कि 'रचना पर विचार किया जायगा, जो कुछ पत्रं पुष्पम्—'

किन्तु वैसी रचना आसान नहीं थी। घण्टों अपने साथ युद्ध करके भी शेखर वसन्त-चमी पर कहानी नहीं लिख सका ; और बार-बार उसका परास्त और कुंठित मन तीन-लेवाले बच्चों और उनकी पतंग की माँग की ओर जाने लगा···वसन्तोत्सव···वह कल्पना देखता, वह पतंग और डोर और चरखी और मंझा सब ले आया है, और बच्चे किल-रियाँ मारते हुए छत पर कूद रहे हैं ; और शेखर उन्हें सिखा रहा है कि पतंग कैसे ाएँ—वह जानता हो, यह नहीं है, पर उन बच्चों के सामने वह 'जानकार' जो है··· र फिर उसकी कल्पना की पतंग कट जाती, और यथार्थ की सूनी चरखी घुमाता हुआ वह चता कि वसन्त-पंचमी कहानी और होटल का बिल···एकाएक उसे ध्यान आया, क्यों न

यही बात वह कहानी के रूप में लिख दे ? यह विचार उसे ओछा लगा, कुछ उन बच्चों के साथ विश्वासघात भी लगा, पर हिन्दी में नित्यप्रति ऐसी चीज़ें छपती हैं, और अगर वह उसे साहित्य मान लेने की भूल नहीं करता तो क्या हर्ज है ? फरमाइशी काम है, अनासक्त भाव से श्रमिक की तरह वह पसीने की रोटी कमाता है तो क्या बुरा है···इस तर्क से उसकी तसल्ली नहीं हुई, फिर भी उसने कहानी लिख डाली—नाम रख दिया 'पतंग-पंचमी'।

सम्पादक ने एक बार शीर्षक और एक बार शेखर का चेहरा देखकर कहा, "आप बड़े उत्साही युवक हैं—"

शेखर ने संक्षेप से कहा, "जी।"

सम्पादक ने रचना एक ओर रख दी, फिर शेखर की ओर यों देखा मानों उपयोगिता समाप्त हो जाने के बाद किसी वस्तु का जहाँ-तहाँ पड़े रहना उनकी व्यवस्था-बुद्धि को पसन्द नहीं है।

शेखर ने जान-बूझकर रूखे स्वर में कहा, "और मेरा पारिश्रमिक ?"

सम्पादक ने अत्यन्त विस्मय जताते हुए कहा, "पारिश्रमिक ? ओ—हाँ। पर पारिश्रमिक तो हमारे यहाँ त्रैमासिक हिसाब के समय दिया जाता है—और अभी तो निर्णय--"

शेखर ने क्रोध दबाते हुए कहा, "निर्णय अभी कर लीजिए न ?"

सम्पादक ने शान्त और चिकने स्वर में कहा, "साहित्य तो बड़ी साधना चाहता है--"

एकाएक शेखर को लगा कि शिष्टाचार व्यर्थ है यानी फलप्रद नहीं है ; और जो श्रमिक है उसके लिए फल अनिवार्य है। बोला, "चाहता होगा जो साहित्य होगा। पर आप ऐसी चीज़ को साहित्य समझने की भूल करते भी हों तो मैं नहीं करता। जब साहित्य लिखूँगा तब साधना भी कर लूँगा, अभी तो अपना आप बेचता हूँ, नकद दाम चाहता हूँ।"

सम्पादक ने ध्यान से और नये विस्मय से शेखर को सिर से पैर तक देखा, फिर कहा, "देखिए, नियम तो मैंने आपको बता दिया, पर आपने मेरे अनुरोध से ही यह कहानी लिखी थी, इसलिए इसके प्रकाशित होते ही पारिश्रमिक की व्यवस्था करूँगा।" फिर खीसें काढ़कर "पर आप जानते हैं, हमारी परिस्थिति···केवल पत्रं पुष्पम्—"

शेखर ने अनमने-से स्वर से कहा, "धन्यवाद!" और लौट चला···

एक और चक्कर में जब वह युगान्तर साहित्य मन्दिरकी ओर जा निकला तो उसने सोचा, "हमारा समाज" का भी हाल पूछता चलूँ। संचालक महोदय स्वयं उपस्थित थे, शेखर को देखकर बोले, "आप अच्छे आए—मैं तो सोच रहा था कि किसी को आपके यहाँ भेजूँ—"

"क्यों, कुछ विशेष बात है—"

"नहीं, योंही"—अर्ध-निमीलित नेत्रों से वे कुछ देर शेखर को देखते रहे, फिर बोले, "बात यह है कि—असल में—मैंने वह पुस्तक दो-एक विशेषज्ञों को दिखाई है, उनकी राय है कि—उसमें कुछ संशोधन आवश्यक है—"

शेखर ने विनीत भाव से कहा,—"हो सकता है। मैं केवल अध्येता हूँ, विशेषज्ञ नहीं
क्या-क्या संशोधन उन्होंने सुझाए—"

"देखिए, यह तो मैं ज़बानी नहीं बता सकता, पर यह समझ लीजिए कि परिणामवाले
च्छेद उनकी राय में ठीक नहीं हैं और बदले जाने चाहिए—"

"यह तो आमूल परिवर्त्तन हो गया। इतना बड़ा परिवर्त्तन तो लेखक—"

"मेरा तो विचार है कि आप सब परिवर्त्तन करके उनकी अनुमति से उनका नाम भी दे
ो अच्छा हो; उनके सम्पादकत्व में किताब छपेगी तो बिक्री भी निश्चित है और—"

"वे सज्जन हैं कौन?"

प्रश्न का उत्तर न देते हुए संचालक फिर बोले, "अन्तिम परिच्छेद बदलने में समय नहीं
गा—"

"किन्तु तथ्यों से जो परिणाम निकलते हैं, उन्हें बदला कैसे जाय? परिणाम तो—"

"परिणाम तो अपना-अपना मत है। एक ही तथ्य से पाँच परिणाम निकल सकते हैं,
दृष्टिकोण की बात है। और जब परिणाम बदल जायँगे तो तथ्य—"

शेखर ने आग्रह से कहा, "तथ्य से परिणाम निकलते हैं कि परिणाम से तथ्य? जो
हैं उनकी अनदेखी तो नहीं हो सकती—"

"तथ्य आखिर क्या है? जो कुछ है सब तथ्य है। जो नहीं है, वह भी तथ्य है—
का न होना तथ्य है। आदमी अपनी रुचि के अनुसार तथ्य चुनता है; फिर उन तथ्यों
परिणाम निकालता है, अतः परिणाम भी रुचि द्वारा नियमित हुए न?"

"अच्छा, ऐसे ही सही। तब फिर मैंने अपनी रुचि के तथ्य और परिणाम पुस्तक में
दिए, संशोधन का प्रश्न ही कहाँ रहा? पर मैं तो यही कहता हूँ कि तथ्य तथ्य है, और
समझ में जो परिणाम मैंने निकाले हैं वे अनिवार्य हैं।"

संचालक ने कुछ दृढ़ता के साथ कहा, "यह तो आपका हठ है। रुचि अपनी होती है,
रुचि का परिष्कार भी तो हो सकता है। और समाज की आलोचना बड़े दायित्व का
मला है—हम तो विशेषज्ञों की राय अवश्य लेते हैं। आपके लिए तो बड़ा अच्छा अवसर
—पुस्तक के साथ योग्य सम्पादक का नाम होगा तो बिक्री भी होगी और भविष्य के लिए
खुल जायगा—आपको तो कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने इतने परिश्रम से परिवर्त्तन
दिया है—"

शेखर ने चौंककर कहा, "कर दिया है? पर आपको पहले मुझसे पूछना तो चाहिए था?
खिर वे विशेषज्ञ हैं कौन?"

"बड़े अनुभवी विद्वान हैं और समाज-सेवा तो उनके जीवन का व्रत है—"

"आखिर नाम तो बताइए—"

"लाला अमोलक राय—"

शेखर ने रुक-रुककर प्रत्येक शब्द पर ज़ोर देते हुए कहा, "मेरी पुस्तक ज्यों की त्यों छपेगी—अपने तर्क और मत के लिए मैं उत्तरदायी हूँ।"

"पर हम तो विद्वानों की राय के विरुद्ध—आप जानते हैं, प्रकाशक के उत्तरदायित्व का मामला है—हम तो आपके हित—"

शेखर ने पूछा, "क्या आप यह कहना चाहते हैं कि बिना परिवर्तन के आप पुस्तक नहीं छापेंगे?"

"देखिए—हमारी असमर्थता—यह आवेश में आने का मामला नहीं है—"

"तो आप मेरी हस्तलिपि लौटा दीजिए—"

"आप सोचकर देखिए—"

शेखर ने दृढ़ता से कहा, "मेरी हस्तलिपि आप तुरत लौटा दीजिए—"

"आप तो मानते नहीं। मुझे बड़ा खेद हो रहा है—"

शेखर ने फिर कहा, "हस्तलिपि मुझे देने की कृपा कीजिए तो मैं जाऊँ—"

संचालक ने आवाज़ दी, "चपरासी!" एक सुस्त-सी मूर्ति सामने आकर खड़ी हो गई।

"जाना, लाला अमोलक राय के यहाँ से कागज़ ले आना—उन्हें कहना कि 'हमारा समाज' के कागज़ दे दें—नाम याद रहेगा न 'हमारा समाज'?"

"जी। 'हमारा समाज'।"

"हाँ।"

शेखर ने पूछा, "कितनी देर लगेगी?"

"घण्टे-डेढ़ घण्टे में आ जायगा—"

शेखर वहाँ ठहरना नहीं चाहता था। बोला, "अच्छा, मैं दो घण्टे बाद आऊँगा—" और उठकर चल दिया।

ऐसा आन्दोलित मन लेकर वह घर नहीं लौटना चाहता था, और बाहर उसे कोई और काम था नहीं; शेखर निरुद्देश्य सड़कों और गलियों में चक्कर काटने लगा। केवल एक बार एक दुकान के बाहर कई एक चरखियाँ टँगी हुई देखकर वह थोड़ी देर रुक गया और चरखियों को तथा दुकान के भीतर के अन्धकार में धुँधली-सी दीखती हुई दो-एक हंडियों और कोने में पतंगों के ढेर को आकृति का अध्ययन करता रहा; फिर आगे चल पड़ा। और एक जगह फलों की एक और दुकान देखकर उसे याद आया, जेल में उसने खाद्यतत्त्व पर एक पुस्तक पढ़ी थी और सोचा था कि वह फलाहारी हो जायगा। कुछ आगे बढ़कर उसने दुकानदार से कन्धारी अनारों का भाव पूछा, सुना कि सवा रुपए सेर है और एक अनार लगभग चौदह आने का होगा; उसके बाद वह और कहीं नहीं ठहरा; साढ़े चार बजे के लगभग वह फिर 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' पहुँचा; और वहाँ से अपनी हस्तलिपि लेकर, बिना

शब्द बोले संचालक को संक्षिप्त नमस्कार करके घर चल पड़ा··· दिन बहुत छोटे हो थे, कुछ बदली-सी भी थी, और साढ़े चार बजे ही ऐसा लगने लगा था कि दिन ढल है···

घर पहुँचकर शेखर ने हस्तलिपि नीचे पटक दी और चारपाई पर लेट गया। फिर एका- उठा और हस्तलिपि उठाकर पन्ने उलटने लगा···उत्तरांश के कई पन्ने निकाल दिए गए और उसकी जगह नये पन्ने थे, किसी और हाथ के लिखे हुए—अक्षरों से स्पष्ट था कि कच्चा है, और शायद लड़की का है···शेखर ने झटककर उन पन्नों को अलग किया र दो टुकड़े करके फेंक दिया। फिर उसने देखा, कई पन्नों पर उसके लिखे हुए अंश काट ए गए हैं और हाशिये में नया कुछ लिखा हुआ है। इन पन्नों को भी उसने झटककर लग किया—पुस्तक की मूल असंशोधित लिपि तो उसके पास थी ही!—और उसी तरह टुकड़े करके एक ओर डाल दिया। फिर शेषांश को दो-एक बार उलट-पलटकर देखा, र एक खिन्न 'हुंः' के साथ उसे भी नीचे डाल दिया और पैर से पन्ना-पन्ना इधर-उधर बेर दिया।

एक बार उसने चारों ओर देखा, फिर चारपाई पर औंधे लेटकर तकिये में मुँह पा लिया।

तकिये के भीतर रुई का गुदगुदा अन्धकार—स्वागत, अन्धकार! तुम सूक्ष्म और मूर्त नहीं हो, तुम्हारा आकार है, भार है, घनत्व है, तो और भी स्वागत!···शेखर को ा, किसी तरह उसी अन्धकार में वह भी पिघलकर मिल जाय— तो— तो···

एक अन्धी-सी धुन्ध में वह उठा और धीरे-धीरे नीचे उतरकर फिर सड़क पर आ ा। क्रमशः ठिठुरते और संकुचित होते हुए दिन का फीकापन उसके भीतर जम गया, पर के बिना भी शेखर के अन्दर पर्याप्त अन्धकार था···अन्धकार और एकान्त—निर्लिप्त य—विविक्त, अनासक्त, अन्धकार···किसी चीज़ में कोई अर्थ नहीं है; सब कुछ एक रिणाम है जिसका आधारभूत तथ्य खो गया है···कारण से कार्य है, पर उद्देश्य न कारण है, न कार्य का, अनुद्देश्य ही सत्य है··· अनुद्देश्य, भ्रान्ति, भटकन···

वह क्या कर रहा है—कहाँ जा रहा है—पर कर रहा है और जा रहा है तो क्या ा? आगे और धुन्ध अभी बाकी है, और जमता हुआ अँधेरा आँखों में चुभता है तो खों से देखने से मतलब क्या है··· जंगल में जब लोग खो जाते हैं तो अपने आप के पैर चक्कर काटने लगते हैं, चक्कर काटते ही वे मर जाते हैं। उसे कहीं जाना नहीं चक्कर भी काटना नहीं है। बर्फ से अन्धे हुए हुए पहाड़ी बकरे की तरह वह सिर झुकाए खड़ाता चला जा रहा है, चला जा रहा है। वह जानने लगा कि उसकी इस उद्देश्यहीनता छिपा हुआ उद्देश्य है; कि वह उद्देश्य पुनः उद्देश्यहीनता है, बुझ जाने की माँग है···

पीछे मोटर का हार्न बजता है, वह अनसुनी करता है, मोटर पास से निकल जाती है। न फिर बजता है, शेखर फिर अपेक्षा करता है, वैसा ही बीच सड़क चलता जाता है

हार्न फिर बजता है, जोर से बजता है, धृष्टता से बजता है, ललकार से बजता है, धमकी से बजता है—

अनुद्देश्य, अनुद्देश्य; वह चला जा रहा है बीच सड़क—

एकाएक दो हाथों ने उसकी बाँह पकड़कर ज़ोर से उसे खींच लिया ; ब्रेकों की चीख को डुबाती हुई एक चीख निकली, "बाबूजी !" शेखर ने आँख उठाई—एक स्त्री थी। जवान नहीं थी, सुन्दर नहीं थी। मोटर शेखर को छूकर सर्राती हुई निकल गई ; ब्रेक दबने से जो लड़खड़ाहट उसमें आई थी वह सध गई और पालिश की झकझक की कौंध में खो गई।

शेखर ने अत्यन्त चिड़चिड़े स्वर में कहा, "क्यों, तुम्हें क्या ?"

किसी को क्या—वह मरे, जिये, मोटर के नीचे आए, नदी में डूबे, आग में पड़े, किसी को क्यों कुछ मतलब ?

स्त्री ने आहत विस्मय में कहा, "बाबूजी, मैंने तो—" और चुप रह गई।

शेखर की आँखें उसकी आँखों से मिलीं। नहीं, वह जवान नहीं थी। वह सुन्दर नहीं थी। पर उसकी आँखों में वह आग्रह, वह वत्सल डर···

शेखर ने अनुभूतिहीन स्वर में कहा, "बहिन, मुझे माफ़ करो—" और जल्दी से मुड़कर घर की ओर चल पड़ा। किन्तु उसके पैरों की चाप आगे अब भी अर्थहीन ललकार से दुहराती जाती थी, "किसी को क्या, किसी को क्या"···

सीढ़ियाँ चढ़कर कमरे की देहरी पर पैर रखते-रखते शेखर एकाएक ठिठक गया। कमरा ज्यों का त्यों था, पर बत्ती जल रही थी और चारपाई के कोने में सिमटकर बैठी हुई शशि एकटक उसकी ओर देख रही थी।

*　　　*　　　*
* *　　　* *　　　* *

जाने कितनी देर तक कोई नहीं बोला, न हिला। फिर शशि ने कहा, "कहाँ थे, शेखर ? मैं कबसे बैठी राह देख रही हूँ—और यह सब क्या है ?" और फिर एकाएक लपककर शेखर के पास आकर उसके दोनों कन्धे पकड़कर घबड़ाए हुए स्वर में, "शेखर ! शेखर ! क्या हुआ—"

शेखर ने शशि की दोनों कलाइयाँ पकड़ लीं और मृदुल दबाव से उसे पीछे धकेलता हुआ चारपाई तक ले गया ; उसी मृदुल दबाव से उसने शशि को चारपाई पर बिठा दिया। फिर धीरे से अपने कन्धे छुड़ाकर बिखरे हुए काग़ज़ों को रौंदता हुआ कमरे के पार जाकर स्वयं खड़ा हो गया, और क्षण-भर बाद काग़ज़ों के बीच में भूमि पर बैठ गया।

"कुछ नहीं, शशि; होना क्या था—"

शशि फिर उठकर शेखर के पास आ खड़ी हुई।

"बताओ शेखर ! यह सब क्या करने गए थे ? और—और क्या करके आए हो ?"

शेखर चुप रहा। सामने खड़ी शशि के पैरों पर उसकी दृष्टि गड़ी रही।

"कहो, शेखर? तुम नहीं जानते कि अभी राह देखते-देखते मैं—"

वाक्य अधूरा छोड़कर शशि चुप हो गई। न जाने कितनी देर तक दोनों चुप और चल रहे; फिर काग़ज़ों में कहीं एक 'टप्' सुनकर शेखर चौंककर उठ खड़ा हुआ, किन्तु ा की पीठ लैम्प की ओर थी, उसका मुख अँधेरे में था···शेखर ने एकाग्र दृष्टि से उसकी देखते हुए कन्धे से पकड़कर शशि को घुमाना चाहा, पर उसके स्पर्श करते ही शशि शरीर कठोर पड़ गया और वह हिली नहीं···शेखर ने एकाएक उसका कन्धा छोड़ दिया; पाई के पास जाकर धप् से बैठा और फिर लेट गया; उसके बुझते हुए मन ने जाना कि कुछ गति नहीं है—उसकी आँखें अपलक छत को देखने लगीं—अनुद्देश्य, अनुद्देश्य, अनुद्देश्य—

शशि अपने आप आकर उसके सिरहाने खड़ी हो गई। एक अनिश्चित स्वर में उसने ारा, "शेखर?" और उसके ऊपर को तनिक-सा झुकी—टप् से एक बूँद शेखर के माथे गिरी—

एकाएक शेखर ने हाथ बढ़ाकर उसे धीरे-धीरे नीचे झुका लिया, उसकी छाती में मुँह ाकर फूटकर रो पड़ा···उसका पिंजर बेतरह हिलने लगा, उसकी मुट्ठियाँ शशि के कन्धों जकड़ गईं। शशि एक शब्द भी बोले बिना वैसे ही उस पर झुकी रही··· जैसे पहाड़ी े के ऊपर छायादार सप्तपर्ण का वृक्ष···

सप्तपर्ण की छाँह में से समीर काँपता हुआ जाता है, एक प्रच्छन्न शिथिलता अंगों में भर ती है, छाँह के अमूर्त स्पर्श तले सब कुछ क्रमशः शान्त होता जाता है। एक रेशमी स्पर्श र के बालों को सहलाता हुआ पूछता है, "अब बताओगे?"

नहीं, जीवन में कोई उद्देश्य नहीं है तो चुप रहने में, छिपाने में भी कोई उद्देश्य नहीं बात अगर नहीं छूती तो उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया भी नहीं छू सकती···शेखर ने कहा, या था तब नहीं जानता था, पर चलते-चलते जान पड़ा कि आत्महत्या का उपाय खोज हूँ।"

एक हल्की-सी सिहरन सप्तपर्ण को कँपा गई।

"क्यों, शेखर?"

"योंही; समझ में आया कि मरने के लिए कारण ढूँढ़ना आवश्यक नहीं है, प्रमाण तो ने के लिए चाहिए। जिसके जीने का स्पष्ट उद्देश्य नहीं है उसका मर जाना तो स्वतः नत है।"

चिन्तित और बहुमुख प्रतिवाद का स्वर—"शेखर!"

"पाने के लिए न जियो, देने के लिए जियो। माना। पर क्या दो? निरुद्देश्य, कारण- , अर्थहीन आत्मपीड़ा? क्यों दो, किसके लिए दो? अगर साध्य एक है जनमात्र का सुख, देय भी एक है सुख—नहीं तो कुछ नहीं है, सब धोखा है। और मैं देखता हूँ कि अपने

होश के अठारह-बीस सालों में मैंने—" एक कँपाती हुई सिसकी फिर उसकी शिथिल देह को हिला गई।

"मैंने किसी को सुख नहीं दिया ; एक अहंकार के लिए जिया हूँ और सबको क्लेश देता आया हूँ—"

"तुम कैसे जानते हो, शेखर ?"

"नहीं जानता, यही जानना है। जिनसे स्नेह किया है, उन्हें भी सुख नहीं दिया। पूछा नहीं, पर क्या स्नेह इतनी भी बुद्धि नहीं देता कि कोई जान ले, जिसे स्नेह देता है उसे सुख भी देता है कि नहीं !"

शशि ने धीरे-धीरे उठते हुए कहा, "शायद नहीं देता। नहीं तो तुम देखते—" वह धीरे-धीरे चलकर खिड़की के पास गई, क्षण-भर चौखटे पर हाथ रखकर बाहर देखती रही —एकाएक बूँदे पड़ने लगी थीं जो खिड़की के चौखटे में घिरे हुए फीके आलोक में आकर पल-भर चमक जाती थीं—एक शून्य में से आकर दूसरे में लीन···फिर उसने वहीं खड़े-खड़े घूमकर कहा, "और शेखर, क्या स्नेह ही देय नहीं है—सुख से बढ़कर देय ?"

"है, बहुत बड़ा देय है—पर इसीलिए कि वह इतना बड़ा सुख है। अगर स्नेह सुख नहीं देता, जलाता ही जलाता है, तो उसका भी दग्ध होना ही अच्छा—"

शशि जल्दी से फिर अपने स्थान पर लौट आई; शेखर के सिरहाने चारपाई के कोने पर बैठती हुई कुछ डपटकर बोली, "चुप रहो, शेखर, तुम्हें कुछ पता नहीं है कि तुम क्या कहे जा रहे हो।"

शेखर चुप हो गया, और वहीं लेटे-लेटे आँखें ऊपर उठाकर शशि की ओर देखने लगा। शशि किसी ओर नहीं देख रही थी, ठीक सामने ही उसकी दृष्टि गड़ी थी, पर उसने अवश्य जाना कि इस ऊपर देखने के प्रयास से शेखर के माथे पर त्योरियाँ पड़ गई हैं, क्योंकि एक हाथ से वह उन्हें सहलाने लगी, जैसे कोई रेशमी कपड़े में से सलवटें निकाल रहा हो। जब यह उद्योग सफल नहीं हुआ, तो उसकी उँगलियों ने बढ़कर शेखर की पलकों को बलात् बन्द कर दिया—फिर वे वहीं टिकी रहीं, आँखों पर से हटीं नहीं।

शेखर ने बहुत धीमे स्वर में कहा, "सुनो, शशि !"

शशि फिर उसके ऊपर किंचित् झुक गई।

"शशि, तुम क्या हो, कुछ समझ में नहीं आता—"

स्थिर स्वर से, "क्यों, शेखर ?"

"कबसे तुम्हें बहिन कहता आया हूँ, पर बहिन जितनी पास होती है, उतनी पास तुम नहीं हो, इसलिए वह जितनी दूर होती है—उतनी—दूर भी तुम नहीं हो।" एकाएक उसने शशि की उँगलियों को दोनों हाथों से अपनी आँखों पर ज़ोर से दाब लिया, मानो आँखें खुलने से कुछ अनर्थ हो जायगा...

शशि की काँपती हुई आवाज़ में शेखर जैसे बाहर की वर्षा की अनवरत मार सुन रहा —"क्या अभिप्राय है तुम्हारा, शेखर ?"

शेखर ने फिर दोनों हाथ उठाए, कनपटी के पास से शशि का सिर हल्के से पकड़ा उसे अपने ऊपर झुका लिया, फिर बोला, "अभिप्राय मैं नहीं जानता, तुम्हें जानता हूँ, जानता हूँ कि जितने स्वप्न मैंने देखे हैं सब तुममें आकर घुल जाते हैं—"

शशि के झुकने में न अनुकूलता थी न प्रतिरोध ; वह झुकी हुई थी, पर स्तब्ध, ाब्द थी...

वह स्तब्धता जैसे शेखर के प्राणों में भी समा गई ; उसे लगा कि सब कुछ ज्यों का स्तिमित हो गया है, क्योंकि आगे और कुछ होने को नहीं है, सब कुछ वहाँ पहुँच गया हाँ कैवल्य है, क्योंकि निर्वाण है···यद्यपि, दूर कहीं, बादल की गर्जन थी और बूँदों का ार, और कौंध का वह प्रकाश जो स्वयं भी कुछ नहीं दिखाता और बाद के अन्धकार को घना कर जाता है।

और शेखर के ऊपर थी सप्तपर्ण के तरुण गाछ की छाँह, जिसे दूर की कोई बहती साँस जाती थी ; दूर दक्षिणी किसी समीर की साँस, क्योंकि उसमें स्निग्ध गर्माई थी, और तब एक सोंधापन शेखर के नासा-पुटों को भर देता था—वह सोंधापन जो मलय के द पहले स्पर्श में होता है···

सप्तपर्णी, मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं मानता। यह मिट्टी शायद अनुर्वर ही है, पर ारी छाँह में यह साँस उसे छूती हुई चली जाती है, तो उसे और कुछ नहीं चाहिए, वह ी है···

एक सीमा होती है, जिससे आगे मौन स्वयं अपना उत्तर है, और सब जिज्ञासाएँ उसमें हैं क्योंकि वह परम अ-प्रश्न है···न जाने कब और कैसे शेखर की बाहरी शिथिलता भीतर समा गई और वह सो गया—थोड़ी-थोड़ी देर बाद बिजली कड़कने से कुछ चौंक-वह जागा, पर वह जागरण एक तन्द्रिल व्यामोह से आगे नहीं बढ़ा, और ऊपर छाए हुए र्णी के सोंधे प्रच्छन्न आश्वासन में फिर लवलीन हो गया···केवल एक बार जैसे उस द्रवित था में जीवन के ठोस ज्ञान ने व्याघात डालना चाहा, शेखर ने चौंककर कहा, "शशि, देर हो गई है, तुम्हें वापस जाना है—" और मानों उठने का उद्योग किया, पर शशि नहीं ; उसकी निश्चलता में पौष की हिम-शीत वर्षा ने ही उत्तर दिया कि अब वापस के लिए भी अधिक देर हो गई है ; फिर शेखर ने कहा, "तुम थक जाओगी, शशि," दुबारा उठने का उद्योग किया ताकि शशि ढंग से बैठ जाय ; पर शशि ने फिर एक हाथ से उसके उद्योग जड़ित कर दिए और उसने पाया कि उसके मन की संकल्प-शक्ति पेशियों की प्रेरणा-शक्ति एक चिकने अमूर्त और सर्वथा स्वीकार्य बन्धन में बँधी हैं; फिर न्द्रा पूर्ववत् छा गई और सप्तपर्णी की छाँह में अस्तित्व सो गया···

अवश्यमेव यह अरुणाली स्वप्न की है—वातावरण में स्फटिक की-सी शीतल स्वच्छता है, किन्तु उसमें रंग की स्निग्धता भी है—शेखर अपना सिर तनिक-सा उठाकर अपने ऊपर छाए हुए सप्तपर्णी के गाछ को छूता है—क्या उसका माथा सप्तपर्णी के भीतर के जीवन-प्रवाह की नाड़ी देख सकेगा—उसके हृदय का स्पन्दन अनुभव कर सकेगा?

सप्तपर्णी की आत्मा बोली—आत्मा का स्वर कितना कोमल होता है!—"जागते हो, शेखर?"

"हूँ—"

"तुमने जो कुछ कहा था, वह याद है?"

"हाँ—"

"उसका अभिप्राय समझते हो?"

मौन बोला कि हाँ समझता हूँ।

"अब मैं भी कुछ कहूँ, सुनोगे?"

मौन ही फिर बोला कि सुन रहा हूँ।

"तुमने जो दिया है, उसमें लज्जा नहीं है। वह वरदान है, यह मैं भी बिना लज्जा के देखती हूँ। वरदान में अस्वीकार का विकल्प नहीं है।"

"......"

"मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दे दिया है; अपने का, इद का संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसकी ओर से मैं कुछ नहीं कह सकती; न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ।" वह चुप हो गई, बहुत देर तक कोई नहीं बोला, केवल वातावरण का स्फटिक कुछ और शीतल जान पड़ने लगा—

"अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। यह नहीं सोचा कि धोखा खाया, मैंने स्पष्ट देखा था कि यही होगा।"

शान्ति में कितनी व्यथा हो सकती है, और स्वप्न के स्फटिक की लाली में कितनी हिम-विजड़ित पराजय···यही है सब कुछ का अन्त—स्वप्न का भी अन्त—

सप्तपर्णी की आत्मा ने एकाएक बल पाकर—जैसे नयी आहुति से होमाग्नि दीप्त हो उठे!—कहा, "पर तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।"

फिर एक विश्राम···

"और वह मूर्त नहीं है इसीलिए कम सच नहीं है, कम जीता नहीं है। शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब—कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूँ।" और फिर किसी आन्तरिक तेज से भरकर—"और अमूर्त होकर मैं—तुम्हारा अपना आप हूँ जिसे तुम नाम नहीं दोगे।"

फिर मौन, जिसमें वह लाल स्फटिक कांपता-सा है—
"शशि, क्या इसमें—तुम्हारे लिए—सिद्धि है—सम्पूर्ति है ?"
"सिद्धि! नहीं। मेरा जीवन न इतना मिट्टी था, न इतना—हवा। सिद्धि और सम्पूर्णता है; पर मैं सन्तुष्ट हूँ, शेखर; और सन्तोष का यह सुख तुम्हारा वरदान है।"
वह स्फटिक अरुणाली में घुल गया है, वह शीतलता स्वप्न को नहीं है, पौष के कड़ते वर्षा-धुले प्रत्यूष का है…शेखर ने एकाएक अपने को सप्तपर्णी की छाँह के नीचे से व लिया और उठ बैठा, चेतना की एक दीप्ति उसे सहसा पिछले दस घण्टों के जीवन-ास की एक द्रुत झांकी दिखा गई; सहसा इस भावना से भरकर कि आज भोर पहली किरण के साथ वह शशि को नये रूप में देखेगा, और कुछ बाल्यकाल में रटे हुए हाल में दुबारा नये प्रकाश में पढ़े हुए वैदिक भावगीतों के श्रद्धाभाव से आप्लवित होकर ने स्थिर दृष्टि से शशि की ओर देखते हुए कहा, "मेरी आँखें पुनीत हों—"
शशि के खोए-से स्वर ने उसकी मनःस्थिति को भरपूर अपनाते हुए कहा, "और जागरण…"
शशि उठ खड़ी हुई थी, रात-भर चारपाई के सेरुए पर जहाँ वह बैठी रही थी, वहाँ पड़ी एक सलवट को उसने हाथ से सँवारा, फिर जाकर खिड़की के सामने खड़ी हो गई। वट के साथ सटकर उसने दोनों बाँहें बाहर फैला दीं।
सप्तपर्णी के इस प्रतनु, लचकिले, पर उद्ग्रीव गाछ लो देखकर शेखर का हृदय हठात् एक ज्ञ आशीर्वाद-भाव से उमड़ आया। खिड़की के चौखट में जड़े हुए उस विमुख आकार को से पैर तक एक वत्सल दृष्टि से छूकर उसने मन-ही-मन शब्दहीन प्रार्थना की, और प्रतीक्षा ा रहा कि आलोक की पहली किरण शशि की आकार-रेखा को कुन्दन से मढ़ दे…

अरुणाली का आश्वासन दीप्ति की यथार्थता नहीं बना, केवल एक फीका उजाला बनकर गया—दिन निकलते-निकलते बदली फिर घनी हो गई थी। शेखर न जाने किस विनोद-उमंग से नीचे बिखरते हुए 'हमारा समाज' के पन्नों के मुख्यांश पर बैठ गया था; शशि खिड़की में खड़ी थी, पर अब शेखर की ओर उन्मुख।
"शशि, तुम अब भी गाती हो ?"
एक अन्तर्मुख, म्लान 'हुँह!' ने मानों कहा, "अब, गाना!" पर प्रकट शशि बोली, व मैं वापस जा रही हूँ।"
शेखर ने हाथ के इशारे से बिखरी हुई हस्तलिपि को एक घेरे में बांधते हुए कहा, ारा सारा समाज प्रतीक्षा कर रहा है—" (फटा हुआ, चिथड़े-चिथड़े बिखरा हुआ ज—और लाला अमोलक राय सुधारक द्वारा संशोधित समाज!…)
शशि ने कहा, "गाए एक वर्ष हो गया—" पर इसमें प्रतिवाद नहीं था, केवल आग्रह स्वकृति थी, "अभी गाऊँगी नहीं, पाठ ही कर सकती हूँ—"

क्रमशः स्पष्टतर होती हुई स्वरलहरी से कमरा गूँजने लगा—

"अभयं नः करोत्यन्तरिक्षं अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।
अभयं मित्रादभयममित्राद् अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तं अभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥"

किन्तु अपने-आप ही शशि मुड़कर फिर खिड़की में प्रत्यभिमुख होकर खड़ी हो गई, और क्षण-भर गुनगुनाने के बाद निष्कम्प किन्तु गूँजते स्वर में गाने लगी—सतेज और स्पन्दन-शील प्रवाह के साथ, जैसे स्वस्थ धमनी में रक्त...

"आजि मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे।
पल्लवे-पल्लवे हिल्लाये-हिल्लाये थरथर कम्पन लागिलो रे।
"..........."
आजि मम अन्तर माझे
कोथा पथिकेर पद-धुनि बाजे
ताइ चकित-चकित घूम भांगिलो रे—
आज मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे!"

उस स्वर को सुनते हुए, और उस सधी हुई पीठ के तरंगायित आरोह-अवरोह को देखते हुए शेखर का मन बहुत दूर चला गया। कितनी दूर लगता था वह समय, जब वह छिपकर शशि को उत्फुल्ल गीत-लहरी सुनने का यत्न किया करता था, जब वह स्तब्ध होकर उसका गाना सुना करता था—उसी से नहीं, शशि से भी कितनी दूर...तब वह सुखी थी—उस रन्ध्रहीन सुख से सुखी जो स्वयं अपने अस्तित्व को नहीं जानता; और आज-आज वह जानती है कि सुख में भी वह सुखी नहीं है, केवल सन्तुष्ट है—सन्तुष्ट अर्थात् धैर्यवान्—अपने व्यक्तित्व के इस भ्रंश, इस विभागीकरण को गौरव मानकर अपनाती हुई...

किन्तु यदि यही है, यदि शशि आज इस क्षण सन्तुष्ट भी है, तो क्या यही अब शेखर के जीवन का सबसे सार्थक क्षण नहीं है, क्योंकि इससे बड़ा सुख वह अब शशि को नहीं दे सकता? और—और क्योंकि इस क्षण ने कल और आज के बीच में उसका जीवन बदल दिया है—

उसे याद आया कि रात ही एक अजनबी स्त्री द्वारा खींचकर बचा लिए जाने पर वह झल्लाया था और सोचता हुआ लौटा था कि किसी को क्या—किसी को क्या...आज—आज किसी को कुछ है—और वह जानता है कि किसी को कुछ है...

तब जो कल वह करने जा रहा था, क्या उसका उचित समय आज नहीं है—इस क्षण नहीं है? सिद्धि और सन्तोष के दिए हुए और पास हुए सुख के क्षमा में बुझ जाना—कितनी बड़ी सिद्धि! अगर वह अभी चुपचाप खिसक जाय, कानों में शशि के गाने की चिरन्तन गूँज लेकर लुप्त हो जाय—

वह धीरे-धीरे द्वार की ओर खिसकने लगा, चौखटे को छूते ही सीधा खड़ा हो गया—

एकाएक शशि ने गाना बन्द करके कहा, "कहाँ, शेखर ?"

वह जड़ित हो गया। शशि ने घूमकर फिर पूछा, "कहाँ जा रहे थे ?"

शेखर कुछ नहीं बोला।

"अभी तुम्हारा मन नहीं धुला ? शेखर, मैं कहती हूँ, तुम नहीं जाओगे।"

घात में पकड़े गए चोर की-सी उद्धतता से शेखर ने कहा, "क्यों ?"

शशि ने अधिकार के स्वर में कहा, " 'क्यों' नहीं है। मैं कहती हूँ, तुम नहीं जाओगे।" फिर उतने ही स्थिर किन्तु सर्वथा बदले हुए स्वर में, "मेरी तरफ़ देखो, शेखर—मेरी आँखों की तरफ़। क्या तुम मनमानी कर सकते हो—अकेले ही ?"

शेखर ने आँखें नीची कर लीं। परास्तभाव से कमरे में लौट आया।

"क्या करूँ बताओ, क्या कहती हो—"

शशि ने हाथ के इशारे से एक मीठी फटकार देते हुए कहा, "अब बहुत समय है कहने-सुनने को। अब मैं चली—सबेरा हो गया है। पर अब कुछ पागलपन किया तो—" तर्जनी उठाकर उसने वाक्य अधूरा छोड़ दिया।

शेखर ने कहा, "मेरी अक्ल को कुछ हो गया है—बिल्कुल पागल हूँ।" उसके स्वर में खिन्न लज्जा का भाव था।

शशि ने विचारक के गम्भीर स्वर से, पर हँसती आँखों से कहा, "पागल—पागल तो नहीं ; बहुत बड़ा बच्चा !" और सीढ़ियाँ उतर गई। शेखर 'हमारा समाज' के बिखरे पन्ने बटोरने लगा।

एकाएक प्रातःकाल का भाव उसके मन में फिर उमड़ आया, और विस्मय से उसने अपने-आपसे पूछा कि उसके मनोभाव का प्रतिबिम्ब कैसे इतनी जल्दी शशि के मन में उदित हो आता है···इस जिज्ञासा से और भी पुष्टि हुई, कृतज्ञता से उसने फिर कहा, 'मेरी आँखें विनीत हों··'

शशि ने जोड़ा था, 'और मेरा जागरण'। किन्तु जागरण तो मेरा है, शशि, जागरण तो मेरा है—मैं तुम्हारे पुण्यायन जागरूक हूँ···

*　　*　　*
**　　**　　**

चतुर्थ खण्ड :

धागे, रस्सियाँ, गुम्फार

बदली और शीत, किन्तु दिन के प्राण सुन्दर हैं—सुन्दर और स्निग्ध, सद्यः-स्नात···
ः संगीतकार होता, तो आज के दिन की आत्मा को स्वरों की तूलिका से आंक लेता —
त्रकार होता तो उसका चित्र खींचता; मूर्तिकार होता तो स्फटिक-शिला में उसके प्राण को
धकर ऊपर कर देता—अमर नहीं, अमर तो वह स्वयं है, उसके आकार को मूर्त की
रधि में ले आता···क्योंकि आनन्द का भी आकार अवश्य होता है जो बोध की उँगलियों
छुआ जा सकता है—अगर वह आकार मूर्त नहीं है, तो यह केवल शिल्पकार को रूप-
ज्जा की स्वच्छन्दता देता है—आकृति और उत्कण्ठा दासियाँ बनकर उस रूप को
ारती हैं—

शेखर लिखेगा। हो सका तो कविता लिखेगा, किन्तु कुछ भी लिखेगा अवश्य, क्योंकि
ा धुला हुआ उसका मन आज है, वैसा उसे याद नहीं, इसके पहले कब था, और जिस
वन-लहर का शिखर इतने युगों बाद पाया है, उसकी दूसरी उठान कब होगी, कौन जाने··

क्या ऐसा कुछ नहीं है, जो लिखने से परे है, जो बहुत विशाल है, जो बहुत गहरा है,
घिरता नहीं, क्योंकि वह स्वयं घेरनेवाला है?

अवश्य है। किन्तु उसे पकड़ने की स्पर्धा कौन कर रहा है? सप्तपर्णों की छांह ऊपर है,
ओर है, किन्तु उसकी सांस का मर्मर तो मैं पी सकता हूँ, और उसमें विलीयमान होकर
के सुर में गुनगुना भी सकता हूँ···

कृतित्व सबसे पहले कृतज्ञता है··

शेखर लिखने लगा।

नौ, दस, ग्यारह, साढ़े ग्यारह—

जेल में शेखर ने पैरों की चाप से व्यक्ति की मनोदशा भांपना सीख लिया था, इसलिए
ढ़ियों पर पैरों की चाप सुनकर वह चौंका। जीवन के दलदल और शैवाल के जाल में से
ने को आगे घसीटने की इतनी अनिच्छा, इतनी क्लान्ति—कौन है यह अभागा जो आज
पुनीत दिन—

शेखर ने एक बार अपने सामने पड़े हुए, स्याही-रँगे कागज़ों को देखा और फिर सीढ़ियों
ओर के किवाड़ को—

एक शिथिल पैर देहरी पर लटकाए, एक हाथ और कोहनी चौखटे पर और कन्धा
पर टेके, बेरंग चेहरे में धुँआले कांच-सी जड़ित आंखें शून्य पर टिकाए सामने शशि
ी थी।

उसने हड़बड़ाकर उठते हुए कहा, "अरे, कैसे आ गईं—" और शशि के मुँह को
कर सहारा देने को लपका।

"आ गई, बस—अब वहाँ लौटना नहीं होगा—नहीं, मुझे मत छुओ, मैं अभी चली जाऊँगी—"

"अँय, क्या कहती हो शशि—"

"उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया है।"

"क्या—क्यों?" एकाएक स्तब्ध होकर, "भीतर आओ, शशि, बैठकर बात कहो—"

"नहीं, शेखर, मैं पति द्वारा परित्यक्ता हूँ, कलंकिनी हूँ, मुझे कहीं स्थान नहीं है। मुझे भीतर मत बुलाओ—"

शशि को वहीं देहरी पर बैठने के लिए झुकती देख शेखर ने मर्माहत स्वर में कहना आरम्भ किया, "शशि—" फिर एकाएक उसने जाना, वह बैठना स्वेच्छामूलक नहीं है, शशि इसलिए बैठ रही है कि वह खड़ी नहीं रह सकती। उसने दौड़कर भुजा पकड़कर शशि को सँभाला और भीतर की ओर लिवाने लगा।

"हाँ, मैं कहती हूँ। सोच लो, शेखर, अभी समय है। कोई कारण नहीं है कि तुम मुझे भीतर बुलाओ या आने दो। मैं रुकने नहीं आई—किसी को संकट में डालना मुझसे नहीं होगा—और तुम्हें—तो—कभी नहीं..." उसका स्वर टूट गया, आभास-पूर्वक उसने कहा, "तुमने आगे ही जो दिया है—"

शेखर ने दूसरे हाथ से उसका मुँह बन्द करते हुए उसे चारपाई तक पहुँचाया, बलात् बिठा दिया, और फिर हल्के दबाव से लिटाने का यत्न करने लगा—

दबी हुई कराह के साथ शशि ने कहा, "नहीं, बैठी रहने दो—"

शेखर ने तनिक अलग हटकर कहा, "क्यों निकाल दिया है, शशि?" और फिर तत्काल ही, "अगर कहने में कष्ट होता है तो रहने दो—"

"कहूँगी। अभी मुझे जाना जो है। उन्होंने कहा है, मैं भ्रष्टा हूँ, पापाचारिणी हूँ।"

थोड़ी देर की स्तब्धता के बाद "क्यों?"

"मैं रात-भर बाहर रही थी—"

"क्या? तुमने उनसे कहा नहीं कि तुम यहाँ आई थीं—मेरे पास थीं?"

शशि देख तो कहीं कुछ नहीं रही थी, फिर भी उसने मुँह फेर लिया। बोली नहीं।

"तुमने क्यों नहीं कहा? मैं अभी जाता हूँ—"

तड़पकर, "नहीं, नहीं! तुम मत जाओ—"

"क्यों—"

"नहीं, शेखर, नहीं! मैं—"

"तुमने कहा नहीं?"

शशि ने किसी तरह मुँह से निकाला, "वे—जानते थे।"

"तब?"

जैसे बाढ़ से नदी के करारे धीरे-धीरे टूटकर गिरने लगें, वैसे ही शशि का धैर्य टूट रहा

। क्रमशः तीखे होते हुए स्वर से उसने कहा, "मुझसे मत कहलाओ, शेखर ; मैं नहीं
रा सकती तुम्हारे आगे वह बात—"

"मैं तुमसे कोई और हूँ, शशि ?"

"ओह, तुम नहीं समझते, शेखर तुम नहीं समझते ! वे कहते हैं—तुम्हें पता नहीं
। कहते हैं वे – वे कहते हैं—मैं रात यहां रही थी—यही तो कहते हैं—मैं भ्रष्टा हूँ—
:, नहीं, नहीं, शेखर !"

स्वर तीखा होकर एक हिचकी-सा बन गया था ; फिर एकाएक मौन छा गया और सर्राता
। बहता रहा···

देर बाद शेखर ने कहा, "मैं समझ गया, शशि ! बस···" और कुछ रुककर फिर
वृत्ति की, "मैं सब समझ गया···"

उसका स्वर इतना शान्त और स्थिर हो गया था कि शशि की बिखरी हुई दृष्टि एकाएक
पर केन्द्रित हो गई, और उसने शंकित स्वर में पूछा, "क्या करोगे, शेखर ?"

सोचते हुए स्वर में, "नहीं, वैसा अब नहीं करूँगा, शशि । कुछ नहीं करूँगा ।" फिर,
ौर तुम, शशि ?"

"मैं क्या ?"

"तुम क्या करोगी ?"

शशि एक खोखली निर्बल हँसी हँसी—"मैं !" फिर गम्भीर होकर बोली, "शेखर, तुम
। भी कह दो, मैं चली जाऊँ । मैं सचमुच चली जाऊँगी । कह दो न !"

शेखर ने आहत झिड़की के स्वर में कहा, "क्या कह दूँ ! तुम्हें क्या—"

"तुम्हारे ही लिए वह आसान हो, यह नहीं है ; मेरे लिए भी उसमें सुविधा
ी शेखर—"

शेखर खिड़की के पास जा खड़ा हुआ । बोला, "कहते हैं, ऊँचाई में आकर्षण होता
—भयानक आकर्षण ।" फिर इस बात का प्रसंग स्पष्ट करने के लिए, "चौतल्ले की खिड़की
एक जन भी कूद सकता है, दो जन भी कूद सकते हैं । वह एक रास्ता है ।"

काँपते हुए वारण के स्वर में, "शेखर !"

'नहीं, मैं नहीं कहता कि यह रास्ता ग्रहण ही किया जाय । एक दूसरा रास्ता भी
श्य—होगा ।"

"रास्ता ! क्या ?"

शेखर ने झटके से घूमकर कहा, "शशि, वायदा करो कि तुम कुछ नहीं करोगी, कहीं
। जाओगी—"

"मैं—कहां जाऊँगी – कहां नहीं जाऊँगी !"

"टालो मत, शशि ; कहो, तुम जाओगी नहीं—"

"......"

"कहो शशि, बचन दो—"

"तुम यही कहते हो, शेखर? सम्पूर्णतया यह कहते हो—"

"शशि, इतना विश्वास करोगी मुझ पर—"

शशि ने धीरे-धीरे कहा, कुछ ऐसे प्रश्नात्मक भाव से जैसे प्रयोग करके देख रही हो कि ये शब्द सुनने में कैसे लगते हैं, "नहीं जाऊँगी। शायद न जाना ही—देना है—पाई-दमड़ी चुकाना—" फिर शिथिल भाव से, मानों बातचीत में अब किसी पक्ष को कुछ कहना-सुनना नहीं है, उसने आँखें बन्द कर लीं···

शेखर कमरे में इधर-उधर टहलने लगा, जो कुछ उसने सुना-कहा था उसे पूरी तरह समझने और अपनाने का प्रयत्न करने लगा···पिछली रात से जो आत्मीयता का वृत्त स्थापित—प्रकट—हो गया था, उसके बारे में उसके मन में रत्ती-भर भी संशय नहीं था—शशि असन्दिग्ध और अपरिहार्यरूप से उसके 'इह' का अंश थी; और शशि के साथ खड़े होने का जो कर्त्तव्य उसने अपनाया था उसकी करणीयता—और प्रीतिपूर्वक, गौरव मानकर करणीयता—भी उतनी ही असन्दिग्ध थी; किन्तु क्या इस असन्दिग्धता को देखना केवल एक समस्या की ही असन्दिग्धता देखना नहीं है; क्या उस समस्या का निराकरण भी उसमें उतना ही असन्दिग्ध है?···उसे बोध हुआ कि 'दूसरा रास्ता भी होगा' के आग्रह में 'दूसरा रास्ता है' का आश्वासन नहीं है। वह आश्वासन--

शशि उठकर खड़ी हो गई और लड़खड़ाती गति से द्वार की ओर बढ़ी—

शेखर ने सहारे के लिए बढ़ते हुए कहा, "कहाँ, शशि—"

"नहीं, तुम यहीं ठहरो; मैं ज़रा बाहर जाऊँगी—"

शेखर ने कुछ शंकित स्वर में कहा, "शशि, तुम वायदा कर चुकी हो—"

"शेखर, मैं अभी आई; तुम यहीं कमरे में ठहरो—" फिर एक क्षीण और तत्काल वेदना में मिट जानेवाली मुस्कान के साथ, "डरो मत···"

शेखर जड़वत् कमरे के बीच में खड़ा रहा, किन्तु उस जड़ता में चौकन्नापन था—उसने बाहर से पानी फेंके जाने का स्वर सुना और फिर एक हाँपी हुई कराह; फिर नल से बहती धार की आवाज़···

"शेखर—"

शेखर लपककर बाहर पहुँचा, शशि नल के सहारे झुकी खड़ी एक अन्धा हाथ उसकी ओर बढ़ा रही थी—शेखर ने सहारा देकर उसे भीतर लाते हुए पूछा, "क्या है, शशि? क्या हुआ है—"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं—"

यह अनावश्यक आग्रह क्यों? शेखर ने चिन्तित स्वर से पूछा, "डाक्टर बुला लाऊँ?"

"नहीं, कुछ नहीं है शेखर—" किन्तु चारपाई पर लेटती हुई शशि फिर एकाएक सिकुड़कर अधबैठी रह गई; फिर मुश्किल से एक करवट सिमटकर निश्चल हो गई, एक हाथ

ीरे उठकर माथे तक गया और टिक गया ; उँगलियाँ सरककर केशों की ओर बढ़ीं ीन नख बीर-बहूटी से ओझल हो गए—एकाएक शेखर ने देखा कि यद्यपि शशि की खुली हैं, तथापि वह न कुछ देखती है, न जानती है, यह भी नहीं कि शेखर वहाँ ा कि वह है भी···

क्या एकता का बल मृत्यु का बल है—क्या एक दूसरे को पहचान लेने का यही पुरस्कार दोनों के पास कहने को कुछ नहीं है, विनिमय के लिए कुछ नहीं है ; एक ओर खती निःस्पन्द आँखें और दूसरी ओर विमूढ़, हतबोध पाषाण ! एकाएक समूची परिस्थिति त्ता—रामेश्वर के वार की, शशि की चोट की, दारुणता—शेखर के चेतना-मुकुर पर की मार की तरह पड़ी ; वह तिलमिला गया। एक तनाव उसके सारे शरीर में जागकर भवों में संचित हो गया, और शशि पर टिकी हुई उसकी दृष्टि को क्षण-भर के लिए ह गया ; फिर उसने झुककर धीरे-धीरे शशि के पताने से कम्बल छुड़ाकर उसे उढ़ा ; पुरानी शाल कन्धे पर डाली और बाहर चल पड़ा।

"कहाँ—जा रहे हो ?"

शेखर चौंक पड़ा, पर बिना रुके बोला, "मैं—आया, शशि, तुम लेटी रहो—" और से उतर गया। कोई कार्यक्रम उसके मन में स्पष्ट नहीं था, केवल इतना स्पष्ट था कि मेश्वर से साक्षात् करने जा रहा है।

रामेश्वर देहरी के ठीक सामने बैठा था ; शेखर ने उसे क्षण-भर पहले देखा ; किन्तु क्षण र में रामेश्वर के चेहरे का बन्द झिलमिल का-सा भाव प्रतिकूलता से कँटीला हो आया; और पहले ही मिली हुई भवें सेंहुड़ के झाड़-सी उलझ गई—

"तुम्हारी इतनी मजाल—क्या करने आए हो तुम यहाँ पर—"

रामेश्वर की गरज को उपेक्षा से एक ओर ठेलते हुए शेखर ने कहा, "क्या करने आया ह तो यहीं पर तय करूँगा ; पर आपने यह किया क्या है—होश में हैं आप ?"

"बेहया पैरवी करने आया है—तेरे पास गई नालिश लेके—निकल जाओ मेरे घर से म्हारी क्या लगती थी वो—" रामेश्वर का चेहरा घृणा और प्रतिहिंसा से बेहद कुरूप या, उसके नथने और ओठ फड़कने लगे ; शेखर ने जान लिया कि उसका विद्वेष असं-की उस सीमा पर पहुँच गया है कि अगर रुक-रुककर नहीं बोलेगा तो तुतलाने लगेगा। खिर उसे इतने रोष का अधिकार क्या है—क्या वह प्रपीड़ित है ? वह, नृशंस अन्धा ायी। उसने कड़े पड़कर कहा, "मैं जवाब देने नहीं, माँगने आया हूँ—"

रामेश्वर कई क्षणों तक गीले पलीते की तरह "तु-तु-तु-" करता रहा, मानो शेखर की पर उसके चेहरे का तमतमाया हुआ विस्फार निर्वाक् हो गया हो। शेखर ने इस अव-लाभ उठाते हुए एक तने हुए, द्रुत एक स्वर से कहना शुरू किया, "शशि मेरे पास देर से लौटा था, वह मुझे आत्म-घात—" क्षण-भर अटककर, "तसल्ली देने ठहरी थी,

फिर वर्षा—" किन्तु फिर अनुभव करके कि वह जवाब दे रहा है, और वह भी कुछ असंगत, उसने ओठ काटकर वह वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया। "आप कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हैं, आपको पता नहीं है। शशि—आप उसके पैर छूने लायक भी नहीं हैं, और आप—" उसे विस्मय हुआ कि शशि के प्रति कोई अव्यक्त दायित्व उससे अब भी इस व्यक्ति को 'आप' कहकर सम्बोधन करा रहा है।

फटे हुए बाँस पर आरी के दाँतों का जैसा स्वर होता है, वैसे स्वर में रामेश्वर के पिछली तरफ़-दूसरे कमरे के किवाड़ से कोई सहसा बोला, "तो जा चाट उसके तलुवे तू--तुझसे चटवाकर उसका जी ठण्डा होगा--"

शेखर ने चौंककर देखा, रामेश्वर के पीछे एक स्त्री का चेहरा है जिसकी असख्य साँवली झुर्रियों में से रामेश्वर की बासी प्रतिकृति झाँकती है; वहीं झंखाड़-सी भवें हैं किन्तु उनके नीचे के विवरों में आँख की जगह फफूँद के गुल्म हैं···क्या रामेश्वर की माँ है? शेखर ने उसे पहले नहीं देखा था, न जानता था कि वह कब, कैसे आई है।

"तसल्ली देने ठहरी थी इसे! रात-भर तसल्ली पाकर ही इतना हौसला हो गया है—बदमाश बदकार कहीं का!" साँप की फुफकार की तरह शेखर की ओर थूककर मानों उसे आवेश की नयी निधि मिली, और शेखर ने देखा कि उसके पार्श्व में एक बूढ़ा चेहरा और आ गया है जिसकी खिचड़ी मूँछें काँप रही हैं।

"यही असली पाजी है, कम्युनिस्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काटकर आया है, भले घर में कोई घुसने नहीं दे; कम्युनिस्ट तो औरत को साझामाल मानते हैं, नास्तिक! इनका तो काम ही है लड़कियों को वरग़लाना और सुधार के नाम पर रंडियाँ बनाना। दुच्चे तो होते हैं, पैसा पास नहीं होता, सस्ता तरीका यही है। पहले बहिन, फिर कामरेड, फिर रंडी। किसी का घर बिगड़े, इन्हें क्या--इन्हें तो रंडी मिलती है—भले घर की, जवान, और मुफ्त!" मानों इस जाति के लोगों का अपराध वर्णनातीत हो, इस भाव से भरकर अपने भीतर का सारा विष एक ही शब्द में उगलते हुए उन खिचड़ी मूछों ने क्षण-भर रुककर फिर कहा, "कम्युनिस्ट!"

शेखर को लगा कि यह कोई दूसरी दुनिया है; कर्दम और फिसलन और काली बमी की कोई दुनिया जिससे विषैली भाफ़ उठती है—चकित और विमूढ़ वह इस कुत्सित दुहरे आक्रमण पर क्रुद्ध भी नहीं हो सका, केवल हतवाक् रह गया। पर रामेश्वर के गुस्से का घोड़ा जैसे इस कोड़े की दुहरी मार से तिलमिलाकर लगाम तुड़ा भागा—रामेश्वर ने एकाएक आगे बढ़कर एक थप्पड़ शेखर के मुँह पर मार दिया।

अवश्य ही यह एक दूसरी दुनिया है, जिसमें सोचकर, विवेक से—या इच्छा से भी—कुछ नहीं होता, सब कुछ अपने-आप, घटना के भीतर किसी अशिव, आसुरी शक्ति की प्रेरणा से होता है—घटना की कौंध अपने-आपको आँक जाती है···धुँधली-सी रेखा कि शेखर के मुँह पर थप्पड़ पड़ा है; स्वयं चालित प्रतिक्रिया कि शेखर के हाथ ने ठठक

ता की कलाई को जकड़ लिया है, कि मुट्ठी क्रमशः कड़ी पड़ती जाती है और कलाई
ह मोड़ती जा रही है—कलाई जिसमें हिंसा पथरा गई है और जो अब उस जकड़
कांपने लगी है। धुँधला-सा विचार कि वह जकड़ इतनी कड़ी पड़ जायगी कि कलाई
यां कड़कड़ा जायँगी—कि कलाई रामेश्वर की है, कि वह कलाई न होकर रामेश्वर
न होती तो—होती तो...

किन्तु क्यों है वह कलाई, क्यों नहीं है वह गर्दन? अवश्य वह गर्दन है; जैसे कलाई
ाती है, वैसे ही गर्दन भी कड़कड़ा सकती है, क्योंकि जकड़ में कुछ ईप्सा नहीं है,
नहीं है, वह केवल जकड़ है, आसुरी शक्ति जो अपने-आप चलती है, यद्यपि उसके
धे हैं—

ूसरी दुनिया के पर्दे को फाड़कर एक स्पर्श शेखर की भुजा पर पड़ा और शशि ने
'शेखर!"

ुट्ठी की जकड़ खुल गई, पर स्तब्ध हाथ वहीं का वहीं रह गया। फिर एकाएक
को लगा, वह किसी गिजगिजी, ग़लीज़ चीज़ को पकड़े था, उसने उँगलियाँ फैलाईं
फिर हाथ एकाएक नीचे गिर पड़ा।

न्नाटे में उस आसुरी शक्ति का प्रवाह बहुत देर तक अप्रतिरोध बहता रहा...

फिर शशि ने कहा, "मैं डरती थी कि तुम यही करोगे। यहाँ क्यों आए तुम?"

ेखर का सम्पूर्ण विद्रोह उसके मौन में से झांकता रहा।

तुम जाओ यहाँ से—"

ेखर की आँखें स्थिर होकर शशि की आँखों में गड़ गईं। कुछ क्षणों के बाद उसने
'और तुम? तुम भी चलो—"

तुम चले जाओ। तुम यहाँ से मेरे कहने से जाओ।" उसके स्वर में आज्ञा का गर्व
जानता है कि उसकी प्रभुता केवल आसपास की प्रजा को ही नहीं, उस मिट्टी को भी
है जिस पर उसके पैर खड़े हैं, क्योंकि वह भी उसकी सम्पत्ति है।

ेखर चुपचाप लौटकर सीढ़ियाँ उतरने लगा। इस निष्कासन पर उसका सारा व्यक्तित्व
कर रहा था, किन्तु उसके मुँह से एक शब्द नहीं निकला और उसके विवेक ने
िचार का स्पष्ट निश्चय किया तो यही कि एक नहीं, पचास शेखर भी जितनी श्रद्धा,
आस्था, जितना प्यार इस राज्ञी को दे सकते हैं, वह सब उस एक क्षण के सामने
र नगण्य है।

ुसने मुड़कर नहीं देखा, किन्तु वह किसी छठी इन्द्रिय के सहारे सब जान रहा था जो
के हो रहा है...चार स्तब्ध शरीर, शशि की आँखें एक वृत्त बनाती हुई एक से
, दूसरे से तीसरे पर जा टिकती हैं और खड़ी रहती हैं। उस दृष्टि में क्या है, उसे
योग्यता किसी में नहीं है; उसमें भी नहीं, जिस पर जाकर वह टिक गई है, और
ह आगे नहीं बढ़ेगी, सहसा अपने भीतर सिमट आएगी!

एकाएक धड़ाक से किवाड़ बन्द हुए और भीतर से कुण्डा लगाने का किटकिटाता हुआ स्वर। तभी शेखर ने मुड़कर देखा; उससे छः-सात सीढ़ी ऊपर शशि पत्थर की शलाका-सी बन्द द्वार बाहर खड़ी थी। वह कुछ बोला नहीं; वहीं रुका रहा और फिर धीरे-धीरे एकाएक सीढ़ी उतरने लगा। तब उसने जाना कि उसके पीछे बहुत धीमा और सुस्त एक दूसरे पैर का भी स्वर है।

सीढ़ियों से उसके पीछे-पीछे शशि बाहर सड़क पर निकली तो ऊपर खिड़की से मूछों से छनकर आया हुआ एक स्वर बोला, "दफ़ा हुई—"

आरी की रगड़ खाकर फटा बाँस कर्कश स्वर से प्रतिवाद कर उठा।

"ले ले उसको कोख में, कलमुँही राँड़—कुत्ती!"

शेखर को बोध हो आया कि इन सम्बोधनों में उसके अस्तित्व की उपेक्षा उसके उत्तरदायित्व का ही परिमाण है। वह मुड़ा नहीं, किन्तु वहीं ठिठक गया कि शशि उसके बराबर आ जाय···

* * *
** ** **

कमरे के दुहरे एकान्त कितना कुछ जानने को था, कितना कुछ पूछने को था, जो शेखर ने तब नहीं जाना और नहीं पूछा; पूछा कभी भी नहीं, और जाना भी न जाने कब, बोध को किन छोटी-छोटी, विरल, मनचली तरंगों की क्षणस्थायी चमक के सहारे पूछने और जानने का समय भी नहीं था; शेखर भाँपता था कि जो-जो वह देखता है उसके पीछे और उसके अन्तराल में उससे अधिक महत्त्व का कुछ घटित हो रहा है, होता रहा है, किन्तु इस भावना के सूत्र पकड़ने और सुलझाने का मौका कब था जब कि इतनी और तात्कालिक बातें सोचने को पड़ी थीं और जवाब माँगती थीं··

शशि चारपाई पर लेटी नहीं, पड़ी थी, प्रश्नचिह्न की तरह एक करवट सिमटी हुई; उसकी पलकें निष्प्रयास झपक जाती थीं और कुछ देर बाद खुल जाती थीं, शेखर जानता था कि वह झपक एक दर्द को छिपा लेती है··

शशि स्वस्थ नहीं है, कुछ प्रबन्ध करना होगा—बिस्तर नहीं है, शशि के पास कपड़े भी नहीं हैं, खाने की व्यवस्था—पैसा नहीं है, कुछ भी नहीं है···

शाम होने से पहले-पहले कुछ प्रश्नों का उत्तर तो आवश्यक था ही। शाम का खाना होटल से आता है, पर होटल को सूचना देनी होगी—इस समय के लिए वह स्वयं कुछ बना लेगा—लौटकर; सबसे पहले बिस्तर और ओढ़ने के लिए अधिक कम्बल··

शेखर ने बदलने के लिए कपड़े निकाले और बाहर जाने लगा। शशि ने निष्प्रभ स्वर से पूछा, "अब कहाँ जा रहे हो?"

"ज़रा कालेज जा रहा हूँ, घण्टे-भर में लौट आऊँगा।" फिर एक कदम वापस आकर, "शशि घबराना मत, मैं और कुछ नहीं करता। और तुम—तुम यहीं लेटी रहो, बाहर मत निकलना।

कपड़े बदलकर शेखर फिर शशि के पास लौटा और थोड़ी देर उसे देखता रहा। फिर ा, "तुम अब सो जाओ, बहुत थकी हो। रात-भर बैठी रहीं, और सबेरे से—"

शशि ने अनुगत-भाव से उत्तर दिया, "अच्छा सो जाऊँगी।"

चलते-चलते शेखर ने दुलार से मुस्कराकर कहा, "मैं बच्चा हूँ कि तुम?"

डेढ़ घण्टे बाद जब वह होस्टलों से बगल में तीन कम्बल, एक दरी और एक नमदा र, जेब में उधार के दस रुपये डाले और मुँह पर तात्कालिक सफलता का भाव लिए ा तो शशि फिर नल के पास निश्चल बैठी थी, और पानी बहे जा रहा था...

शेखर ने अपना बिस्तर झाड़कर, नयी चादर निकालकर चारपाई पर शशि के लिए बिछा और कमरे के कोण के दूसरे भाग में अपने लिए बिस्तर करने का निश्चय करके बाकी ों का गोल वहाँ डाल दिया। फिर वह शशि को चारपाई तक लिवा लाया; उसके मन सतह पर आशंका की एक बर्फीली पपड़ी जम गई और वह शशि से कुछ पूछ भी नहीं ; उसे लिटाकर कुछ खाने का प्रबन्ध करने वह कोठरी में गया तो देखा, अँगीठी में है, रसोई के बर्त्तन बिखरे पड़े हैं, दाल और उबले आलू का शाक एक ओर पड़ा है, -एक रोटियाँ भी बनी रखी हैं, पर काम जैसे बीच ही में छोड़ दिया गया है, आटा भी नहीं है और कोठरी की खिड़की में दो गौरैया चिड़िया ताक में बैठी हैं कि कब चोंच ले जायँ—आटे में चोंच के दो-एक चिह्न भी हैं...उसने कमरे में लौटकर ज़रा ज़ोर से , "शशि तुम—तुम बड़ी नालायक हो!"

शशि ने अपराधी की तरह मुस्कराते हुए कहा, "मैं क्या करती, बर्त्तन समेटने का वक्त ाहीं मिला, अभी ठीक-ठाक कर देती हूँ—"

शेखर ने निहत्थी मल्लाहट के साथ कहा, "मैं यह कह रहा हूँ? तुमने काम क्यों —अच्छा, अब अपनी करतूत का फल चखो, तुम बैठो, मैं थाली परोसकर लाता हूँ।"

"मैंने कोई अपने लिए बनाया है? तुम खाओ—"

"यह तुम्हें दण्ड दिया गया है कि पहले तुम खाओ, फिर बर्त्तन धो-धाकर मैं खाऊँगा—"

"नहीं, यह अन्याय है—तुम्हें खाना पड़ेगा।" फिर—अनिच्छापूर्वक, "बर्त्तन चाहे मुझे मांजने देना—"

"अच्छा, माफ़ किया। अपने लिए भी साथ ही ले आता हूँ—"

शशि ने मुर्झाए स्वर में कहा, "नहीं, शेखर, मैं नहीं खाऊँगी।"

"क्या? पहले हो दिन तुम रोटी बनाकर खिलाओगी और आप उपवास करोगी? क्या ा है मुझे तुमने? मैं—बिल्कुल नहीं खाऊँगा।" फिर स्थिति को कुछ हल्का करने के 'आर्य' शब्द के आकार को ऐसे ढंग से प्लुत करते हुए कि शशि पहचान ले, शेखर की नकल उतार रहा है, "मैं अतिथि-पूजक आऽर्यों की सन्तान हूँ—"

शशि ने किंचित् मुस्कराकर उसके प्रयास को स्वीकार करते हुए कहा, "अतिथि बनकर

मैं सबेरे आई थी—पर तुमने अतिथि रहने नहीं दिया। अब तो मैं—" एकाएक स्वर बदलकर, "हाँ, अब भी अतिथि ही बनाना चाहो तो—" शेखर का मुँह देखकर शशि फिर रुक गई और बोली, "नहीं कहती, लो। तुम्हें दुःखी नहीं करना चाहती, शेखर, मैं ज़रूर खाती, पर मैं—खा सकती नहीं—"

एकाएक चिन्ता से भरकर शेखर ने कहा, "क्यों शशि? क्या हुआ है तुम्हें—तुम्हें कहीं—चोट आई है?"

"मैं—मुझे—मेरी तबियत ठीक नहीं है—"

शेखर ने जान लिया कि इसमें स्वीकृति नहीं, छिपाव है; किन्तु वह शशि को जानता है; अगर उसे कुछ नहीं बताना है तो नहीं बताना है, आग्रह व्यर्थ है।

"तो बिल्कुल नहीं खाओगी—थोड़ा-सा भी?"

"नहीं, शेखर। तुम अपनी थाली यहीं ले आओ, मेरे सामने खाओ तो मेरा भी खाना हो जायगा—"

"......"

"ना मैं किसी तरह नहीं सुनूँगी—नहीं तो मैं समझूँगी, मेरे हाथ का खाना तुम्हें आग्राह्य—"

शेखर चुपचाप कोठरी की ओर चल पड़ा।

बिना भूख मिट्टी के गोले निगलने में भी इतना आत्म-दमन करना पड़ता है कि नहीं, नहीं मालूम। पर शेखर के मन में कहीं धुँधला-सा यह ज्ञान भी है कि शशि से उसकी ओर स्नेह की एक आप्लावनकारी धारा बही आ रही है, और उसके अन्तर का स्नेह स्वयं शशि की ओर उठ रहा है, जैसे जल-प्रपात में गर्त की उत्सुक फेन-धारा को सिर-आंखों पर लेने के लिए उमड़-उमड़ आती है...और यह कि दुःख और लाञ्छना की खाद में यह जो दुहरे वात्सल्य का अंकुर फूटा है, यह मानव-जीवन के सबसे बड़े और अलौकिक चमत्कार का उन्मेष है...

*　　　　*　　　　*
* *　　　* *　　　* *

मैं सचमुच बहुत-सी बातें नहीं जानता था उस समय और पहले तो भाँपने की, कल्पना करने की भी सामर्थ्य नहीं थी। फिर क्रमशः जान गया। किन्तु जानने और न जानने की अवस्थाओं के बीच कोई रेखा नहीं खींच सकता; स्पष्ट याद नहीं कर सकता कि कब घटना के पीछे का पूरा इतिहास मुझे बताया गया। बताया गया अवश्य, क्योंकि वह जैसे मेरे चेतना-कोष की एक अलग मंजूषा है जो मानों कभी उस कोष के बाहर नहीं था, सदा से उसका अंग है--मेरे अस्तित्व का अंग। इतना अभिन्नतम अंग, कि जब याद करता हूँ तो जान पड़ता है, वह सब मेरी अपनी अनुभूति है; शशि की अनुभूति के श्रवण पर टिकी हुई कल्पना या चित्र नहीं। याद में मैं स्वयं शशि हो जाता हूँ, उसके विचार सोचता हूँ, उसकी

तियाँ याद करता हूँ, उसकी वेदना सहता हूँ, उसका मौन, स्वर्गहीन अटूट अभिमान मुझमें
। उठता है... शशि अब नहीं है, किन्तु मैं शशि हूँ ; इसलिए मैं भी अब नहीं हूँ, केवल
। किन्तु अब भी मैं अपने से अधिक उसके दुःख से दुःखी हूँ, उसके अभिमान से उन्नत,
: वह जीती है...

कहते हैं कि जिन घटनाओं का अनुभव बहुत तीव्र अनुभूति के साथ किया जाता है,
चेतना के पट पर पत्थर की लकीर की तरह अमिट खिंच जाती हैं, और उनका स्मरण एक
चित्र का स्मरण होता है, इस या उस रेखा या आकृति का स्मरण नहीं। अर्थात् स्मृति
वे घटनाएँ आती हैं तो एक अनिवार्य, परिवर्त्तनहीन अनुक्रम लेकर, जिसमें स्मरण करने-
की कलम को स्वेच्छा नहीं, घटना की बाध्य अनुगतिकता है...एक दूसरा सिद्धान्त है
तीखी वेदना-जन्य अनुभूति को चेतना भुलाने का प्रयत्न करती है और क्रमशः आत्म-
रणा के इतने पर्दों में लपेट देती है कि उसकी आकार-रेखा बिल्कुल ओझल हो जाती
व्यक्ति की स्मृति से बिल्कुल निकल जाती है। किन्तु मैं देखता हूँ कि तीव्रतम अनुभूति
ये घटनाएँ न तो स्मृतिपट से मिटत हैं, और न पत्थर पर लिखे हुए इतिहास की तरह
य और अचल हैं। देखता हूँ कि कुछ दृश्य हैं जो बिजली की कौंध की तरह जगमग हैं,
और हैं जो बुझ गए हैं और घटना के अनुक्रम का धागा तोड़ गए हैं ; तोड़ ही नहीं,
झा भी गए हैं ; जिससे मैं उन ज्वलन्त घटनाओं को भी ठीक कालक्रम से नहीं देखता —
माने क्रम से वे जलती हुई आती हैं और चली जाती हैं, और मैं दावे के साथ नहीं कह
ता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ, इतना ही कह सकता हूँ कि यह सब अवश्य हुआ;
इसमें यह ध्वनित नहीं है कि केवल इतना ही हुआ या कि इसी क्रम से हुआ...

या कहीं यह बात तो नहीं है कि चरम-शास्ति की प्रतीक्षा करते हुए अभियुक्त के
कारी भाव को दबाकर स्मृति के घोड़े पर रचयिता की आकलन बुद्धि चढ़ बैठी है ? क्या
न्तम दिनों में अपने जीवन का अर्थ, अभिप्राय, उसकी निष्पत्ति और सिद्धि खोजता हुआ
अपने उद्योग की सफलता के मोह में पड़ गया हूँ—केवल अंकन की निर्ममता से डिगकर
न की आसक्ति में पड़ गया हूँ ?

किन्तु क्या सृजन ही सबसे बड़ी निर्ममता, सबसे बड़ी अनासक्ति नहीं है जब कि वह
नी ही प्रतिमूर्त्ति को अपने प्राणों का दान है ?

और क्या घटना का सत्य ही सबसे बड़ा सत्य है, और उसका अनुक्रम ही जीवन का
निवार्य अनुक्रम ? जो स्वीकारी है, उसके लिए क्या जीवन का अनुक्रम ही बड़ा नहीं है ?
तरी और बाहरी दोनों कर्मों के विरोध का अविरोध भी क्या एक अधिक गहरा स्वीकार
है ?

बाहर से आकर शेखर देखता है कि शशि की चारपाई के पास फ़र्श पर मौसी विद्यावती
हैं। उसका हृदय धक् से हो जाता है ; शशि, शेखर और रामेश्वर के त्रिकोण के बाहर

और भी संसार है जो असंगत नहीं है, इस बात की जैसे वह अनदेखी कर गया था। समाज संगति के घेरे से बाहर है, इस बारे में उसे सन्देह नहीं था ; पर मौसी किसी तरह भी बाहर नहीं हैं यह भी असन्दिग्ध है ; और इस दूषित उलझन में मौसी—

शेखर ने स्थिर भाव से प्रणाम किया और कहा, "मौसी, फ़र्श पर क्यों—"

मौसी ने हाथ के इशारे से उसे आशीर्वाद दे दिया, मुँह से कुछ नहीं बोलीं ; शेखर ने एकाएक देखा कि उनका चेहरा बिल्कुल पीला है और आँखों के नीचे के काले अर्धचन्द्र के नीचे से निकलकर दो रेखाएँ ओठों के कोने छूती हुई ठोड़ी को घेरने जा रही हैं ; और शशि का चेहरा उनकी ओर है पर आँखें चारपाई की बाही पर गड़ी हैं—

शशि ने कहा, "शेखर, तुम अभी बाहर जाओ।" वह ठिठका, फिर लौट गया, शशि में उसका विश्वास आत्मविश्वास से बढ़ गया था। आँगन में पहुँचकर उसने पीछे किवाड़ भी बन्द कर दिया, और आँगन में टहलने लगा। एकाएक कोठरी में पहुँचा और सब चीज़ों को उलटने-पलटने और ताक को पुनः साफ़ करके सँवारने लगा···

शेखर और डाक्टर बात कर रहे हैं। दाईं ओर एक पर्दे की ओट में शशि लेटी है ; और पर्दे तथा डाक्टर के बीच में मौसी खड़ी हैं, एक हाथ उनका पर्दे को पकड़े ही रह गया है, मानों इस दुविधा में कि मौसी को उसके पीछे ही रहना चाहिए या बाहर आ जाना चाहिए।

"पेट में अवश्य काफ़ी चोट आई है। बहुत एहतियात करना होगा। कोई सीरियस बात नहीं है, पर आप जानते हैं अन्दरूनी चोट के सेप्टिक हो जाने का अन्देशा रहता है। दवा मैं दे रहा हूँ ; बाकी पूरा विश्राम सख्त ज़रूरी है, और खाने को कोई ठोस चीज़ मत दीजिए।"

"जी।"

डाक्टर नुस्खा लिखने के लिए झुके हैं ; पर्दे की ओट से शशि के उठने से मेज़ के चरमराने का स्वर आता है—

मौसी पूछती हैं, "और पीठ का दर्द—"

"वह तो अपने-आप ठीक हो जायगा—गिरने से झटका आ गया होगा—" फिर कुछ सोचकर, "कहाँ दर्द होता है?" और पुनः उठ खड़े होते हैं ; शेखर अकेला पर्दे की ओर देखता हुआ रह जाता है।

"यहाँ? यहाँ? और ज़रा झुक जाइए तो—" फिर एकाएक बदले हुए स्वर से, "ओह··"

दृश्य फिर पूर्ववत् हो जाता है, मौसी का हाथ वहीं पर्दे पर है, डाक्टर शेखर के सामने है, पर चेहरा दूसरा है।

"क्यों, डाक्टर साहब—"

डाक्टर साहब गहरी दृष्टि से शेखर की ओर देखते हुए कहते हैं, "आप हज़बैंड हैं?"

"नहीं, मेरी बहिन है।"

"ओः माफ़ कीजिए; और ये मदर हैं?"

संक्षेप में, "हाँ।"

मौसी की ओर उन्मुख होकर, "माताजी, ये आप ही के साथ रहती हैं?"

शेखर उत्तर देता है, "नहीं, ससुराल में रहती हैं, हम लोग तो दिखलाने लाए हैं—, क्या बात है?"

डाक्टर चुप हो जाते हैं। देर बाद, जैसे कुछ सोचते हुए, कुछ निर्णय करते हुए, ते हैं, "माताजी, यह पीठ की चोट तो गिरने की चोट नहीं है।"

"और?"

डाक्टर का मौन जैसे उन्हें कहता है, "मैं कई सन्तान का पिता हूँ, आपका अपना अनुभव है—"

मौसी मुड़कर पूछती हैं, "शशि, तुम्हें याद नहीं, यह चोट कैसे लगी?"

शशि नहीं बोलती; मौन का जैसे अन्त करते हुए डाक्टर कहते हैं, "इस चोट के लिए मेन्ट देता हूँ; हल्की मालिश करके सेंक दीजिए। फिर क्षणभर के विकल्प के बाद, र से, अंग्रेजी में, "इट्स नॉट एक्सिडेंटल, इट इज़ ए डेलिबरेट ब्लो द किडनी इज़ र्ड।" (यह आकस्मिक चोट नहीं है, जान-बूझकर किया हुआ आघात है—गुरद गया है।)

शेखर भी अंग्रेजी में पूछता है, "इज़ इट डेंजरस?" (क्या चोट सांघातिक है?)

"नो, बट् इर्रेपेरेबल्..." (नहीं, किन्तु असाध्य—)

"व्हाट ट्रीटमेंट वुड यू एडवाइज़?" (आप क्या इलाज सुझाते हैं?)

"रेस्ट, एंड एंड्योरेंस—करेज; चीफ़ली करेज..." (विश्राम और धीरज; मुख्य-धीरज...)

डाक्टर को ख्याल आता है कि लगातार अंग्रेजी बातचीत भी कुछ अधिक आश्वस्तकर होती; मौसी की ओर उन्मुख होकर कहते हैं, "पूरा विश्राम बहुत जरूरी है—यह डिस्पेन्सरी से ले लीजिए—दो-तीन दिन बाद फिर देखना उचित होगा—" मानों नति है कि रोगी को लाने की बजाय मुझे वहीं बुलाया जा सकता है—

दोतल्ले पर रामेश्वर का कमरा, अपमान की शिंजिनी से तना हुआ शशि का देह-चाप, -सा ही सधा हुआ; सामने रामेश्वर का चेहरा, सजीव दिवार-सा जो नींव हिलने से टूटकर की है, उसके पीछे दो और दीवारें जो गिरेंगी नहीं क्योंकि पहले ही ध्वस्त हैं और की फफूँद से ढेर-सी हो गई हैं...

सास के हाथों फेंकी गई राख को एक हाथ से आँखों के आगे से पोंछते हुए शशि है, "अगर आप सबका यही अटल निश्चय है तो—"

दोनों हाथ जोड़कर वह सिर थोड़ा सा झुकाती है, सिर पर पड़ी हुई राख के दो-चार कण झरकर हाथों को छूते हुए नीचे गिर जाते हैं, वह मुड़ती है, एक क़दम आगे सीढ़ी है, एक सीढ़ी वह उतर गई है—

आरी किचकिचाती है, "देखो बेहयाई—"

आरी की रड़कन से जैसे वह दीवार ढह पड़ती है, रामेश्वर झटककर आगे बढ़ता है और चट्टी पहने हुए पैर की भरपूर ठोकर शशि की पीठ पर पड़ती है, "कुल्टा!"

कमान दुहरी हो जाती है, फिर प्रतिक्रिया से शिंजिनी रुनुक उठती है, "आपको अन्तिम देन पीठ फेरकर नहीं लूँगी; लीजिए, अब दीजिए—" और टूटती दीवार के सामने एक और दीवार खड़ी हो जाती है जो कमान-सी लचकीली है इसलिए टूटेगी नहीं—

आरी उत्साह से किचकिचाती है, "मार और एक, मार—"

पेट में लगी हुई लात से शशि एकबार 'हुंक!' करके रह जाती है, उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, दीवार टटोलती हुई वह घूमती है कि इस आमुख पाई हुई भेंट के बाद अब चले—

तांगे में पीछे मौसी का स्वर, "डाक्टर अँग्रेजी में क्या कहते थे -"

मुड़कर, "कुछ नहीं, कहते थे कि विश्राम बहुत जरूरी है, चुपचाप लेटी रहे नहीं तो तकलीफ़ बढ़ जायगी—"

मौसी शशि से पूछती हैं, "चोट कैसे लगी? गिरने से तो सचमुच—"

शेखर और अधिक मुड़कर, "मौसी, आगे गिरने से कभी पीठ में चोट लगती है? और मुँह-हाथ पर कोई—"

शशि धीमे से, "घर पहुँच लें—"

मौन में केवल तांगेवाले का जीभ चटकाना या कभी-कभी 'ब-ए-च्चो-बएच!'

कोठरी की एक-एक चीज सँवारी जा चुकी है, बल्कि सारा रख-रखाव दो बार फिर बदला जा चुका है। क्या शशि और मौसी की बातचीत खत्म ही नहीं होगी, और क्या वह अब बाहर ही बाहर रहेगा?

और यह जो शशि उसके जीवन में सत्य की तरह पैठ गई है—यह जो वह शशि के जीवन में उल्का की तरह छा गया है, मौसी क्या उसे झेल लेंगी—झेल सकेंगी? जिससे मौसी को बचाने शशि अपने को मिटा रही थी, वह तो अब भी मौसी के आसपास है—

शेखर नल खोल देता है और बर्त्तन लाकर धार के नीचे रखता है, ठण्डी छींटें जैसे उसे सहारा देती हैं—

आखिर भीतर से मौसी की आवाज़ आती है, "शेखर!" शेखर उसमें पढ़ लेना चाहता है कि वह अपराधी ठहराया जा चुका है, या जवाब के लिए बुलाया जा रहा है या बरी है—

र मौसी के पास जा खड़ा होता है। मौसी मुँह उठाकर उसकी ओर देखती हैं, उनके हरे में एक मूढ़ वेदना है, और कुछ नहीं—"बैठ जाओ।"

शेखर उनके पास ही नीचे बैठ जाता है।

"तुम क्या कहते हो?"

न जानता हुआ कि प्रसंग क्या है, शेखर कुछ बोल नहीं सकता।

"मैं तो इसी विश्वास में पली हूँ कि स्त्री का पति ही सब कुछ है। स्त्री भी पति की छ है, मैं जानती हूँ, पर जिस तरह अधिकार देना सीखा था, उसी तरह लेना नहीं सीखा ौर अब बूढ़ी हो गई, कुछ नया नहीं सीख सकती।" स्वर में प्रतिवाद, अभियोग, आदेश छ नहीं है, केवल प्रकटीकरण का भाव—

"शशि कहती है कि अब लौटना नहीं है। चाहने न चाहने का सवाल भी नहीं है, कने न सकने का सवाल है। मैं वहाँ से होकर आई हूँ।"

शेखर चौंकता है, "कैसे?"

"उन्होंने तार देकर बुलाया था, तभी तो आई। वे कहते हैं कि उनके जाने शशि र गई है, और हम सब थे ही नहीं। सास कहती थी कि अगर वह अब—पर छोड़ो, क्या भ याद करके—"

शशि कहती है, "माँ, कहीं उन्होंने तुम्हारा अपमान तो नहीं किया—क्या कहते थे लोग—"

"बेटी, जिन्होंने तुझे निकाल दिया उन्होंने मेरे अपमान में क्या कसर छोड़ी! कहने ी, अब वह तुम्हें घर ढुकने दे तो गोमांस खाए, पतिघातिनी होय—"

"फिर—"

"फिर क्या! लौटना तो अब नहीं है। पर पति को सर्वस्व मानने के लिए ससुराल टना ही एकमात्र उपाय है, यह तो मैं नहीं समझती। जो रास्ता गति ही बन्द कर दे, उस चले बिना भी धर्म निबाहा जा सकता है।" थोड़ी देर चुप रहकर, "शशि कहती है, वह मेरे साथ नहीं लौटेगी, और चाहे कहीं जाना हो—"

शेखर बिना बोले शशि की ओर देखता है।

"माँ, तुम दुःख मत मानो, मैं ठीक कहती हूँ—"

"शशि कहती है, मैं लौट जाऊँ, और जैसे घरवालों ने उसे मरी समझ लिया है, मैं समझ लूँ—मन से नहीं तो कर्म से।"

"क्यों?"

उत्तर शशि देती है। "क्योंकि मेरा जो भोग है, उसमें माँ क्यों फँसें? उन्होंने काफ़ी ग लिया है। अब उन्हें अलग रहना चाहिए, शादी करके उन्होंने मुझे सौंप दिया था' ब जो होता है उसका दायित्व क्यों लें? और मैं क्यों उन्हें लेने दूँ—"

"मौसो, अपराध सबसे अधिक मेरा है, मैंने ही धूमकेतु की तरह आकर सबको इतना दुःख दिया है—मैं—"

"नहीं, शेखर, जो होना था उसका सब ज़िम्मा अपने ऊपर मत लो—" फिर मानों मुख्य प्रसंग की ओर लौटकर, "शशि कहती है कि मैं तटस्थ रहूँ, और समाज जो दण्ड उसे दे उसे उसी को अकेली सहने दूँ।" वे शेखर की ओर देखती हैं, और उत्तर नहीं पातीं, फिर कहने लगती हैं, "पर मैं तटस्थ कैसे रह सकती हूँ? अपने शरीर से जिसे बनाकर अपने लहू से बीस साल तक सींचा, उसे अपने ही हाथ से काट फेकूँ, यह क्या मेरी हार नहीं है? कैसे अनदेखी कर जाऊँ मैं—"

"माँ, ऐसे सोचने से काम नहीं चलेगा। तुम अभी तो मान चुकी हो कि मैं न लौटूँ—" सारी बातचीत में पहली बार आवेश में आकर शशि कहती है, "और मुझे घर ले जाकर मेरी सारी आफ़त तुम अपने सिर पर ले लो, उसमें मेरी हार ही नहीं, अपने को मारकर जो कुछ मैंने किया है वह सब भी इतना विफल हो जाता है कि—" फिर सहसा अपने को वश में करके "और तुम हार से बच जाओ, ऐसा नहीं है।" कुछ देर रुककर, "हाँ, यहाँ न रहने को कहो, तो—"

शेखर कहता है, "मेरे अपराध की चुकती मुझे भी करनी है। शशि से समाज को जो वसूलना है—"

"मैं उसे यहाँ रहने से मना नहीं करती। मेरे साथ नहीं आती, तो उसके बाद यही दूसरी जगह है। लोग मुझे कहा करते थे, पर मैंने बराबर सबको यही उत्तर दिया है कि इन दोनों की एक धमनी है—मैंने तुम्हें कभी अलग नहीं माना, शेखर, चाहे लोकाचार की दृष्टि से हमारा रिश्ता न कुछ के बराबर है। यहाँ भी रहे तो मेरे पास रहने के बराबर है—सिवाय इसके कि मैं अपनी सन्तान को छोड़ रही हूँ—शशि को ही नहीं, तुम दोनों को—"

शेखर की आँखें चरमरा रही हैं, वह चाहता है कि रो उठे, "मौसी, मौसी—मा—"

"माँ, अपनाना मन से होता है, तो छोड़ना भी मन से होता है। तुम अगर मुझे—हमें—मन से नहीं छोड़ोगी तो क्यों तुम्हें क्लेश होगा? और—हम भी—कभी भूलेंगे नहीं कि—"

मौसी शेखर की ओर उन्मुख होकर कहती हैं, "और तुम्हारे पिता को—मैं क्या उत्तर दूँगी—" एकाएक उनका स्वर टूट जाता है, वे शशि के सामने खाट की बाही पर सिर टेक देती हैं, शशि एक बाँह से उनका कन्धा घेर लेती है, और उनके आँचल में अधछिप जाती है; मौसी की किसी अन्धड़ द्वारा झकझोरी जाती दुबली देह को देखता हुआ शेखर भी बिना हिले रो उठता है—फिर एकाएक विस्मरण की राख में से त्रिवेणी की धारा से धुला हुआ नया बोध कहता है कि शशि की हार नहीं हुई—

"यह लो, शेखर—"

मौसी सौ रुपए का एक नोट बढ़ाती हैं, "फिर और भेज दूँगी—"

"मौसी, मैं —"

"यह तुम्हारे लिए नहीं, शशि के लिए दे रही हूँ—अभी वह बीमार है और—"

कुछ हिचकिचाते स्वर में, "मौसी, यह तो ठीक नहीं है—मैं कुछ प्रबन्ध कर लूँगा, र—"

मौसी आहत स्वर से कहती हैं, "शेखर, जहाँ से हारना था, हार गई ; टूटना था, टूट —कुछ तो सन्तोष मुझे हो—"

"माँ से अभिमान मत करो, शेखर, ले लो मैं कहती हूँ—"

शेखर धीरे से हाथ बढ़ाता है, जैसे सफाई में कहते हुए, "शशि अच्छी हो जायगी और मत—" और मन-ही-मन सोचता है कि किसी तरह भी और नहीं—

"ईश्वर करे यह अच्छी हो जाय जल्दी···आगे कोई बड़ा सुख नहीं है, पर दुःख ने की शक्ति शरीर में चाहिए—"

"माँ, मैं बहुत अच्छी हूँ—"

शेखर कहना चाहता है, "मैं साथ रहूँगा—"

इस बातचीत को भेदता हुआ सुन पड़ता है मौसी के सीढ़ियाँ उतरने का धीमा स्वर, स्टेशन जाने के लिए शेखर के पीछे-पीछे उतर रही हैं···

"मौसी, आप चिन्ता न कीजिएगा—"

"अच्छा, शेखर ; देखो परमेश्वर क्या लाता है···" शशि की ओर उन्मुख होकर, शि, मैंने क्या तुझे इस दिन के लिए जना था" उनका स्वर फिर काँपने लगता है··· एक, "शेखर क्या सचमुच तुम आत्मघात करने चले थे ?"

लज्जित मौन···

"इतनी-सी बच्ची थी यह, तब तुमने नहाते हुए लोटा मारकर इसका सिर फोड़ दिया तब भी यह तुम्हें बचाने के लिए झूठ बोली थी कि अपने आप लग गया—नालायक से ही तुम्हारा पक्ष लेती आई है—" उनके स्वर की व्यथा-भरी झिड़की में कितना मान है, कितना माधुर्य—पर यह बात तो शेखर ने पहले नहीं सुनी, पूछता है, "कब, ?" और सोचता है कि आत्मघात की बात टल गई—

मौसी सुनाने लगती हैं, "जब तुम छोटे-से थे, तब पहले-पहल—"

साँझ का सन्नाटा, जिसमें ठिठुरकर जमा हुआ धुआँ आँखों के रास्ते प्राणों में भर जाता कमरे में लालटेन के स्थान पर लैम्प का प्रकाश, शेखर जल्दी-जल्दी खिड़कियाँ बन्द रहा है कि वह धूमिल गोला बोझ कमरे में न जम जाय—शशि चुपचाप सिमटकर लेटी उसकी आँखें शान्त हैं ; और निरायास शेखर के साथ-साथ जाती हैं वह जानता है—

"शशि तुम बड़ी झूठी हो।"

"क्यों ?"

"इतना झूठ ? मुझे तो बिल्कुल ही कुछ नहीं बताया, मौसी से कहा कि गिर गई थी-- इतना झूठ ! और प्रयोजन क्या था भला--"

शशि ने आश्वस्त-भाव से कहा, "मैं झूठ नहीं बोलती।"

"पर सच तो वह नहीं था --मेरे सामने तो सिर्फ चुप लगाई थी, पर--"

"शेखर, मैं समझती हूँ कि अनावश्यक कष्ट ही सबसे बड़ा झूठ है—मौसी को और दुःख देने का क्या मतलब था ? और उन लोगों की बात —उन पर मेरा कोई अभियोग नहीं है, उन्हें तो अब गिनती नहीं—"

"और मैं—"

"तुम ! तुम क्या— पर तुम क्रमशः जान जाते ; तभी बताना कोई ज़रूरी था ?"

"बताया तो तुमने अब भी नहीं ; सच बताओ, चोट कैसे लगी ? किसी ने मारा था ?"

"मैं तो चोट का भी न बताती, पर जब मौसी के आगे सीधी भी न हो सकी और मुँह में फिर खून आने लगा तो बताना पड़ा—"

"खून ?"

शशि की हँसी में हल्की-सी अपराध-स्वीकृति है, 'हाँ, उठने-चलने से वमी होने लगती थी और खून—"

एकाएक नल के पास बैठने का रहस्य उसकी समझ में आ जाता है, वह स्तब्ध-भाव से कहता है, "और तुम काम भी करती रहीं छोट होकर—" फिर मर्माहत-भाव से, "और मुझे रोटी खिलाने को—न खाता तभी तो क्या मर जाता—"

स्वयं ही शान्त नहीं, दूसरे को भी शान्त करनेवाले स्वर में शशि कहती है, "तुमने बाबा की बात बताई थी कि दर्द से बड़ा एक विश्वास होता है—"

"हाँ, क्यों ?"

"दर्द से बड़ी एक लाचारी होती है— जितना बड़ा दर्द, उतनी ही बड़ी—नहीं तो दर्द के सामने जीवन हमेशा हार जाय।"

इसका सत्य शेखर के मन में धीरे-धीरे पैठता है। वह सोचता हुआ-सा कहता है, "हाँ, मैं जानता हूँ—' किन्तु फिर हठ पकड़कर और कुछ विस्मय से भी, "कितनी झूठी हो तुम --झूठ की विशारद !"

"तुम क्या कम झूठे हो ?"

"क्यों, मैंने क्या किया है--"

"अंग्रेजी में भी समझती हूँ, शेखर ! ज्ञान बहुत नहीं है, पर जितना है, पक्का है। नॉट डेंजरस, बट इरेपेरेबल् !" वह मुस्करा देती है...

शेखर स्तब्ध-भाव से चुप रह जाता है...

"पर शेखर, मैं घबराई नहीं। डाक्टर ने जो दवा बताई वह मेरे पास है--काफ़ी है
ी—"

"क्या—"

"एण्ड्योरेंस— एण्ड करेज ; चीफ़ली करेज·· शेखर, मैं अच्छी हूँगी और तुम्हारे साथ
लकर बताऊँगी।"

तांगा दौड़ा चला जा रहा है, मौसी स्टेशन जा रही हैं ; शेखर पहुँचाने जा रहा है
र उनके पार्श्व में बैठा है। उसका मन न जाने क्यों मौसी के प्रति ममता से उमड़ा आ
ा है जिसे वह व्यक्त करने का साधन नहीं जानता; चाहता है कि मौसी का हाथ पकड़ ले
ौर स्टेशन पहुँचने तक थामे रहे—

"शेखर, शशि क्या अच्छी होगी अब?"

"क्यों मौसी? आप घबरा क्यों रही हैं—"

"घबराती नहीं, शेखर, पूछती हूँ कि तुम उसके मन को मुझसे ज्यादा जानते हो?
योंकि यह मन की बात है—अगर उसके मन में अच्छा होने की हठ है तो यहाँ अच्छी
जायगी, नहीं तो नहीं- नहीं तो कहीं नहीं। मैं उसे जानती हूँ—अपनी लड़की से हारने
हार नहीं है मेरी, शेखर!"

"मुझे तो आशा है कि वह जल्दी अच्छी हो जायगी—"

"परमात्मा करे—शेखर, तुम फिर तो नहीं सोचोगे उलटी पुलटी बातें—"

"क्या?"

"तुमने बहुत बड़ा उत्तरदायित्व ले लिया है। आत्मघात की बात सोचने का अधिकार
ही है तुम्हें कभी भी नहीं था जीवन सदा ही एक थाती है और उसे यों फेंकना विश्वास-
त है—"

"मौसी, अब तो मुझे बहुत कुछ करने को है—"

"कब नहीं था, शेखर! तुम देखते नहीं रहे—"

शेखर एकाएक आत्मग्लानि से भरकर कहता है, "अगर मैं सचमुच उस दिन लौटकर
आता, तो-- यह सब न होता!"

"अपने ऐसे नहीं कोसते, शेखर! और क्या पता इससे भी बुरा होता? शशि शायद फिर
रात-भर तुम्हारी प्रतीक्षा करती और सबेरे जो हुआ वह फिर होता—क्योंकि वह तो
ना ही था, कोई सफ़ाई सफ़ाई नहीं थी; रामेश्वर ने तो मुझ से कह दिया कि—" एकाएक चुप!

"क्या कहा, बताइए न--"

"कहा कि--बात तो नयी नहीं थी, केवल पता लगना नया था, और शादी भी एक
ाना था ताकि--शेखर, तीन दिनों में क्या कुछ देख-सुन लिया है मैंने!"

स्टेशन पर मौसी कहती हैं, "अब तुम जाओ, शेखर, गाड़ी के चलने तक ठहरने की
रत नहीं है। बैठ तो गई, अब पहुँच जाऊँगी ही--"

"नहीं, मौसी, क्या हुआ फिर—"

"साँझ से पहले तुम वापस पहुँच जाओ, इसीलिए कहती हूँ। सन्ध्या के झुटपुटे में शशि को अकेले मत छोड़ो—बड़ा उदास समय होता है, खासकर जाड़े में--" एकाएक उनका हाथ शेखर का कन्धा थपथपाता है, शेखर अनुगत होकर प्रणाम के लिए झुकता है, मौसी उसके बाल सहला देती हैं,—"जाओ, बेटा--" उनका कण्ठ रुँध आता है और शेखर जानता है कि उनके करुण आशीर्वाद की छाँह उसी पर नहीं, शशि पर भी है···

*　　　　*　　　　*
* *　　　　* *　　　　* *

साँझ और सबेरा, सबेरा और साँझ—इस प्रवाह ध्रुव सत्य तो एक कि शेखर और शशि साथ हैं, एक सूत्र में गुँथे हैं; कि जीवन में, उद्योग में, एक उद्देश्य है, एक साध्य है जिसमें से स्वयं प्रेरणा का सोता फूटता है···कुछ अवश्य करना है—बहुत कुछ करना है—शशि के लिए और अपने साथ के लिए···

"सुधारक, तुम्हारा ध्यान समाज की तरफ़ कम और भोजन की तरफ़ ज्यादा होता जा रहा है—तय कर लो, पहले सुधारक हो कि रसोइया!"

"क्यों? और सब कुछ की तरह हमारा पाकशास्त्र भी सुधार माँगता है—वह भी तो शास्त्र है—"

"और उसमें भी रचनात्मक अभिव्यंजना की गुंजाइश है—क्यों न? पर सवाल यह है कि तुम्हारे अनुकूल कौन-सा माध्यम है—कलम और काग़ज़, या बेलन और आटा।"

"तुम यह तुलना करती हो तो देखता हूँ, दोनों एक ही बात है। रोटी बनाता है रसोइया, खाते हैं मेहमान, तारीफ़ होती है गृहस्वामी की। किताब लिखता है लेखक, मज़ा लेती है जनता, और मुनाफा पाता है प्रकाशक!"

"देखती हूँ कि शरीर को थोड़ा कष्ट देने से तुम्हारी बुद्धि बहुत ताज़ी हो गई है। अब कुछ काम-धाम आरम्भ करोगे कि नहीं। मैं अब अपना कोई काम तुम्हें नहीं करने दूँगी—"

"अब लिखूँगा। बल्कि बहुत-सा तो लिखा रखा है।" शेखर जल्दी से कहता है, क्योंकि शशि यद्यपि कुछ स्वस्थ दीखती है तथापि इतनी स्वस्थ अभी नहीं है कि ऐसी शपथ ले ले। "लेकिन समस्या लिखने की नहीं है, तुम जानती हो; समस्या यह है कि लिखकर क्या हो। रोटी तो पक जायगी, पर अगर अछूत के घर कोई पाहुने न आए तो?"

"तुम्हीं कहा करते हो कि धर्म की शक्ति वहीं तक है जहाँ तक वह अर्थ को साथ ले चलता है—नहीं तो अर्थ जीतेगा? अगर अच्छा खाना ब्रह्मण का ही होता हो, तब तो ठीक है, पर जब वैसा न हो—"

"पर रुचिकर और स्वास्थ्यकर में भी तो भेद है, और मैं अगर···"

"यों उलटी बातें सोचने से काम नहीं चलेगा - जो स्वास्थ्यकर है वह रुचिकर भी हो, इसका उद्योग करना होगा—"

"शशि, वह जो सुधार-सभा के लिए वक्तव्य तय्यार किया था, उसे पूरा कर दूँ तो कुछ न का हो?"

"पूरा कर दो। जब तक लिखने की सुविधा है, तब तक जितना सब लिख सको लिख लो—क्योंकि जब साथ ही उसे निकालने की भी चिन्ता हो तब लिखने में बाधा होगी—"

"पर वह चिन्ता तो अभी रहेगी ही! अब—"

"अभी क्यों? अभी तीन महीने तुम बेफिक्र लिख सकते हो—कम-से-कम एक पुस्तक जायगी--"

"तीन महीने? और क्या खाकर--अस्वीकृति के लिए?" फिर एकाएक शशि का शय समझकर, "देखो, शशि, मैं इन बातों में नहीं आने का। मौसी जो इलाज के लिए गई हैं वह इलाज में ही जायगा, मेरे खाने में नहीं, और तुम्हारे भी खाने में नहीं, झी? यों काम की नींव खोखली होती है!"

शशि स्निग्ध-भाव से शेखर की ओर देखने लगी। "अच्छा, मौसी से न लेना, मुझसे लोगे?"

तीखे स्वर से, "क्या?"

शशि ने धीरे-से अपने गले में पड़ी हुई सोने की जंज़ीर को छू दिया।

"यही है--बाकी तो सब पीछे छोड़ आई। पर यह एक अकेला है, इसलिए और भी ' नहीं कह सकोगे।"

शेखर ने बात टालते हुए कहा, "अच्छा, चारा नहीं होगा तो ले लूँगा--इसे जमा-जी समझकर रख छोड़ो। अभी तो जो लिखा है उसका कुछ बनाता हूँ।"

पर उसके मन में यह विचार फिर गया कि उतना पर्याप्त नहीं है, कि उसे और बहुत लिखना होगा अगर वह उस माला को बही बनाए रखना चाहता है, और वह माला तो शशि को माँ ने दी थी…

शशि के पास भूमि पर बैठकर, खाट की बाही से पीठ टेककर और उठे हुए घुटनों पर पज़ रखकर लिखने का उपक्रम…चिन्ता ने भी शेखर के मन में वह तीव्रता नहीं जगाई सके खारेपन में लेखनी डुबाकर वह आलोचना करने बैठे; उसका मन अनुभूतियों का या-पट है, अनुभूतियाँ जो मधुर होकर भी स्वयं अपने राग-तत्त्व से पृथक् हो गई हैं ोंकि शेखर अपने-आपसे तटस्थ हो गया है, वह लिखने बैठा है…आलोचना से कुछ धक रचनात्मक वह लिखना चाहता है; और उसके निर्वेद सन्तोष के पीछे तीखी अनु-तियों का भी इतना अवशेष है कि रचना सप्राण हो, सतेज हो…

और यह बोध कि यद्यपि उसकी एकाग्रता में सहायक होने के लिए शशि बिल्कुल चल पड़ी रहेगी, तथापि शेखर के कन्धे के ऊपर से दो आँखें बराबर उस सफ़ेद फलक टिकी हैं, जिस पर शेखर को अपना अन्तरंग बिछाना है…उसे लेखक के भाग्य की ता पर झींकने का क्या अधिकार है जब कि लेखन का सबसे बड़ा पुरस्कार उसे प्राप्त है—

एक रसज्ञ पाठक जो लिखने से पहले ही पढ़ रहा है -- और आस्था से मिलनेवाली शक्ति उसे दे रहा है ?

किन्तु यह ज्ञान तो बाधा है—ऐसे में वह लिखेगा कैसे ?

क्रमशः वह सुख भी पृथक् हो जायगा, शेखर; तब वह केवल शक्ति देगा, तुम लिखो तो···

धीरे-धीरे एकाकीपन आया—स्निग्ध किन्तु सम्पूर्ण···

प्रकाश मन्द पड़ने लगा था ; शेखर आगे झुकता गया था, जब प्रकाश इतना मन्द हो गया कि झुककर भी देखना दुस्तर हो चला, तब उसने घुटने ढीले छोड़कर, पीठ सीधी करने के लिए कन्धे और सिर को पीछे फेंका—

शशि की साँस वह स्पष्ट सुन सका, और उसे भान हुआ कि वह कन्धे पर साँस का गर्म स्पर्श भी अनुभव कर सकता है···वह पृथक्त्व झुटपुटे में घुल गया; शेखर एकाएक शशि की निकटता से उमड़ आया और कुछ लजा भी गया, "तुम सब पढ़ती रही हो ?"

"शेखर, एक दिन मैं नहीं रहूँगी ; तब तुम बहुत बड़े आदमी होगे और कम्पोजीटर तुम्हारी मेज़ के पास खड़े रहेंगे कि तुम्हारे हाथ से काग़ज़ छीनकर ले जायँ। पर तब भी मैं योंही पीछे खड़ी होकर पढ़ा करूँगी—और तुम नहीं जानोगे। लेकिन अगर अच्छा नहीं लिखोगे तो मैं तुम्हारे कान में चिल्ला दूँगी—"

शेखर बत्ती करने को उठा।

"शशि, झुटपुटे में तुम एक गाना गा दो, फिर मैं थोड़ा और लिखूँगा, तब तक खाना आयेगा।" शशि अभी कुछ खाती नहीं, ठण्डा दूध पीती है और कुछ रासायनिक पेय जो डाक्टर ने बताए हैं—

वह चिमनी साफ़ कर रहा था कि कमरे का तरल वातावरण मुखर हो उठा—

"दीप, जल !

तिमिर के रहस्य-गर्भ प्राण के समीप चल—"

पर सहसा रुककर शशि ने कहा "आज नहीं शेखर, कल गाऊँगी—"

शेखर समझ गया, पर उस समय वह वेदना का नाम लेना नहीं चाहता था, धीरे-धीरे शशि के गान के बोल गुनगुनाने लगा। फिर बोला, "यह तो गाना नहीं है—"

"और क्या है ?"

"कविता—शशि, ये शब्द तुम्हारे हैं ?"

"मैं—कवि !"

शेखर ने लैम्प उठाया, मानों उसे रखने का स्थान ढूँढ रहा हो; और उसके भरपूर प्रकाश में शशि के चेहरे को देखने लगा।

तभी तीन-तल्लेवाले बच्चों ने आकर कहा, "हमको आज पैसे मिल गये हैं—कल

 कागज़ लाएँगे—आप पतंग जरूर बना देंगे न?" लड़की बड़े चिन्तित भाव से शेखर मुँह की ओर देखने लगी।

क्षण-भर शेखर चुप रह गया—कितनी दूर की बात थी जब उसने वचन दिया था··· र उसने पूछा। "कितने पैसे मिले हैं?"

"चार आने—"

"और मुझे दो आने—पिताजी कहते हैं कि लड़कियाँ पतंग नहीं उड़ातीं—मुझे रंगीन न्नी मिली है--"

"पतंग नहीं उड़ातीं?" फिर यों दिखाते हुए मानों इसका कारण याद आ गया हो, हाँ, सच तो, लड़कियाँ गुब्बारे उड़ाती हैं।"

"आपको गुब्बारा बनाना आता है?" निराश भाव से लड़की पूछती है।

"हाँ, आता है--"

लड़का कुछ अविश्वास से कहता है, "हूँ--लड़के नहीं उड़ाते गुब्बारे?"

शेखर हँसता है। "अगर बसन्ती चुन्नी ओढ़ लें तो उड़ा सकते हैं।"

शशि लड़की को बुलाकर पूछती है, "तुम्हारा नाम क्या है?"

"कुसुम कुमारी। और भइया का नाम वेद है।"

"वेदकुमार नन्दा " वह मानों अपनी मान-रक्षा करता हुआ कहता है।

"अच्छा, तुम लोग कल कागज़ लेने जाओ तो पहले मुझसे पूछ जाना--"

बच्चों को ज़ीने तक पहुँचाकर शेखर धीरे-धीरे टहलने लगा। परसों वसन्तपंचमी —सवेरे--सवेरे--सवेरे···

वसन्तांक निकल गया था, सम्पादक दफ्तर में नहीं थे; किसी तरह शेखर ने उनका ता लगाकर जा पकड़ा। पहले तो उन्होंने पहचाना नहीं, फिर याद दिलाने पर बोले, 'आप मिलिटरी में भी रहे हैं क्या--"

"नहीं तो-"

"बड़े पंक्चुअल हैं--"

शेखर पी गया।

"जो कुछ पत्र-पुष्प हम दे सकते हैं, कभी देर नहीं करते--आप जानते हैं, तुरत ान महाकल्यान--"

कड़े स्वर से, "जी"

"पर काम तो आफ़िस में जाकर ही हो सकता है"

"तो मैं साथ चला चल सकता हूँ—"

सम्पादकजी ने कन्धे सिकोड़कर कहा "चलिए फिर, अभी ही सही।"

एक कापी के पन्ने योंही उलट-पुलटकर उन्होंने पढ़ते हुए स्वर से कहा, "श्रीचन्द्र-

शेखर, पत्र-पुष्पं यह लीजिए।" धीरे-धीरे दराज़ खोलकर उन्होंने हाथ बढ़ाया और शेखर के आगे पेश किये—दो रुपए। खीसें काढ़ते हुए बोले, "सेवा में--"

शेखर थोड़ी देर आँखें फाड़कर देखता रहा, फिर उसने सम्पादक के हाथ से रुपए खींच लिए। फिर ढीठ होकर बोला, "धन्यवाद।"

दरवाजे के पास पहुँचकर मुड़कर बोला, "आप खाते में 'पत्रं-पुष्पं' लिखते हैं?"

"हाँ—क्यों?"

किन्तु सम्पादक की अवज्ञा उचित नहीं है, धैर्य उसे सीखना होगा···शेखर ने आयास-पूर्वक कहा, "योंही," और जो उत्तर देना चाहता था वह मन-ही-मन दुहरा लिया, "केवल 'तोयं' लिखने से एक शब्द बच जायगा—"

घड़ों तोयं···

पतंग और गुब्बारा देखकर शशि ने पूछा, "यह बच्चों के लिए लाए हो?"

"हाँ।"

"और अपने लिए?"

"अपने लिए? मैं कोई बच्चा हूँ—"

"थोड़ा-सा रंग ले आओ, तुम्हें एक रूमाल ही रँग दूँ—पगड़ी तो तुम बांधते ही नहीं—"

"और तुम?" यह अनिवार्य प्रश्न पूछकर शेखर चुप लगा गया; उसने सोचा कि कल बड़े सबेरे घूमने जाकर वह सरसों के फूल ले आएगा और शशि को उपहार देगा···

"हर बात में मैं जरूरी हूँ?—"

"अच्छा, दोपहर को ले आऊँगा, अभी तुम ठंड में हाथ न भिगोओ—"

जब दोपहर तक बच्चे पूछने नहीं आए तब शेखर ने ही पुकारा, "वेद! वेद-कुमार! कुसुम!"

थोड़ी देर बाद वेद गम्भीर मुद्रा लिए आया और कमरे के बाहर ही खड़ा रहा।

शेखर ने कहा, "क्यों, अन्दर आ जाओ—पतंग नहीं बनवाने—"

वेद ने हतप्रभ स्वर से धीरे-धीरे कहा, "माँ ने मना किया है।"

"क्यों—क्या मना किया है—"

"कहती हैं, वहाँ मत जाओ।" फिर शशि की ओर देखता हुआ, "कहती हैं, भले घर के लड़के ऐसी जगह नहीं जाते—"

शेखर चुपचाप रह गया—कनखियों से शशि की ओर देखकर उसने दृष्टि फिर सामने कर ली।

वेद मुड़कर धीरे-धीरे जाने लगा।

"ठहरो, वेद - ये लेते जाओ।' शेखर ने छहों पतंग, डोर, मंझा और गुब्बारा उठा
हुए कहा, "यह कुसुम को दे देना—इसके नीचे मोमबत्ती जलाने से यह
जायगा -"

वेद का चेहरा क्षण-भर खिल गया, फिर बुझ गया। "माँ डाँटेंगी —"

"नहीं, इन्हें ले जाकर छत पर रख दो; अपने पैसों से दो-एक और ले आना और सब
लेना। यहाँ नहीं आओगे तब तो माँ कुछ नहीं कहेंगी न —"

वेद चला गया।

शेखर कमरे में यों इधर-उधर करने लगा, मानों उसे कुछ काम ही हो।

शशि ने कहा, "शेखर, जाने दो रंग; योंही समय नष्ट करना है; बैठकर लिखो— या
ओ, मुझे लिखाओ; तुम बोलते जाओ, मैं लिखती हूँ"

शेखर चुपचाप उसके पास बैठ गया, यद्यपि वह जानता था कि उस समय वह न लिख
गा, न लिखा सकेगा; उस समय केवल सरसों के फूलों का एक गुच्छा उसकी दृष्टि के
था जो वह कल तड़के नहीं लाएगा...

क्या शशि को वे आँखें आज भी—अब भी—मेरे कन्धे के ऊपर से इस कागज़ को
झाँक रही होंगी जो मैं रंग रहा हूँ, और जेल की इस लालटेन के फीके आलोक में
ी होंगी कि मैं कैसा लिख रहा हूँ?...मैं, जो बड़ा आदमी तो क्या हुआ, होने मात्र
किनारे पर खड़ा अनस्तित्व के गर्त्त में झाँक रहा हूँ.. शशि, मेरे कानों में तुम्हारे
ने का स्वर कभी नहीं पड़ा है—और तुम्हारे स्वर के प्रति मैं बहरा अभी नहीं हुआ
धीमे से धीमे स्वर के प्रति भी नहीं...कन्धे के ऊपर से आती हुई, श्रुतिमूल के पास
के से रोमांचकारी परस से छूटनेवाली तुम्हारी नियमित साँस का ही स्वर मैं निरन्तर
ा रहा हूँ; और झूठ मैंने नहीं लिखा ..

*   *   *
* *   * *   * *

भले घर के बच्चे जिन लोगों के पास नहीं जाते, उन लोगों का एक-एक क़दम उन
ों के बड़े सजग-भाव से देखा करते हैं...जब सूर्य ऊपर चढ़ आया और भीतर-आँगन
ूप आ गई, तब शशि देहरी पर आ बैठी थी कि आकाश देख ले और छत पर किल-
ते बच्चों का स्वर सुन ले; और शेखर उसके पास दीवार के सहारे खड़ा हो गया था।
ु एकाएक उसने जाना, ऊपर से कई आँखें झाँककर उन दोनों को देख रही हैं, और
आँखों में वैसा ही अपलक शीतल पर्यवेक्षण है जैसा केंकड़ों या अन्य ठण्डे रक्त के
ों में होता है...जब उसने स्थिर दृष्टि से ऊपर देखा तो एकाएक कई हाथ उठे
साड़ी या चुनरी का पल्ला आगे खींच लाए; केंकड़ों की आखें उस पर से बिल्कुल
र शशि पर टिक गईं। केवल एक बार वेद ने झाँककर आँगन में देखा, फिर एक

स-संभ्रम दृष्टि सामने डालकर हट गया। शेखर कमरे के भीतर चला गया और धीरे-धीरे टहलने लगा; थोड़ा देर बाद शशि भी चली आई और लेट गई।

काफ़ी देर बाद—तीसरे पहर के लगभग -शेखर ने कुसुम के चीखकर रोने का स्वर सुना और आँगन में निकल आया। थोड़ी देर बाद एक धमकी से चीख दब गई, फिर कोठे की मुँडेर पर कुसुम का चेहरा आ गया जिसके ओंठ अब भी सुबकियों से कुंचित हो-हो उठते थे, पर जिनकी आँखें निर्निमेष नीचे देख रही थीं।

गुब्बारा फाड़ डाला गया था…

चौतल्ले पर रहने के अनेक लाभ हैं; चौतल्ला संसार को काफ़ी दूरी पर रख सकता है, किन्तु चौतल्ला की भी एक छत है; और जाड़े की धूप में संसार की लहरें उछल-उछल आती है…शेखर अनुभव करने लगा कि वह कमरा जो आश्रय था अब कारागार बन गया है, और अब वहाँ अधिक रहना नहीं होगा। वह जानता था कि शशि भी अनुभव करती है, किन्तु दोनों ही जैसे अनदेखी का अभिनय कर रहे थे…

पर यहाँ रहना नहीं होगा, तो क्या लाहौर में कहीं रहना होगा—क्या सब स्थान एक-से नहीं हो जायँगे—हो गये हैं? किन्तु अन्यत्र कहाँ—और कैसे…

सामर्थ्य के नाम पर शेखर के पास थी 'हमारा समाज' की पुनर्मंडित हस्तलिपि, 'कुटुम्ब का इतिहास', समाज और राजनिति, दो-एक और निबन्ध तीन-चार कहानियाँ, अपने दो हाथ और ढीठ मन, और - शशि का स्नेहिल आशीर्वाद —सतपर्णी की छाँह!

पुनः वही चक्कर, प्रकाशक से प्रकाशक…और अबकी बार शास्त्र-सम्मत अनासक्त भाव से, और सिद्धान्तों की बैसाखियाँ छोड़कर! किसी तरह, किन्हीं शर्तों पर 'हमारा समाज और 'कुटुम्ब का इतिहास फलप्रद हो जाय -इसलिए नहीं कि फल वह चाहता है, इसलिए कि इस उपपत्ति का वह निमित्त चुना गया है…

किन्तु समाज में जितने आन्तरिक गठन की उसने कल्पना की थी, उससे कहीं अधिक थी—जहाँ वह जाता प्रकाशक न केवल उससे, बल्कि दोनों पुस्तकों के इतिहास से परिचित मिलते, और उनके मुँह पर एक क्षीण विद्रूप मुस्कान कहती, वे रचना से ही नहीं, रचयिता से भी परिचित हैं…

निराशा का अन्तिम साहस लेकर शेखर उन्हीं सम्पादक के पास पहुँचा जिनसे उसने पत्रं-पुष्पं के नाम पर तोयं पाया था—उसने अनुभव किया कि तोयं मिलना भी बड़ी बात है!

सम्पादक ने उसे वैसे ही सिर से पैर तक देखा, जैसे कोई आसन्न संकट को तौलकर तय्यार होना चाहता हो।

"आपके विचारार्थ कई-एक चीज़ें लाया हूँ —"

"अच्छा, बड़ी कृपा है—आप इन्हें छोड़ जाइए, मैं—"

"देखिए, साफ़ बात अच्छी होती है। आपको प्रकाशनार्थ सामग्री चाहिए, या नहीं
हिए। मुझे उसका एवज़ चाहिए ही चाहिए। और—"

दबे विरोध-भाव से, "आप जानते हैं, हमारा पत्र गृहस्थ-समाज का पत्र है—घरों में
ा है—"

"तो ?"

"हमारे ग्राहक मध्य श्रेणी की ग्राहिकाएँ है।"

"समझा, पर—"

"इसलिए हमें यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि हमारे पत्र में नाम किन लेखकों के
ते हैं।"

अब वह स्थिति नहीं थी कि शेखर इसे निरी अपनी नगण्यता की ओर संकेत समझ
बोला, "समझा। साफ़ बात है, इसलिए धन्यवाद। पर नाम का आग्रह मुझे नहीं
आप नाम न दीजिए, कोई और नाम दे दीजिए, जो चाहे कीजिए।"

कुछ आश्वासन से, कुछ विस्मय से, "ओह—अच्छा।"

"और इसमें आपको सुविधा हो, तो आप कहानी-कविता न लीजिए, लेख लीजिए—
नकल तो लेख प्रायः छद्मनाम से या बेनाम छपते हैं क्योंकि सम्पादक स्वयं लिखते हैं—"

"ओहो—तो यानी आप मेरी गर्दन कटवाना चाहते हैं—"

शेखर ने थोड़ा-सा हँसकर कहा, "मेरा लिखा हुआ आपका समझ लिया जाय तो
कटने की बात हो सकती है अवश्य—"

"और आपका ही लिखा समझा जाय, तो भी मैं बच हो जाऊँगा, ऐसा तो
है—"

"ठीक। पर मैं तो आपको सर्वाधिकार दे रहा हूँ, आप हस्तलिपि के साथ जो करना चाहें
—"

अन्त में यह निश्चय हुआ कि हमारा समाज' की लिपी सम्पादक को दे दी जायगी;
से संशोधित करके पहले क्रमशः छापेंगे, और फिर यदि पाठकों में उत्साह दोखेगा तो
काकार—पुस्तक पर सम्पादक का नाम होगा, लेखक का नहीं। सम्पादक को घटाने-
ने, बदलने, छापने या न छापने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। और इस सर्वाधिकार-
र्जन के बदले शेखर पाएगा पुस्तक-प्रकाशन के दो मास बाद सौ रुपए, या तुरत साठ
; किन्तु तुरत की कार्रवाई के लिए उसे एक शर्त्तनामा लिखकर देना होगा जिसमें ये
बातें लिखी जायँगी।

इसके लिए गवाह भी आवश्यक समझे गए; फलतः जहां शेखर ने पहले उनसे भेंट
थी वहीं पर शर्त्तनामा लिखा गया और शेखर ने हस्ताक्षर कर दिए। वहीं से रुपया
र सम्पादक शेखर को देने लगे तो बोले, "आपने जिन शर्त्तों पर स्वीकृति दी है, उनका
अभिप्राय आप समझते ही हैं। बाद में सम्पादक से मतभेद होने पर आपको गिला

नहीं होना चाहिए। हम सद्भावना से ही सब कुछ कर रहे हैं; आपको यह सन्तोष होना चाहिए कि आपके विचारों का पूरा नहीं तो आंशिक प्रचार तो हो रहा है।"

शेखर इसे कड़वी घूँट करके पी गया। सम्पादक फिर कहने लगे, "आजकल ऐसा ज़माना है कि सद्भावना का श्रेय किसी को नहीं मिलता। आप ही कल को सोचें कि पुस्तक मैंने क्यों दे दी—"

अबकी शेखर से नहीं रहा गया। बोला, "आप अगर डरते हैं कि मैं पीछे पुस्तक पर अपना लेखकत्व का अधिकार जमाना चाहूँगा, तो यह डर निर्मूल है। प्रकाशन के बाद पुस्तक में कुछ रहेगा जिस पर मैं अधिकार जमाना चाहूँगा या जिसका मैं उत्तरदायी भी हूँगा, ऐसा भरोसा मुझे नहीं है। मैंने तो पुस्तक कुएँ में डाल दी—और मुँडेर पर पड़े हुए साठ रुपए उठा लिए।"

सम्पादक चुपचाप शेखर के मुँह की ओर देखते रहे। दो गवाहों में से एक का, जो युवक था, चेहरा देखकर शेखर को लगा कि उसमें कुछ करुणा-मिश्रित उत्सुकता है···शेखर ने नमस्कार करके बिदा ली और बाहर निकल आया।

एकाएक उसके पीछे एक स्वर ने कहा, "क्षमा कीजिएगा—"

शेखर ने मुड़कर देखा, वही युवक कुछ झिझकता हुआ उससे बात करने को चला आ रहा था।

"कहिए—"

युवक ने कुछ इधर-उधर करते हुए कहा, "मेरा नाम रामकृष्ण है। विद्याभूषण को आप जानते हैं न—"

"कौन-से विद्याभूषण? जो जेल में थे? उनसे—"

"हाँ, वही। वे मेरे साथ पढ़े थे। उन्होंने आपकी बात मुझे लिखी थी, पर आपने यह हस्तलिपि क्यों बेच डाली—"

शेखर ने संक्षेप में कहा, "जरूरत थी, इसलिए। पर विद्याभूषण ने क्या लिखा था?"

"आपने ठीक नहीं किया। आपके लिखने में शक्ति है। और विद्याभूषण ने लिखा था कि आपके विचार ऊँचे हैं, और आपमें साधना और लगन है। आपकी प्रतिभा की देश में जरूरत है।"

शेखर ने रूखे-से हँसकर कहा, "बड़ी सख्त जरूरत! और मुझे कुछ रुपए की—"

रामकृष्ण ने कहा, "आप यदि हमारी सहायता कर सकते—"

"किस काम में?"

"पचासों कामों में। इसीलिए विद्याभूषण ने आपकी बात लिखी थी। उनका विचार था कि आप साहित्यिक रुचि रखते हैं इसलिए लिखने और प्रकाशन के काम में सहायता दे सकेंगे; इसीलिए मुझे आपका पता दिया गया था क्योंकि मेरा प्रेसवालों से वास्ता है। पर अगर आप अनुमति दें तो कभी आपके घर आकर पूरी बात—"

"मेरा कमरा है ग्वालमण्डी के चौतल्ले पर। आप कभी भी आइए—"

शेखर ने नम्बर और पहुँचने का रास्ता आदि समझा दिया।

रामकृष्ण ने फिर कहा, "आपने पुस्तक देकर भूल की। केवल साठ रुपए की बात थी तो शायद मैं—हम लोग—"

शेखर ने कुछ कौतूहल और कुछ संकोच का अनुभव करते हुए कहा, "हम लोग कौन? कौन ऐसे परमार्थी लोग हैं जो—"

"हमारा सगठन है—हम अपने कार्यकर्त्ताओं की भरसक सहायता करते हैं—"

एकाएक प्रकाश पाकर शेखर ने पूछा, "आप किसी क्रान्तिकारी दल के सदस्य हैं?"

'यही समझिए। हम जन-सेवक हैं, और आपस में एक दूसरे की सहायता करना अपना कर्त्तव्य—"

"जन-सेवक कभी सहायता का देनदार भी हो सकता है यह तो मैंने अभी देखा नहीं। इसके साधन कहाँ से आते हैं?"

"कहीं से आते ही हैं—पर बातचीत घर ही पर ठीक होगी—मैं आ सकता हूँ न?"

"हाँ, किसी भी दिन।"

"अच्छा, दो-तीन दिन में आऊँगा—"

शेखर ने बिदा ली।

साठ रुपए...बड़ी चीज होते हैं, क्योंकि वे मुक्ति का साधन भी हो सकते हैं...एक घर जहाँ चारों ओर—बल्कि नौ दिशाओं में—पड़ोसियों की रुखाई है और ऊपर से पाले की मार!—बँधे रहने के शाप से मुक्ति का साधन, क्योंकि बिना ऋण चुकाए और आगे बढ़ने का प्रबन्ध किए मुक्ति कहाँ है! वह छोटा-सा कोणाकार कमरा एक दिन जिस आसानी से सप्तपर्णी की छाँह पाकर घर बन गया था, उसी आसानी से सिमट भी गया, क्योंकि अभी छाँह-छाँह उसने जानी थी, जड़ों को जकड़ नहीं। पुस्तकें एक पेटी में चली गईं; कपड़े एक ट्रंक में—शशि के पास अभी था ही क्या!—और माँगा हुआ बिस्तर लौटाकर शेखर जो मोटे खुरदुरे कम्बल ले आया था वे बिस्तरबन्द का काम दे सकते थे...शेखर ने और सब तय्यारी कर ली थी; केवल बिस्तर दोनों पड़े थे, क्योंकि अभी कुछ निश्चय नहीं हुआ था कि जाया कहाँ जाय...शेखर के मन में रह-रहकर विचार आता था कि जब स्थानान्तर करना ही है, तो क्यों न इतनी दूर जाया जाय कि आस-पास के गुम्झरों के लोगों की खींच वहाँ तक नहीं पहुँचे; कि शान्ति से काम किया जा सके, शशि कुछ विश्राम कर स्वस्थ हो सके, और जीवन को कुछ अर्थ दिया जा सके...पूँजी उनके पास नहीं है, वे शून्य से ही आरम्भ करने को प्रस्तुत हैं, ऋण से आरम्भ करने की बाध्यता में क्यों रहें...पर साथ ही उसे कुछ डर भी लगता था कि बहुत दूर जाना कहीं शशि के लिए अहितकर न हो; एक कोमल भावना उसे कहती थी कि पौधा अपने स्वाभाविक वातावरण

से बहुत दूर जाकर नहीं पनपता···शशि में दृढ़ता है और सहिष्णुता है अवश्य, पर···कभी वह सोचता, जब स्वभाव ने उसे और परिस्थिति ने शशि को एक वातचक्र में डाल दिया है जहाँ घूमना-ही-घूमना है, भटकना और विद्रोह करना; तो क्यों न वह सब भूलकर अपने को और शशि को उसी अनिश्चित साहसिक जीवन में झोंक दे; किन्तु फिर शशि की स्वास्थ्य-चिन्ता उसे रोक देती। और इस प्रकार बाहर सब ओर से हाथ समेट लेने पर भी उस कोणाकार कमरे के दोनों भागों में दो नियमित साँसों का सखा-भाव अक्षुण्ण पनपता जाता···

रामकृष्ण दो दिन देर करके आया; साथ एक और व्यक्ति को लेकर। शेखर उन्हें लेकर कमरे के बैठक अंश में बैठा, शशि कोने की ओट हो ली।

रामकृष्ण ने कहा "हम आपसे एकान्त में बात करना चाहते थे—"

इशारा समझकर शेखर बोला, "मेरी बहिन मुझसे अधिक विश्वासपात्र है—और भरसक मेरी मदद भी करेगी—"

"ओहो—तब तो उन्हें हमारे साथ सहयोग करना चाहिए—हमारे पास स्त्री-कार्यकर्त्ताओं की कमी है—"

काम की बातें होने लगीं। शेखर संगठन के बारे में बहुत कुछ जानना चाहता था; किन्तु उस समय की मानसिक स्थिति में पूछने की बजाय कुछ करने की माँग ही उसमें अधिक तीव्र थी, और जब रामकृष्ण ने बताया कि वे फ़ौज के सिपाहियों में ब्रिटिश विरोधी प्रचार करना चाहते हैं ताकि सिपाही विद्रोही होकर भारत की स्वाधीनता का उद्योग करें; तो उसने इसके लिए एक ज़ोरदार वक्तव्य लिखना तत्काल स्वीकार कर लिया—और इतने उत्साह के साथ कि कुछ वाक्य उसी समय उसके मानसिक कानों में गूँजने लगे···

शशि ने अनुमति दे दी; एक ही दिन में अपील लिखी गई और अगले दिन रामकृष्ण आकर उसे ले भी गया। साथ ही वह शेखर को पढ़ने के लिए दो-एक पुराने पर्चे और अपने संगठन की नियमावली भी देता गया और साथ कहता गया कि "इन्हें जरा ध्यान से रखिएगा—" अर्थात् ये ज़ब्त की हुई सामग्री हैं···

यों शेखर दो दिन और ठहरा, फिर दो दिन और, फिर दो दिन और—और सातवें दिन रामकृष्ण के साथ जाकर शहर की किसी गली के घर में चार-पाँच घण्टे डुप्लिकेटर चलाकर अपने लिखे हुए पर्चे की तीन-चार हज़ार प्रतियाँ भी छाप आया।

इसके बाद निश्चय हुआ कि शेखर को अभी कुछ दिन और वहीं ठहरना चाहिए, और यदि उस घर में ठहरना असम्भव है तो रामकृष्ण शहर में कहीं और प्रबन्ध कर देगा। शेखर ने मन-ही-मन सोचा, 'यह सब तो ठीक है, पर जब रुपए खत्म हो जायँगे तब स्थानान्तर जाना कैसे होगा?' पर प्रकाश्य कुछ कह नहीं सका···

*　　　　*　　　　*
* *　　　　* *　　　　* *

आत्मकथा लिखना एक प्रकार का दंभ है—उसमें यह अहंकार है कि मेरे जीवन में

कुछ ऐसा है जो कथनीय है, देय है, रक्षणीय और स्मरणीय है···हो सकता है कि ऐसा हो, किन्तु व्यक्ति स्वयं यह दावा करनेवाला कौन होता है? भूसी स्वयं नहीं कहती कि यह देखो, मेरी कोख में प्राणद अन्न है—वह अन्न दूसरे की देह में बल बनकर बोलता है···

किन्तु क्या मैं ऐसे ही आत्मकथा लिख रहा हूँ? क्या यह आत्म-प्रकाशन है? क्या अब भी मेरा मर्म नहीं कहता कि 'जो मेरा है, जो सारभूत है, जिससे मैं सिक्त और अभिषिक्त हूँ, उसे छिपा लो!' क्या अब भी मैं नहीं चाहता कि जो मात्र मेरे जीवन में महत्त्व का है और इसलिए--शायद—रक्षणीय या देय हो सकता है, उसे मैं अपना ही रहने दूँ और अपने साथ ही ले जाऊँ, गोपन ही रखूँ; क्योंकि प्रकाशन तो विभाजन है; सम्पत्ति का सहभाग हो सकता है, पर अपने-आप का सहभाग मैं कैसे कर सकता हूँ···फिर भी मैं आग्रह-पूर्वक अपने को खोलता हूँ, क्योंकि यह आत्मकथन नहीं है, केवल स्वीकार है, साक्षी है, आत्म-साक्षात्कार है। 'मैं मेरा हूँ, किन्तु केवल इसी अर्थ में और इसी मात्रा में जिसमें कि मैं अमुक का हूँ, और अमुक का, और अमुक का'--इस ऋण का स्वीकार ही मेरा धन है, नहीं तो मैं कुछ नहीं हूँ; एक आकस्मिक अणु-पुञ्ज हूँ जिसका न कारण है, न परिणाम!

नये 'घर' में शेखर किरायेदार नहीं था; लगभग अतिथि था। रामकृष्ण ने आकर बताया था कि अलग मकान तो बहुत तलाश करके भी नहीं मिल सका, और फिर ऐसी जगह रहना भी ठीक नहीं जहाँ बहुत अधिक पूछताछ हो, क्योंकि यह उनके काम के लिए सबसे अधिक शंकनीय बात है; इसलिए उनके दल ने निश्चय किया है कि एक सहयोगी के यहाँ ही शेखर को स्थान दिला दिया जाय; शशि और वह दोनों वहीं रहेंगे और खाने की व्यवस्था भी घर ही से होगी, यद्यपि उन्हें छोटे-छोटे दो अलग कमरे मिल जायँगे और वे चाहेंगे तो खाना भी कमरे में पहुँचा दिया जायगा, अन्यथा खाना वे परिवार के साथ खा सकेंगे। और कमरों के लिए उन्हें किराया नहीं देना पड़ेगा; वह सहयोगी अपने चन्दे के रूप में दल को भेंट दे देगा। केवल दोनों के भोजन के लिए तीस रुपए मासिक की व्यवस्था शेखर करेगा···

और क्रमशः शेखर ने पाया कि वह एक नये जीवन में प्रवेश कर रहा है; समाज के प्रति उसका विद्रोह भाव उग्र तो उतना ही है, किन्तु समाज के प्रति उतना न होकर एक नया रूप ले रहा है—एक अमूर्त्त भावना का विरोध बनता जा रहा है—भावना जिसका धुँधला-सा ज्ञान उसे पहले भी था, किन्तु जो जेल के दस महीनों में कुछ स्पष्ट होती गई थी और अब इन नये सहयोगियों के सम्पर्क से एकाएक स्थिर हो चली थी—इतनी स्थिर और स्पष्ट मानों मूर्त्त होती जा रही हो···कभी-कभी एक भीषण सन्देह उसके भीतर जाग उठता कि वह फिर एक बार मूर्ख तो नहीं बन रहा है, क्योंकि उसके अनजाने उसकी बौद्धिक प्रेरणा को एक सर्वथा अबौद्धिक और स्थूल पात्र दिया जा रहा है जिसमें बँधकर उसकी गति नष्ट हो जायगी और वह केवल विष उत्पन्न करनेवाली रह जायगी, आग नहीं···फिर कभी वह सोचता कि उसका समूचा रागात्मक जीवन एक हवाई पीठिका पर बीतता रहा है और

अब एक मजबूत भित्ति मिल जाने से वह दृढ़ हो जायगा और यथार्थ के साथ अधिक सामंजस्य पा सकेगा···

यों दिन बीतते चले, और वह गुप्त आन्दोलन के फैले हुए जाल में अधिकाधिक उलझता चला। उस उलझने में सन्तोष था, सान्त्वना थी, एक छिपा दर्प था जो जानता है कि अपने को स्वेच्छया भाड़ में झोंक रहा हूँ, और एक आशा थी कि इस प्रकार उठाया हुआ खतरा भूल का भी मार्जन करता है और इसलिए जीवन को सार्थकता देता है। दाँव खेलना बुरा है, किन्तु जब यह जानते हुए खेला जाय कि पाँसे आग के हैं और उन्हें छूने से ही हाथ जलते हैं, तब क्या उसके समर्थन में कुछ भी नहीं है? शेखर जानता था कि यह भावना-मूलक क्रान्तिकारिता बड़ी खतरनाक हो सकती है, क्योंकि इसका बल आकाश-लता का बल है, जिसकी जड़ें कहीं नहीं होतीं और जो इसलिए अपने आधार को ही खा जाती है; किंतु वह यह भी आशा करता था कि जब वह इस मौलिक दुर्बलता को पहचानता है, तब उसका शिकार नहीं होगा; यथासमय बुद्धि उसकी सहायता करेगी और सूने मोर्चे की रक्षा करने आ डटेगी···

और इस अ-यथार्थता के माया-प्रांगण में यथार्थ एक था जिसे वह निष्कम्प करों से थामे था—शशि का प्यार, जिसकी रुद्ध अभिव्यक्ति के नीचे था शेखर का अडिग विश्वास कि वह प्यार ज्ञान से परे है, अनुभूति से बड़ा है···यह विश्वास और यह बोध ही इतना बड़ा यथार्थ हो गया था कि पकड़ में न आए—शेखर कभी इस विषय में सोचने लगता तो एकाएक उसे जान पड़ता कि यही वह सबसे बड़ा अ-यथार्थ है जो और सब पार्थिव को भी अपार्थिव बनाए दे रहा है···

प्यार प्लवन-शीला नदी की तरह है—उसमें स्थैर्य की अवस्था नहीं होती। जिस प्रकार नदी या तो अपने अन्तर्वेग से अपने पाट को काटती और गहरा करती हुई चलती है, या फिर अपने प्रवाह की तलछट से नये कगार बनाती और पाट पूरती जाती है, उसी प्रकार प्यार भी या घटता है या बढ़ता जाता है—या बदलने लगता है—नदी की धारा की ही भाँति।

और अ-पार्थिव महदनुभूति के उस प्लवन में भी शेखर को धीरे-धीरे बोध होने लगा कि कहीं कुछ अवरोध या अटकाव है; उस अगाध और अपरिमेय में कहीं कुछ ऊना है··· उसने अपने को नये काम में डुबा लिया था; और वह देखता था कि शशि उसके काम में हाथ बटा रही है और समाज-शास्त्र का जो अध्ययन उसने बीच में छोड़ दिया था उसे आगे बढ़ाती हुई निरन्तर पढ़ती और संकलन करती रहती है; इससे वह समझता था कि दोनों अपने-अपने काम में पूर्णतया निरत हैं और अपने अस्तित्व को सार्थक कर रहे हैं, और उस सार्थकता को पुष्ट करनेवाला सिरमट है उनका परस्पर समीपत्व, उनका सहयोग और सख्य, उनका यह कितना बड़ा प्यार—शेखर के जीवन का सबसे बड़ा सत्य···किन्तु कभी अचानक उनकी दृष्टि मिलने पर शेखर की आँखें एक अस्पष्ट असन्तोष और झिझक से भरकर परे हट

ातीं और जैसे उसका दृश्यबोध बिखर जाता ; और फिर एकाएक वह अपने-आपसे खीझ
ठता कि क्यों वह इस पूर्णता में एक रिक्त का और एक संकोच का सृजन कर रहा है.. तब वह
स संकोच को धो डालने के लिए शशि के और निकट आने का यत्न करता, अत्यन्त आत्मी-
ता के कुछ-एक क्षणों में शशि के स्वास्थ्य की चिन्ता से भर उठता और जान लेता कि
ीतर कहीं शशि रुग्ण है और अपनी पीड़ा की अनदेखी कर रही है, क्योंकि शेखर के अति-
क्त कुछ नहीं देखना चाहती, कि उस एकाग्रता में एक आतुर आशंका है कि वह और कुछ
ी देखेगी तो सब छिन्न-भिन्न हो जायगा—उस शापग्रस्ता बन्दिनी के दुर्ग की तरह जिसका
ल्याण निरन्तर बुनाई (उधेड़-बुन !) करते रहने में था, और जिसके दर्पण में बाहर की
निया का प्रतिबिम्ब देखते ही सब कुछ गहन-तिमिराच्छन्न होकर ध्वस्त हो जायगा···और इसका
ध होते ही उसके अपने भीतर अगणित आशंकाएँ जाग उठतीं ; उनकी कोड़े की-सी मार
उसका उद्विग्न प्यार और भी तिलमिला उठता, उसे लगता कि वह शशि के और भी
तना निकट आना चाहता है जितना कि हो नहीं सकता, हो नहीं सकता, सोचा नहीं जा
कता, क्योंकि वह उससे भी निकट है जितना कि वेदना से टीस···प्यार की वेदना, कि
दना का प्यार – 'प्रिय, तुम्हारे प्यार की वेदना मुझसे सही नहीं जाती···'

पर्चे और पैम्फलेट लिखने का काम बहुत अधिक नहीं था ; शेखर के पास समय काफी
हता था। क्रमशः वह जानने लगा कि दल का कार्यक्रम केवल प्रचार तक सीमित नहीं है ;
सकी बहुमुखी कार्य-प्रगति थी अस्त्र-संग्रह, विस्फोटक पदार्थों की तय्यारी और अनेक प्रकार
रसायनिक अन्वेषण, गुप्त संग्रहालयों का संगठन आदि कई और भी दिशाएँ हैं···दल के
षय में उसकी जानकारी का वृत्त क्रमशः बड़ा होता जा रहा था, या होने दिया जा रहा
; प्रकाशन के कामों में वह केवल सहायक से बढ़कर सहकारी संचालक-सा हो चला था
ौर इस नाते कार्य की अन्य दिशाओं का ज्ञान उसके लिए स्वाभाविक-सा मान लिया
या था···और प्रचार के अन्तर्गत स्त्रियों और विद्यार्थी-समाज में जाग्रति और राजनैतिक
सन्तोष फैलाने का जो कार्य था, उसमें शशि का सहयोग माँगना इतना अधिक स्वाभाविक
कि शेखर ने कभी संकल्प-पूर्वक वैसा सोचा भी नहीं, योंही कर डाला···शशि भी थोड़ा-
ोड़ा लिखने लगी, और मुद्रण के काम में भी सहायता देने लगी ; दो-एक बार घूमकर
उपे-छिपे पर्चों का वितरण भी कर आई···फिर (न जाने किसकी सम्मति से) सोचा गया
ऐसे लुका छिपी के काम दूसरे भी कर सकते हैं, अतः शशि जहाँ तक हो सके प्रकाश्य
काम करे, और इसके लिए विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों की सभाओं में जावे···

वैसा भी होने लगा। शेखर कभी विद्यार्थियों की सभाओं में चला जाता, क्योंकि प्रचार
योग्यता के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिनमें प्रचार किया जाय, उनकी मनोधारा
धर बहती है, किन्तु वह कार्रवाई में कोई भाग न लेता, वह काम दूसरे ही किया करते।
शि विद्यार्थिनियों या कभी स्त्रियों की मीटिंगों में जाती, और वहाँ से लौटकर शेखरको

सुनाती कि क्या-क्या हुआ, किसने क्या कहा और किसने क्या उत्तर दिया…कभी-कभी उसकी आँखें एकाएक उत्साह से भर उठतीं, और वह मीटिंग में बरती हुई किसी उक्ति का विशदीकरण करने लगती; उसमें इतनी तन्मय हो जाती कि शेखर प्रसन्न होकर सोचता, शशि सुखी है और तुष्ट है, जीवन में अर्थ की कमी उसे नहीं खल रही·· और कभी एकाएक चमत्कृत भाव से वह पाता कि पढ़कर और तर्क और ऊहापोह द्वारा वह जहाँ नहीं पहुँचा था, वहाँ शशि अपने सहज सूक्ष्म बोध द्वारा पहुँच गई है। तब वह मुग्ध दृष्टि से शशि की ओर देखता रह जाता, और शशि की युक्तियाँ और उक्तियाँ उसके आलोकित मनोगुम्फ में गूँजा करतीं…

"हम लोगों की नैतिकता भौगोलिक नैतिकता है—विन्ध्याचल के इस पार उत्तर भारत है, उस पार दक्षिणी प्रायद्वीप है—उसी प्रकार यह नीति की रेखा है, इसके इस पार सत् है, उस पार असत्…इसीलिए हमारी नैतिकता निष्प्राण है; उसका अन्तिम प्रमाण कोई जीवित सत्य नहीं है, केवल एक रेखा है, एक निर्जीव और पिटी हुई लीक…

"इस नैतिकता के मूल में निषेध है, इसलिए यह स्वयं नकारात्मक है। संसार के सभी स्मृति-शास्त्रों की पड़ताल की जाय; उनमें जो वैचित्र्य या विभिन्नता है उसे गौण मानकर एक ओर रख दिया जाय तो सबमें शाश्वत नीति के नाम पर मिलेंगे तीन समान सूत्र—कि सन्तोष कर, सत्य बोल, और अगम्य-गमन न कर। गहरे जाकर देखें तो ये क्या हैं? तीन बड़े निषेध—पहला मानव की स्वाभाविक लोभ-वृत्ति का निषेध, दूसरा उसके सहज भय का निषेध, और तीसरा उसकी सहज द्वन्द्व-वृत्ति का वर्जन! क्यों निषेध नीति का मूल हो—क्यों न नीति इतनी बड़ी हो कि सहज-वृत्ति का बहिष्कार करने की बजाय उसे व्याप्त कर ले, अपने में सोख ले, लील जाय?"

गूँज धीरे-धीरे शान्त हो जाती, फिर अनुगूँज में हठात् एक खोखला-सा स्वर आ जाता, और शेखर के हृदय को सहसा भींचती हुई एक गाँठ कहती कि एक बुनियादी सत्य की अनदेखी पर खड़ा हुआ यह सब विवेक व्यर्थ है, व्यर्थ, और निष्परिणाम है यह बोध जिसमें रस की उपपत्ति नहीं है!

शेखर से प्रोत्साहन पाकर शशि क्रमशः अधिकाधिक बड़ी सभाओं में जाने लगी, विद्यार्थिनियों की समितियों का स्थान कालेज के विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों की सभाओं ने लिया, फिर विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य जनता की सभाएँ भी शामिल हो गईं। शेखर स्वयं न जाता; उत्कण्ठा-पूर्वक शशि के लौटने की प्रतीक्षा करता, और उसके लौटने पर उसके दीप्त चेहरे को देखकर ऐसा प्रसन्न होता मानों उसी ने कोई जय-लाभ किया हो…इस उत्साह में वह यह चीन्ह न पाता कि शशि के चेहरे की वह लाल और गर्म दीप्ति विजय की या उल्लास की ही दीप्ति है या और किसी आन्तरिक उद्वेग की; और अपने उत्साह में वह यह न देखता कि शशि के स्वर में जो तनाव है, वह मीटिंग के या विषय के महत्त्व के साथ

कोई अनुपात नहीं रखता···सन्ध्या आती और रात घनी हो जाती, उनके दो कमरों का अल-गाव जाड़े के चंगुल में जकड़ा जाता, और शेखर शशि के कमरे के असाधारण मौन के कारण उठकर झाँककर देखता कि शशि निर्निमेष छत की ओर देखती पड़ी है · कभी वह इतने से भी नहीं समझता ; फिर कभी वह डर से भर जाता कि शशि स्वस्थ नहीं है और कभी अचानक उसका साथ छोड़कर चली जायगी—किन्तु इससे आगे उसकी बुद्धि न जाती—काम के और कुछ अपने इस प्यार के सम्मोहन ने मानों एक विशेष सीमा से पार देखने की उसकी शक्ति को सुला दिया था···

इसी मन्त्र-बद्ध अल्प-बोध से शेखर ने शशि को एक सार्वजनिक सभा के लिए तय्यार किया जिसमें बहुत-से वक्ता बोलनेवाले थे। असहयोग आन्दोलन की तात्कालिक लहर अपने उत्कर्ष पर थी, और चाहे जहाँ, जैसी भी सभा हो, उसमें राजनैतिक प्रश्नों का उठ खड़ा होना अनिवार्य हो गया था ; इसलिए गुप्त दलों के लोग भी सब तरह की सभाओं में भाग लेने लगे थे कि उनके सहारे अपने प्रभाव का वृत्त और अपने सहायकों की संख्या बढ़ा सकें। इस विशेष सभा में मुख्य विषय 'स्त्रियों के समानाधिकार' पर बोलने के लिए शशि को तय्यार करके शेखर ने स्वयं भी साथ जाने का निश्चय किया था, क्योंकि सभाओं के सहारे ही नये सम्बन्ध-सूत्र जोड़े जा सकते हैं और नये सम्भाव्य सहायकों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है···

सभा में मंच के पास ही एक ओर की अगली पँक्तियों में बैठे हुए शेखर का व्यक्तित्व मानों दो असमान खण्डों में विभक्त हो गया था—एक वक्ताओं की बात सुन रहा था और दूसरा जैसे समूची सभा के आन्तरिक स्पन्दन को भाँप रहा था—उसके पुंज रूप को भी, और पुंज के अन्दर अलग-अलग इकाइयों के अलग-अलग स्पन्दन को भी, उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता का व्यास नापता हुआ···

शशि बोलने को उठी—धीरे-धीरे आगे बढ़कर, एक हाथ की उँगलियाँ हल्के स्पर्श से मेज पर टेककर खड़ी हो गई, एक उछटती दृष्टि उपस्थित जनसमूह को जैसे चीन्ह गई, फिर शशि ने बोलना आरम्भ किया।

उस दुहरी सजगता से देखते हुए शेखर ने जाना कि शशि के सामने आते ही जनता में कौतूहल और औत्सुक्य की एक लहर दौड़ गई है, उसका सामूहिक मन जैसे आगे को झुक आया है, और उसके साथ ही शशि जैसे उसी अनुपात में सिमट गई है, पीछे हट गई है, और एक आवश्यक बात कहने की लाचारी का-सा अनिच्छुक भाव उसके चेहरे पर घना हो आया है···हल्का-सा अभिमान का भाव उसके मन में उठा, शशि इतनी घिरी होकर भी इन सबसे कितनी दूर है, कितनी तटस्थ! जिनका भीतरी जीवन सम्पन्न है, विशाल है, वही बाहरी जीवन से इतने असंलग्न अनासक्त रह सकते हैं···और क्या इस भीतरी सम्पन्नता का ही अनुमान उस सभा को नहीं ललकार रहा, क्या उसी के आकर्षण से वह आगे नहीं खिंची है, क्या···

शेखर सभा के एक-एक चेहरे का भाव पढ़ने में इतना तन्मय हो गया कि कुछ भी सुनना भूल गया ; यों शशि के घने, शान्त, पर किसी आन्तरिक स्पन्दन से गूँजते हुए स्वर की लहरें अनसुनी भी उसके भीतर पैठ रही थीं ; जब तक वह स्वर वैसा था तब तक शेखर आश्वस्त था और अर्थ की उपलब्धि आवश्यक नहीं थी—

पर स्वर की गूँज में एक हल्की-सी कम्पन क्या है, उसका घनापन क्यों बिखरने-सा लगा है, उस शान्ति के नीचे यह विद्रोही तीखापन क्या जगा आ रहा है—

"...आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिंदू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श—किन्तु अभिमान की काही के नीचे आदर्श का पानी क्या अभी बहता है कि बँधकर सड़ गया है ? गृहस्थ-धर्म उभयमुखी होता है ; किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है ; सख्य तो दूर, करुणा भी देय नहीं रही, और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है ; निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, जहाँ चाहे, अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे। और इसकी कहीं अपील नहीं है, क्योंकि स्त्री कभी दुहाई दे तो उत्तर स्पष्ट है कि 'और शादी की किसलिए जाती है ?' यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है, देह नहीं, सदियों की सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढाँचा है—"

शेखर जैसे सोचता-सा है कि शशि सभा से दूर है, किन्तु अपनी बात से बिल्कुल भी दूर नहीं है—अन्य लोग जैसे विषय के बाहर से, ऊपर से बोलते हैं, पर शशि में वह आग-सा सुलग रहा है—क्या इतनी तीव्रता के साथ बोलना चाहिए ? किन्तु नहीं तो बोलना ही क्यों चाहिए, अगर देने को ज्वाला नहीं है तो अँधेरा—

उसकी चेतना अचकचाई-सी फिर सभा की ओर लौटती है—लोग तो सुन नहीं, मुस्करा रहे हैं—और शशि की आँखों की स्थिरता जैसे विचलित सभा में कहीं—कहीं-भी, कुछ-भी खोज रही है जिस पर टिक जाय—एकाएक सभा में कहीं से क़हक़हा उठता है और फिर सारी सभा अट्टहास से गूँज उठती है, जिसकी गड़गड़ाहट को भेदती हैं या तो दो-चार सीटियाँ या शशि का चीखता सा स्वर, "ठीक है, यही है आपके पास देने को, आपका आदर्श, यह हृदयहीन बुद्धिहीन रेंकता हुआ तिरस्कार—"

सभा को क्या हो गया है ? और क्या यह शशि ही है ? नहीं, शशि, नहीं, सभा से लड़ने का कोई लाभ नहीं है, सभा का अविवेक समूह का पुंजगत अविवेक है, उससे—

शशि का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर शेखर लपककर मंच पर पहुँचा और चारों ओर छाई हुई ठठाती हुई अव्यवस्था के बीच से उसे हटाने के लिए उसे खींचने लगा, पर शशि जैसे उसे जानती ही नहीं थी, केवल सभा को जानती थी, और अपने आहत तमतमाए नारीत्व को·· किसी तरह पीछे खींचकर शेखर उसे मंच से हटाकर पीछे के कमरे तक ले गया, वहाँ एक कुर्सी पर उसे बलात् बिठाकर उसने मंच की ओर का द्वार धड़ाके के साथ बन्द कर दिया, उधर से आता हुआ बहुरूप कोलाहल धीमा पड़ा तो शशि फिर उठी, पर शेखर उसे बाहर की ओर ले गया ; जाता ताँगा रोककर शशि को उसमें बिठाकर स्वयं बैठ गया,

लो—" कहकर "किधर बाबूजी ?" का उत्तर देते-देते उसने अनुभव किया कि शशि की अभी तक थर्रा रही है, जैसे तीर को प्रेरित करने के बाद प्रत्यंचा काँपती रहती है…वह ध बैठा रहा, केवल ठिकाने पहुँचकर, ताँगेवाले को पैसे देकर जब वह बाँह का सहारा देने लिए शशि की ओर बढ़ा, तब उसने बड़ी कोमल चिन्ता के स्वर में कहा, "शशि—"

जैसे शशि के भीतर कुछ टूट गया हो, वह लड़खड़ा गई और शेखर की सँभालती हुई ह ने जाना कि वह बेहोश हो गई है…

कमरे में उसे लिटाता हुआ शेखर यह नहीं सोच सका कि मूर्छा देवताओं की देन होती कि असह्य तनाव से अपनी देन की रक्षा के लिए ही वे विस्मृति के फूल बरसाते हैं, कि मन्त्र-सिक्त नींद में प्राणी की सूक्ष्म देह विश्राम पाकर स्फूर्त हो उठती है ; शशि के मुँह छींटे देता हुआ और एक कापी से पंखा करता हुआ वह कुछ भी सोच नहीं सका, भीतरी राहट की लहर सहसा बढ़कर एक उन्मत्त आवेश बन चली…उँगलियों की सूनी पकड़ नों न-कुछ की हड्डियों को मसलने लगी…

एकाएक शशि ने खोई-सी आँखें खोलीं ; उसे खोजकर पहचाना और फिर तनकर हा, "जानते हो वे क्यों हँसे थे, शेखर ?" और चेतना फिर बुझ गई।

वह भीतरी लहर उमड़कर उसे लील गई। उसके हाथ जैसे तोड़ने-फोड़ने को फड़क , उँगलियों की सूनी पकड़ न-कुछ की हड्डियाँ मरोड़ने लगी…शेखर ने पानी का एक लास शशि के पास रख दिया, शरीर के कपड़े कुछ ढीले कर दिए, एक चादर उढ़ा दी ; र एक बार चारों ओर देखकर बाहर चल पड़ा—मीटिंग की ओर…उनकी इतनी मजाल र पशुओं की--शशि को हँसते हैं, शशि को, शशि के जीवन को और उसकी यातना …मेरे सामने हँसे कौन-सा मुँह—…

किन्तु जब वह सभा-स्थान पर पहुँचा तो वह खाली हो चुका था, सभा बिखर गई थी… देर वहीं खड़े रहकर वह लौटा ; बाहर सड़क पर आया तो अचानक एक ओर उसे हँसने स्वर सुनाई दिया। उधर मुड़कर उसने देखा, दो सूट-धारी नवयुवक बाबू चलते हुए हँस थे। क्यों, किस बात पर, यह पता नहीं था, पर उनका हँसना ही जैसे शेखर को गया ; वह उनकी ओर बढ़ा और जान-बूझकर दोनों को धक्का देता हुआ बीच से कल गया।

"ए—देखो जी—"

इसी की शेखर को ज़रूरत थी। उत्तर में उसने कड़ककर कहा, "क्या है ?" और एक सा बाबू को दे मारा। क्षण-भर में दोनों गुत्थमगुत्था हो गए ; बाबू का साथी हक्का-बक्का ता रह गया। किन्तु यह देखकर कि अकेले साथी की जीत नहीं होगी वह भी उलझने तय्यार हुआ, पर तब तक भीड़ जुटने लगी थी ; लड़ाई आगे नहीं चली, लोगों ने खींच-चकर अलग कर दिया और जब तक बाबू लोग उन्हें सब मामला समझाने लगे तब तक र अलग होकर सबको घूरता हुआ चल पड़ा…धीरे-धीरे बोध उसके भीतर जागने लगा।

कि वह अभी एक मूर्खता करके चुका है, पर साथ ही एक विश्रान्ति का, तनाव के मिट जाने का भी अनुभव उसे हुआ···वह जल्दी-जल्दी घर की ओर चला, क्योंकि तनाव का ज्वार उतरते ही शशि के लिए चिन्ता ने उसे आ घेरा।

शशि की मूर्छा टूट चुकी थी, पर शेखर ने उसे छूकर देखा. उसकी देह तीव्र ज्वर से जल रही थी। वह शशि के माथे पर हाथ रखकर सिरहाने भूमि पर बैठ गया।

"क्षमा करो, शेखर—"

"······"

"पता नहीं मुझे क्या हो गया था—हिस्टीरिया इसी को कहते हैं ?"

"नहीं, हिस्टीरिया उसे कहते हैं जो मुझे हुआ था।" शेखर फीकी हँसी हँस दिया। "दो बाबुओं से मार-पीट कर आया।"

"कब ?"

"अभी, जब तुम—सोई थीं।"

"क्यों ?"

"क्यों जानता तो हिस्टीरिया कैसे होता ? क्यों न जानने को ही तो हिस्टीरिया कहते हैं। पर शशि, शशि, शशि—" शेखर से कुछ कहते नहीं बना, वह धीरे-धीरे शशि के केश सहलाने लगा, और जब शशि ने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया तब बिल्कुल निश्चल हो गया···

यह भूल अब फिर नहीं होगी, शशि ; झूठे अहंकार को लेकर मैं अपना सौभाग्य दूसरों को दिखाना चाहता था ; बिना जाने कि सौभाग्य तभी होता है, जब दिखाने को पास कुछ न होने पर भी व्यक्ति सम्पन्न होता है··शशि, तुम्हारे दिन पुनीत हों, क्षण-क्षण पुनीत हों ; शशि···

*   *   *
**   **   **

दिल्ली···

धुएँ की यवनिका में से कभी दायीं ओर यमुना का पुल झिलमिला जाता है, कभी और भी दायें हटकर किले की एक बुर्जी और दीवार ; और कभी धुंध के और भी कट जाने पर सामने जमुना की दुबली श्यामल देह भी रेत के लम्बे परिधान में लिपटी दीख जाती है, और पार झाऊ की झाड़ियाँ, और अधूरे छोड़ दिए गए एक कूएँ का स्तूपाकार गोला···शशि को तकियों के सहारे कुछ उठाकर, ताकि वह खिड़की के बाहर का दृश्य देख सके, शेखर स्वयं उसके पीछे खड़ा है, और भोर का पहला उद्घाटन जो देखा उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। धुंध और धुएँ के बीच से जो कुछ दीखता है, वह सब नया और अपरिचित है, किन्तु उसके नयेपन के प्रति ही एक बन्धुभाव उसमें जागता है क्योंकि यह सब लाहौर नहीं है ; वे दोनों एक विषैले वृत्त से बाहर निकल आए हैं और यहाँ की धुंध के पीछे

वश्य एक नया व्यक्तित्व है जो मित्र का है, बन्धु का है—चाहे उसे पहचानने में कुछ त लग जायँ···

यहाँ आने के पीछे एक इतिहास था। षड्यन्त्र-कारियों के जीवन का जो कुछ नया ज्ञान खर ने पाया था, उसके आधार पर उसने एक छोटा-सा उपन्यास लिख डाला था, जिसमें ला गौण थी; उस जीवन को ज्वलन्त रूप से जनता के आगे उपस्थित करना, और उसको मित्त बनाकर उग्र असन्तोषकारी विद्रोहात्मक विचारों का प्रचार करना ही मुख्य उद्देश्य । उपन्यास इतना 'गरम' था कि प्रकाश्य रूप से उसका मुद्रण हो ही नहीं सकता था, तः प्रकाशक खोजने का सवाल नहीं था; पर रामकृष्ण ने हस्तलिपि उससे लेकर दो-चार क्तियों को दिखाई थी और फिर शेखर को बताया था कि ग़ैर-कानूनी तौर पर उसे पने और बेचने का प्रबन्ध हो सकेगा, और एक 'सिम्पेथाइज़र' ने इस काम के लिए हुत-सा रुपया भी दिया है; फिर यह भी कि पुस्तक लाहौर ही में छपेगी अतः शेखर का हाँ से चले जाना ही उचित है, जैसा कि वह स्वयं चाहता है; और यह सम्भव बनाने के ए दल ने निश्चय किया है कि सिम्पेथाइज़र से पाये हुए रुपए में से ढाई सौ शेखर को दे या जाय, जिससे वह अन्यत्र जाकर अपने योग्य व्यवस्था कर सके। शेखर ने दिल्ली जाने निश्चय कर लिया, क्योंकि बड़े शहर में शान्ति से रह सकना अधिक सम्भव है, और ना अपनी ओर अधिक ध्यान आकर्षित किये कुछ जीविका कमाने की भी व्यवस्था हो कती है, और फिर दल के लिए भी वह बहुत कुछ कर सकेगा··· रात के सफ़र से शशि को न हो, इसलिए प्रातःकाल चलकर वे रात को दिल्ली पहुँचे थे; दल के एक सदस्य ने ुना के पास सस्ते किराये पर ढाई कमरे का एक मकान ढूँढ रखा था जहाँ वे रात को च गये थे। और भोर की पहली किरणें दो परदेशियों को जगाकर दिल्ली के धुँधले दृश्य ाकर परिचित बनाने का प्रयास कर रही थीं···

दिल्ली में यमुना का तीर, ढाई कमरे का सर्वतः सम्पूर्ण मकान, पास में ढाई सौ रुपए, रिचित इसलिए स्वच्छन्द वातावरण, और—सप्तपर्णी की छाँह···अगर देवता हैं तो उन्हें ्यवाद कि यह सम्भव हुआ है, कि शशि की वत्सल छाँह में वह खड़ा हो सका है और ने को उस वात्सल्य के प्रति उत्सर्ग कर सका है···कि उस वात्सल्य को कुचलने के लिए आता कलुष पीछे रह गया है, कि आस-पास एक नया वायुमण्डल है जिसमें परिचय नहीं इसलिए करुणा अवश्य है, कि अपने को होम कर देने में शशि ने अपने जीवन का जो पंगु कर लिया है, उसे पुनर्जीवित करने का, नहीं तो कम-से-कम उसका दर्द भुला देने निर्बाध अवसर शेखर को मिला है···शशि से उऋण होने की स्पर्धा वह नहीं करता, पर पाना ही पाना रहा है, उसकी विनत स्वीकृति की भी आजादी उसने अब तक नहीं पाई अब वह उसे मिलेगी, और वह शशि की सेवा कर सकेगा···

शेखर दिल्ली कोई निश्चित कार्यक्रम लेकर नहीं आया था। तत्काल ही कुछ आमदनी

करने की बाध्यता भी अभी नहीं थी। तथापि उसने अस्पष्ट निर्णय कर लिया था कि कुछ कमाई का काम अवश्य करता रहेगा, और वह काम भी यथासम्भव ऐसा होगा कि उसे अपने ही वर्ग के सम्पर्क (अर्थात् संघर्ष !) में न लाए, बुद्धिजीवी वे हों जिन्हें बुद्धि से जीविका कमाने के अतरिक्त और कुछ नहीं करना है ! वह केवल अपने शरीर का श्रम बेचकर ही काम चलाएगा, ताकि अपनी बुद्धि के घोड़े को पराई उपयोगिता की गाड़ी में न जोतना पड़े—उसका सर्वनाश न करना पड़े।

किन्तु क्या काम वह कर सकता है ? कालेज की पढ़ाई ने उसे शारीरिक उद्यम के लायक नहीं बनाया ! उसकी कुछ सामर्थ्य बच गई है तो कालेज के कारण नहीं, इसलिए कि वह सम्पूर्णतया कालेज का नहीं हो सका ! बहुत सोचकर और दलके दो-एक व्यक्तियों से मिलकर उसने निश्चय किया कि वह साइनबोर्ड पेंटर का काम करेगा—इसमें आज़ादी भी बनी रहेगी, पूँजी भी विशेष नहीं लगेगी, थोड़ी-बहुत कलाकारिता भी दर्शाई जा सकेगी, और—काम चल गया तो आमदनी भी हो ही जायगी। दल का स्वार्थ यह था कि इस प्रकार और भी दो-तीन व्यक्तियों को आश्रय दिया जा सकेगा—वे रात कहीं रहेंगे, और दिन-भर शेखर की 'दुकान' में काटा करेंगे, ताकि रात के आश्रय की जगह कोई सन्देह न हो, वहाँ यही समझा जाय कि दिन में नौकरी पर जाते हैं, और दिन तो कट ही जायगा। बाहर का काम न आवेगा तो अपना ही कुछ-न-कुछ काम किया जा सकता है; दुकान के लिए स्थान दल के खर्चे पर लिया जायगा और बाकी सामग्री का प्रबन्ध शेखर स्वयं करेगा।

फलतः अठारह रुपए मासिक पर नई सड़क के ऊपर की मंज़िल में एक कमरा लिया गया, सामने के छज्जे के बाहर शेखर ने एक बड़ा-सा रंगीन बोर्ड तय्यार करके लटका दिया; और तीन सहकारियों को लेकर दुकान आरम्भ कर दी ! काम कुछ नहीं था, किन्तु काम का दिखावा करने के लिए दो-चार बोर्ड अधरंगे करके इधर-उधर फैलाये गये, पतले बोरिये का एक बड़ा-सा पर्दा रँगा गया, और छोटे-बड़े टीन और कनस्टर इधर-उधर फैला दिये गये। जाड़ों के दिन थे, बहुत सबेरे आना आवश्यक नहीं था; शेखर लगभग ग्यारह बजे वहाँ पहुँचता और बड़े कामकाजी के ढंग से रंग-वंग फैलाकर कुछ-न-कुछ बनाने बैठ जाता; उसके 'सहकारी' प्रायः कुछ पहले आते और आकर कुछ पढ़ते-लिखते रहते, पहले अपना रूप पेंटरों जैसा बनाकर और सामने पेंटरी का उपक्रम करके ! कभी ज़ीने पर पैरों की आहट होती, तो सब किताबें-कापियाँ छोड़कर 'काम' की ओर दत्तचित्त होते या कोई एक सिगरट भी पीने लगता—जब आहट के पीछे जमादार या कोई भूला-भटका मोची या लेस-फ़ीतेवाला निकलता तो सब एक-दूसरे को कनखियों से देखकर मुस्कराते कि अच्छे बेवकूफ बने !

और चार-पाँच बजे शेखर बड़े उत्साह से घर लौटता, देखता कि बहुत मना करने पर भी शशि उठकर कुछ काम में लगी है और तत्काल प्रत्येक काम में टाँग अड़ाकर शशि को बाध्य कर देता कि वह हारकर छोड़ दे। यह समझौता हो चुका था कि शशि नित्य एक शाक और रोटी बना दिया करेगी, और झाड़ू-बुहारी, चौका-बर्त्तन शेखर करेगा, पर नित्य

ी इस पर झगड़ा होता, क्योंकि शशि कहती, चौका-बुहारी उसका काम है, और शेखर निश्चय ानता कि रसोई उसे करनी चाहिए। फिर सहसा धुंध घिर आती, और उनका छोटा-सा घर काएक सारे संसार से सिमटकर अलग बहुत दूर कहीं अलग होकर स्तब्ध हो जाता; स्तब्ध और ान्त और स्निग्ध···पर उस स्निग्धता में एक गहरी उदासी स्पन्दित होती, और उस उदासी ी एक अपूर्व स्निग्धता; जिससे दोनों एक-दूसरे के बहुत समीप अनुभव करते और साथ ही न ाने किस संकोच से खिचे हुए···शेखर सोचता, सप्तपर्णी की छांह में जो शीतलता है, अपूर्णताओं का जो निराकरण है, उसके बाद और कुछ चाहने की गुंजाइश नहीं है; किन्तु ह सोचने में ही एक अपूर्णता उसके भीतर रड़क उठती और वह जानता कि वह कुछ ाहता है जिसे आकार नहीं दे सकता, शब्दों में नहीं बांध सकता···कभी एकाएक बीच में ाशि बोल उठती, 'शेखर, ऐसे आराम से नहीं चलेगा,—अब कुछ लिखना शुरू करो न?' ौर वह उत्तर देने की बजाय सोचने लगता, शशि सचमुच यही चाहती है, या कि इस ाराम के पीछे के खोखल को देखकर ही उससे बचने को कह रही है? क्योंकि खोखल हां अवश्य है, यद्यपि वह उसे देख नहीं सकता, पहचान नहीं सकता, माप नहीं सकता— ौर इसलिए भर नहीं सकता··

दिन आए कि लटकते हुए पत्तों ने एकाएक जाना कि वे बहुत पीले पड़ गए हैं, और ीझ के धक्के से लड़खड़ाकर गिर पड़े···भूले-से झकोले डालों को कँपाकर बाकी पत्तों को ी गिराने लगे। समीर की शीतलता कम नहीं हुई, किन्तु उसके भीतर मानों बड़ी दूर के किसी झूठे वसन्ती वायदे के रोमिल स्पर्श का भ्रम होने लगा; धुंध फीकी पड़ गई, दिन के ाग के साथ पंजे मिलाने में अन्धकार का असुर प्रतिदिन कुछ ढिलाई करने लगा···और शेखर ी दुकान में ग्राहक आने लगे! एक दिन एक साथ ही तीन बोर्ड तय्यार करने का आर्डर पाकर हकारियों समेत वह काम में लगा रहा, शाम को लौटते समय अपनी निबटती हुई पूँजी में से क टिकिया मक्खन और थोड़े-से टमाटर खरीदता लाया और घर पहुँचते ही उत्साह से पकाने ी बैठ गया—डाक्टर ने कहा था, शशि को टमाटर और फल और ताज़े हरे शाक खाने ाहिएँ, और सर्दी लगने से या नमी से बचना चाहिए···अगले दिन वह आमदनी के पांच-सात पए लेकर लौटेगा, इस उत्साह ने उसे शक्ति दी कि वह आज अभी शशि को यह सु-समाचार सुना दे···किन्तु जब वह शशि को खाना खिलाने बैठा—शशि क्रमशः अधिकाधिक अनुगत ोती जाती थी और जो वह कहता था, बिना प्रतिवाद मान लेती थी, यहां तक कि कभी वह वयं इस अतिशय आज्ञाकारिता से विस्मित हो उठता था!—तो न जाने क्यों उसे लगा, शशि उदास है···नयी बात कोई नहीं थी, शशि के चेहरे की वह स्निग्ध उदासी उतनी ही ान्त थी, शायद उत्तर-माघ और फाल्गुन की खिचड़ी सांझ के रंगों का ही असर था···पर ोखर को सहसा जान पड़ा, शशि उदास है, और इसलिए उदास है कि उसके बारे में सोचती ी है ··तब सहसा उसने कहा, "शशि, मुझे बधाई दो, आज दुकान में काम मिला है।"

शशि ने हँसते हुए कहा, "ओ-हो, तब तो बड़ी खुशी की बात है। क्या काम मिला ?"

"तीन बड़े-बड़े बोर्ड—कोई नयी कम्पनी खुल रही है, उन्हीं के तेल-साबुन के बोर्ड, और एक पन्द्रह फुट का नाम का बोर्ड।"

"अच्छा पेंटर साहब! तब तो आपका सितारा चमक उठा—और रंग-बिरंगा!" फिर एकाएक शशि की दृष्टि काँपकर थाली पर जा रुकी और स्थिर रह गई।

"क्यों, शशि, क्या है ?"

"अब तुम लिखोगे नहीं, शेखर ?"

शेखर अचकचा-सा गया···सचमुच, साइनबोर्ड के रंग क्रांति के रंग नहीं हैं···और वातावरण की शान्ति ने उसे प्रोत्साहित न करके तन्द्रा में डाल दिया है—वह कुछ कर नहीं रहा है, निरा साइनबोर्ड-पेंटर हो गया है, और वह भी असफल···

उसने लज्जित-से स्वर में कहा, "क्यों नहीं लिखूँगा ? मैं भूला नहीं हूँ, शशि; मैं लिखूँगा—"

"नहीं, शेखर, तुम कुछ नहीं कर रहे हो। मेरे लिए खाना बनाना और तेल-साबुन के बोर्ड रँगना, इसमें तुम कैसे रह सके हो अब तक भी ?"

तब शेखर ने जैसे अन्टी खोलकर सच बात निकालते हुए कहा, "शशि, मुझे सूझता नहीं क्या लिखूँ। पहले आस-पास का दबाव लिखने नहीं देता था, पर उसी में से लिखने की प्रेरणा भी मिलती थी; अब आस-पास शान्ति है, पर—लिखूँ क्या तुम बताओ ? आस-पास कहीं कुछ हो ही नहीं रहा—"

"शेखर, तुम यह कहो कि लिखने को कुछ नहीं है ? और क्या आस-पास की घटना ही सच है, अनुभव का सच कुछ नहीं है ?"

"अनुभव का क्या सच ? अनुभव में तो झूठ-ही-झूठ आया है—और अनुभव भी मेरा कितना—"

शशि ने आग्रह से कहा, "मैं यह नहीं मान सकती, शेखर, कि तुम्हारे पास लिखने को सामग्री की कमी है। तुम भूले नहीं, अनदेखी कर रहे हो। क्या बाबा मदनसिंह की बात में लिखने को कुछ नहीं है ? क्या मोहसिन से तुम्हें कुछ नहीं मिला जो आगे औरों को दिया जा सकता है ? क्या रामजी अपात्र था ? तुमसे भी बड़ा अनुभव हो सकता है ज़रूर, पर मैं कहती हूँ, जो सत्य तुमने देखा है, जिसका अपने रक्त में अनुभव किया है, उसकी बात लिखो तो अवश्य लेखनीय होगी। बात बड़ी नहीं चाहिए, बात का अनुभव बड़ा चाहिए, आदमी की पकड़ बड़ी चाहिए—बात को वश में करने की लगन और साहस। ताप लकड़ी में नहीं होता, आग में होता है, और तुम अपने अन्तर के सच की बात लिखोगे तो उसमें जरूर आग होगी—ऐसी आग जिसके आगे कुछ नहीं टिकेगा और—जिसमें मेरे संसार का पाप भी धुल जायगा!"

अन्तिम वाक्य से चौंककर शेखर ने प्रतिवाद करना चाहा, पर शशि की आँखों में एक ति जाग उठी थी जिसे देखकर वह चुप रह गया।

"देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा बन रही हूँ। पर इसे अनिवार्य नहीं मानती, स दिन देखूँगी कि यह अनिवार्य है उस दिन—उस दिन—" एकाएक रुककर, "नहीं, खर, तुम सब लोगों को भूलकर अपना निजी सत्य लिखो, जो भी हो—"

अनुभव करके कि शशि जिस ढंग से बात कर रही है, उसका विषय निरे लिखने से धिक गहरा चला गया है, शेखर ने कुछ हँसी-सी में कहा, "तब तो तुम्हारी कहानी लिखूँ -निजी सत्य—"

शशि मुस्कराई भी नहीं, और भी गम्भीर होकर बोली,—"हाँ, जब मैं भी ऐसा सत्य जाऊँगी, निरा सत्य, जिसे तुम तटस्थ होकर देख सकते हो, तब मेरी कहानी लिखना—" एक फिर दीप्त होकर, "और कहानी ऐसी बुरी नहीं होगी, शेखर!"

शेखर स्तब्ध रह गया।

शशि हाथ धोने के लिए उठी। शेखर भी रसोई से उठकर कमरा लाँघकर यमुना की र के बरामदे में जा खड़ा हुआ और एकटक नदी की ओर देखने लगा—नदी का जल में छिप गया था, पर जहाँ उसे होना चाहिए वहाँ धुएँ में भी एक खुलेपन का-सा भान ा था, उसी पर शेखर की दृष्टि टिकी थी।

शशि भी बरामदे में आकर उससे कुछ दूर पर खड़ी हो गई।

शशि ठीक कहती है। कब उसकी बात ग़लत होती है? क्योंकि उसकी हर बात में ने को तपाकर पाया हुआ कंचन होता है—जैसे बाबा की बातों में होता था… शशि की सम-वयस्क है, किन्तु कितना गहरा विवेक है उसमें, कितनी प्रशस्त संवेदना, कितना द ज्ञान – प्रज्ञा! क्यों शशि स्वयं नेता नहीं है, क्यों वह शेखर के जीवन में एक अप्र-, अनुगत, अधीन पद लेकर सन्तुष्ट है; क्यों उसे आगे बढ़ाने के लिए अपनी आहुति दे है, अपने को निरन्तर मिटा रही है? क्या इतना बड़ा आत्म-बलिदान वह स्वीकार कर ता है? क्या गारंटी है कि इतने बड़े त्याग से जो बनेगा, उसका आत्यन्तिक मूल्य उस के बराबर होगा? और हो भी तो कैसे वह इन दामों उसे ले सकता है…

शेखर ने मुड़कर शशि की ओर देखा। झुटपुटे में उसकी आकृति नहीं दीखती थी, यमुना पर टिकी हुई अपलक आँखें दीखती थीं। बिना विवृत्ति के उसने कहा, "शशि, अपने को बराबर मिटाती जाओगी और मैं निर्लज्ज होकर सब स्वीकार करता जाऊँगा— नहीं होगा! तुम जो हो, उसका गौरव मैं जो हूँ उससे पचास गुना--सौगुना ज्यादा -उसकी बलि मैं नहीं लूँगा, नहीं लूँगा, नहीं लूँगा।"

शशि ने चौंककर उसकी ओर देखा, फिर पास आकर कहा, "हूँ, क्या कह रहे शेखर?"

एक गहरी साँस लेकर शेखर फिर बोला, "कहता हूँ, मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ, शशि,

कितना यह कह नहीं सकता ; पर इसलिए तुम्हारा यह अपमान नहीं कर सकता। तुम मुझे कुछ बताना चाहती हो, पर तुम्हारा ज्ञान मुझसे अधिक है, बोध मुझसे बड़ा है, संवेदना मुझसे गहरी है ; और तुम उस सबको मिटा रही हो—मेरे लिए ?"

शशि और पास आ गई। "तुम पूछते हो, तो कहती हूँ। लो सुनो। स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है। ज्ञान सब उसमें संचित है, जैसे धरती में चेतना संचित है। पर बीज अंकुरित होता है, तो धरती को फोड़कर ; धरती अपने-आप नहीं फूलती-फलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है—और वही एक माध्यम है। धरती-धरती ही है, पर वह भी समान स्रष्टा है; क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नहीं, क्लेश और वेदना है ?"

सन्नाटा छा गया। यमुना के ऊपर छाए हुए धुएँ में से जैसे एक नीरव सांय-सांय उमड़ने लगी...

"मैं अपने को मिटा नहीं रही—जिस शेखर को मैं देखती हूँ, उसके बनाने में मेरा बराबर का साझा होगा, इसलिए लेने-देने का कोई सवाल नहीं है ; और तुम्हारा यह झिझकना और कृतज्ञता जताना ही अपमान है।"

और घना सन्नाटा, और फिर और भी नीरव सांय-सांय की और भी उच्छृंखल उमड़न —और उस उमड़न के बीच में से सहसा आलोक का लहरिल पारावार और शशि के अदूरत्व, अपार्थक्य का प्लवनकारी बोध—शेखर ने हठात् आगे बढ़कर केशों और त्वचा के संगम-स्थल पर शशि का माथा चूम लिया, और फिर साँस के-से स्पर्श से उसके ओठ...

"नहीं, शेखर, नहीं, वह नहीं—" एकाएक टूटते-से स्वर में, "वे जूठे हैं।" दंशित-सी शशि पीछे हट गई, और उसकी तीखी सिसकी सुनकर ही शेखर ने जाना कि क्या घटित हो गया है...और जानकर जैसे वह एकाएक जड़ित, हतसंज्ञ हो गया, और सामने शशि को रोती खड़ी देखकर भी न हिल सका, न बोल सका, निर्निमेष शशि के धुँधले चेहरे की ओर देखता रह गया।

"शेखर—"

"......"

"शेखर, मुझे क्षमा करो—वह नहीं...तुम नहीं जानते, मेरे जीवन का एक अंग है। जो जूठा हो गया है, और एक ऐसे व्यक्ति के स्पर्श से--जिसकी – छाँह से भी तुम्हें — बचाना चाहती हूँ..."

बहुत धीरे से, मानों अपनी ही वाणी से लज्जित, "शशि..."

"सच कहती हूँ, तुम नहीं जानते...अगर जीवन से उसे बिल्कुल निकालकर फेंक सकूँ, तो फेंक दूँ—पर सकती नहीं...मैंने उसको—अपने विवाह को बहुत निकट, बहुत सच मानकर झेला...इसके लिए तय्यार थी कि वह मुझे मिटा दे, नष्ट कर दे ; पर उसने नष्ट नहीं किया, केवल पंगु करके, जूठा करके छोड़ दिया...और अब..."

शेखर ने साहस बटोरकर एक हाथ शशि के कन्धे पर रखा और अनुभव किया कि कन्धा भी संकुचित हो गया है, फिर भी किसी तरह कहा, "शशि, मत रोओ···"

शशि सिसकती रही। शेखर ने फिर कहा, "तुम योंही अपने को क्लेश दे रही हो—वह पात्र नहीं है, शशि···वह निकल गया है तुम्हारे जीवन से—अनुताप मत करो—उसके लिए रोना—"

एकाएक और भी फूटकर, बिखरकर शशि ने कहा, "मैं उसे कब रोती हूँ—मैं अपने प्यार को रोती हूँ जो मैंने उसे दिया···"

रात मूर्तिमती करुणा है, अन्धकार देवताओं का कोई रामबाण मरहम है जो कुल वेदनाओं की टीस को सोख जाता है···

अँधेरे में घिरे हुए उस दुहरे एकान्त में एक दूसरे की व्यथा के स्पन्दन को देखते हुए, न देखकर स्पष्टतर जानते हुए और इसलिए न देखकर आश्वस्त, शशि और शेखर चुपचाप पड़े रहे। शशि का सिसकना क्रमशः मूक हो गया था, और वह धीरे-धीरे टटोलती-सी भीतर चली गई थी। देर बाद शेखर ने भी भीतर जाकर रसोईघर की बत्ती बुझा दी थी, और फिर अपने बिस्तर पर जा लेटा था···

अन्धकार में उसे कुछ नहीं दीखता था, किन्तु शशि की वेदना स्पष्ट दीखती थी···वह तो सदा दीख सकती थी, पर इस अन्धकार में उसे कुछ अधिक भी दीख रहा था जो पहले नहीं दीखा था···सप्तपर्णी की छाँह पारिजात की छाँह है, उसमें निरी सान्त्वना नहीं है, उसमें उत्साह है, उसमें गन्ध है, रस है, प्रस्फुटन है; निरा अतीत नहीं, उसमें स्पन्दित वर्त्तमान और, और उनींदा भविष्य भी है—और इसीलिए उसमें इतना बड़ा शून्य है जो अभी तक नहीं भरा···

शेखर ने देखा, निर्निमेष आँखों से, निष्कम्प दृष्टि से देखा···देखा···देखते चौंक जायँ सुनकर तो चौंक जायँ—पर उस प्यार को कहना ही क्यों जरूरी है?

शेखर, तुमने आरम्भ से ही क्यों नहीं अपनी नियति को देखा?

* * *
** ** **

जाड़ों का एक और प्रभात—वही क्रमशः धूसर, ताम्रलोहित, लाल और फिर सफेद होनेवाली प्रातःकालीन धुन्ध, फिर दिशाहीन आलोक, फिर अलसाई-सी पहली रवि-किरण···किन्तु किरण से पहले ही शेखर उठा और शशि के कमरे की खिड़की के पास जा खड़ा हुआ, काँच पर जमी हुई नमी को एक उँगली से नीचे बहाकर, भीतर झाँकने लगा।

शशि सोई थी—मुद्रा से जान पड़ता था कि रात-भर जागकर अभी सोई है; उसका शरीर छुईमुई-सा सिकुड़ा हुआ था, पर तकिये पर एक ओर झुका हुआ चेहरा जैसे आगे उठा था, ओठ किंचित् खुले थे, और माथे से आगे को लटक आया बालों का एक गुच्छा उसके श्वास-प्रश्वास के साथ झूल रहा था···

शेखर बहुत देर तक निश्चल खड़ा उसके चेहरे को देखता रहा--उसकी दृष्टि एक अत्यन्त स्नेहल स्पर्श से उसे सहलाती रही, जैसे उस उन्मुक्त लट को शशि का प्रश्वास···शशि की पलकें पारदर्शी-सी जान पड़ती हैं, यह उसने पहले भी लक्ष्य किया था ; पर अब उसे लगा मानों समूचा चेहरा पारदर्शी हो गया है--मानों इतने दिनों चुपचाप सही हुई यातना ने उस स्वच्छ त्वचा को और भी शोधकर एक आन्तरिक कान्ति दे दी है···शशि का चेहरा पीड़ित चेहरा नहीं है, और इस प्रशमन के क्षण में तो कदापि नहीं--किन्तु उसे देखकर सहसा किसी व्यापक शुभ्र वेदना का बोध हो आना अनिवार्य था—ऐसी वेदना, जो चाँदनी की तरह नहला और कँपा जाय···

'नहीं, नहीं, शेखर, वे जूठे हैं—' क्या कुछ भी ऐसा है जो उस चेहरे को झुठला क्या, छू भी गया हो—जिस प्रकार श्वेत दीप्ति की सीमा तक तने हुए धातु को कोई छू नहीं सकता, उसी प्रकार यह वेदना से मँजा हुआ दीप्त चेहरा भी अस्पृश्य है—जब तक कि कोई समान दीप्ति ही उसे छू न ले—

किन्तु शशि की तपस्या क्या उसे सचमुच इतनी दूर ले गई है—इतनी अलंघ्य, अपरिमेय दूर—क्या वह शोधक दुःख उसी के आगे स्फटिक की दीवार-सा आ गया है—जिसमें सब-कुछ अतिशय स्पष्ट दीखे, किन्तु हो अस्पृश्य ?

धुन्ध का अन्तरालोक बढ़कर किरण बन गया ; शेखर ने एक लम्बी साँस ली जो हठात् शशि के लिए आशीर्वाद बन गई, फिर दबे-पाँव वहाँ से हटकर काम पर जाने की तय्यारियों में लगा···अच्छा ही है कि शशि अभी सोई रहे, विश्राम भी कर ले और--क्या जाने, उसके जागते ही वह घना संकोच भी उमड़ आये जो ··

पेन्टर-मण्डली फिर दिन के अधिकांश भर काम करती रही ; बोर्ड तय्यार हो गए। साँझ को अभी सूखे भी नहीं थे कि गाहक लेने आ गया, दो उसी दिन चले गये और तीसरे के अगले दिन जाने की बात ठहरी—दो के दाम भी चुका दिये गये। शेखर ने आमदनी में दो हिस्से किए--एक उसका था, दूसरा दल का--दल अनेक प्रकार के खर्च चलाता है जिसमें प्रत्येक सहयोगी को भी भरसक कुछ देना होता है...आय के पंचमांश से लेकर आधे तक देने की परम्परा है ··

सात रुपए लेकर शेखर घर की ओर चला। यह अक्षरशः पसीने की कमाई है—मजूरी है ; और आज वह दल को भी कुछ दे सका है और अपने उद्योग का फल लेकर घर की ओर—शशि की ओर—भी जा रहा है···शशि, जो प्रिय सदा से थी, किन्तु जो—किन्तु जो—शेखर को शब्द नहीं मिलते, वह केवल कल्पना कर सकता है कि प्रिय का कोई विराट्-रूप हो, जिसमें जीवन की इयत्ता समा जाय, तो वही रूप शशि ने धारण कर लिया है···

किन्तु कल जिस उत्साह से वह काम मिलने की बात लेकर घर लौटा था, आज न जाने क्यों काम का फल लेकर लौटने में वह उत्साह नहीं जागता, ज्यों-ज्यों वह घर के

समीपतर आता जाता है त्यों-त्यों एक अज्ञान आशंका, एक झिझक उसे पकड़ रही है··· निस्सन्देह शशि आनन्दित होती, किन्तु वह जैसे डरता है, उस आनन्द में भी वह सहसा हताश हो जायगा, और उस हताश को तुरत पहचानकर शशि भी न जाने किस अभेद्य दूरी में सिमट जायगी······और यह है प्रेम का विराट्-रूप—निस्संशय विराट् और निस्संशय प्रेम··· !

घर के बाहर वह क्षण-भर रुका तो ठिठका रह गया। भीतर शशि गा रही थी—पंजाबी के टप्पे—पहाड़ी सुर में जो वैसे ही पहाड़ों के सूने अकेलेपन का, अगम्य ऊँचाइयों और अलंध्य दूरियों का सुर होता है, और जो शशि के गले की गूँजती हुई तरलता के कारण और भी असह्य हो गया था, मानों किसी निर्व्यक्तिक असीम विरह का सुर हो···

दो पत्तर अनारां दे—
दुःख साड्ढा समझनगे
दो पत्थर पहाड़ां दे !
मेरा चोला लीरां दा—
इक वारी पा फेरा
तक हाल फकीरां दा !

शेखर को एक ग्रीक गाथा याद आई जिसमें किसी दुःखिनी वनदेवी के आँसू कल-स्वनित जल-प्रपात बन जाते हैं जिसका प्रवाह हर आते-जाते पथिक के भीतर करुण चीत्कार कर उठता है और एक टीस छोड़ जाता है—फिर उसने धीरे-धीरे भीतर प्रवेश किया···

आहट सुनते ही शशि चुप हो गई ; वह मौन एकाएक शेखर को इतना घना लगा कि उसने तत्काल कुछ कहने के लिए कहा, "लो आज कमाई करके लाया हूँ।"

"अच्छा ? कितनी—" शशि हँसने का प्रयत्न करती है।

"तुम लो तो, बहुत है—बे हिसाब। लो हाथ बढ़ाओ—"

शेखर एक-एक दो-दो करके रुपए निकालकर शशि के हाथ में रखने लगा। जब सातों रुपए निकल आए और उसका हाथ रुक गया, तब शशि ने चिढ़ाते हुए स्वर में कहा, "और ?"

"और क्या ? एक दिन की तो कमाई है।"

शरारत से हँसकर, "बस, कुल इतनी ही ? इसी के लिए हाथ फैलाने को कहते थे ?"

थोड़ा-सा चिढ़कर पर हँसते-हँसते ही शेखर ने कहा, "और क्या अब—जो कुछ था, सब तो दे दिया—" और एकाएक अपनी बात के गूढ़तर अभिप्राय से स्तम्भित होकर चुप हो गया।

उस चुप्पी से वह गूढ़तर आशय शशि पर भी व्यक्त हो गया, उसका चेहरा गम्भीर हो आया, आगे बढ़ा हुआ हाथ नीचे लटक आया, और वह धीरे-धीरे भीतर चली गई। भीतर से शेखर ने रुपए रखे जाने की खनक सुनी, फिर स्वयं बरामदे की ओर चला गया।

फिर एक सूनापन उसके मन में छा गया—आँखें अनदेखती हो गईं...उस शून्य में वह धीरे-धीरे शशि से सुने हुए शब्द गुनगुनाने लगा—

दुःख साड्ढा समझनगे

दो पत्थर पहाड़ाँ दे--

दो पत्थर पहाड़ाँ दे...

पत्थर क्या समझेंगे दुःख—शायद यही अभिप्राय है कि उस दुःख को कोई नहीं समझ सकता...दो पत्थर पहाड़ाँ दे...किन्तु पत्थर पहाड़ों के हैं, जिन्होंने सदियों तक बर्फ़ीली आँधियों के प्यासे प्यार के नीचे चोटियों को छीजते देखा है, सदियों तक पवन को अन्धी उँगलियों से नंगी चट्टानों पर जीवन की हरियाली की एक छोटी-सी फुनगी को भी छू सकने की निराशा में हाहाकार करते देखा है, जो अभिमान कि ऊँचे-ऊँचे उठे हैं और अहंकार को तरह ढह गए हैं—पहाड़ों के पत्थर शायद सचमुच दुःख को समझ सकते हों...दुःख साड्ढा समझनगे दो पत्थर पहाड़ाँ दे...

शशि फिर उसके पास आकर चुपचाप खड़ी हो गई। शेखर को उससे पहली साँझ याद आ गई; और एक क्षण के लिए उसे लगा कि उस साँझ की घटना को आवृत्ति दिनों के बाद दिनों और बरसों के बाद बरसों तक होती चली जा सकती है—निष्परिणाम आवृत्ति ...और फिर भी वह कुछ नहीं माँग सकता, क्योंकि उन दोनों की धमनी एक है, चाहे शाप की एकता से एक, चाहे वरदान को...

शशि ने कहा था, वह सृष्टि है, जिसमें वह सहभागी है, समान स्रष्टा है...किन्तु यह निर्माण है, रचना है—जीवन के अशेष विफल-पथ पर यह अन्तहीन अभियान?

"शेखर, मैं वापस चली जाऊँ?"

"कहाँ—"

"वापस—वहाँ जहाँ दे दी गई थी—"

चकित और आहत स्वर में शेखर ने पूछा, "शशि, क्या कह रही हो तुम—वहाँ वापस! यह क्या अभी हो सकता है?"

"हाँ। वे—प्यार देना जानते होते तो शायद न हो सकता; पर अभी शायद—हो सकता है। अधिक-से-अधिक—"

"वह मैं नहीं पूछता, शशि, तुमसे पूछता हूँ—क्या यह अभी हो सकता है—तुम्हारी ओर से अभी—"

'ओह मैं...शेखर, मैं देख रही हूँ कि मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा हूँ, तुम्हें नीचे खींच रही हूँ। और वह मैं कभी नहीं होने दूँगी--उससे कहीं आसान है लौट जाना—"

"तुम कैसी बातें करती हो, शशि? मेरी तो बात ही अभी छोड़ो—तुम लौटने की सोच कैसे सकती हो—"

"क्यों? अगर उसमें तुम्हारी उन्नति है, तुम्हारी सुविधा है, तो—"

"और तुम्हारी अपनी आत्मा कुछ नहीं है? ऐसा कोई कुछ नहीं हो सकता जिसके लिए आत्मा का हनन—"

"मेरी आत्मा उसमें नहीं मरेगी, शेखर। मैं वहाँ भी जो लूँगी—जो सकूँगी—क्योंकि तुम्हें बचाती रहूँगी—तुम्हें बढ़ाती रहूँगी।...तुमसे दूर हटती हूँ, शेखर, क्योंकि पंगु हो गई हूँ; इसलिए नहीं कि—प्यार का अर्थ नहीं जानती। कोई स्त्री प्यार नहीं जानती जो एक साथ ही बहिन, स्त्री और माँ का प्यार नहीं देना जानती—और मैं लौटकर इसलिए जी सकूँगी कि—माँ की तरह तुम्हें पाल सकूँगी—तुम नहीं जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है—अब और भी अधिक!...मैं ज़रूर जी लूँगी। जीवन वह कीड़े का होगा, पर नारी अग्निकीट हो सकती है, जिसके पेट में निरन्तर आग जलती है..."

शेखर ने क्षुब्ध स्वर से कहा, "मैं यह सब नहीं सुनूँगा, शशि; तुम तो पागल हो गई हो—मनोवैज्ञानिक केस हो गई हो। तुम—" शब्द न पाकर उस कमी को आवेश द्वारा पूरा करते हुए, "तुम निरी हिन्दू हो गई हो—आत्म-पीड़न को तपस्या माननेवाली हिन्दू! पर तुम्हारा आत्म-हनन मुझे स्वीकार नहीं है—और वैसी मूर्खता दो जन भी कर सकते हैं।"

शेखर ने देखा कि शशि चुपचाप रो रही है। न जाने क्यों एकाएक कड़े पड़कर उसने कहा, "शशि, तुम्हारे दुःख से मेरा कुछ बने, तो धिक्कार उस बनने को! तुम्हारे—"

"तुम नहीं समझते, शेखर; तुम समझते हो, मैं दुःख को तूल दे रही हूँ। क्या मैं चाहती हूँ वहाँ लौटना? पर मैं प्यार का नाम नहीं लेती, क्योंकि—मुझसे नाम लिया जाता नहीं—उतना प्यार तुम सोच भी नहीं सकते, शेखर!"

और उसे फिर वहीं आहत और निर्वाक् छोड़कर शशि भीतर चली गई; और थोड़ी देर बाद उसकी सिसकियों का दुर्बल स्वर शेखर तक पहुँचने लगा...

क्या शशि ठीक कहती है? अगर शशि उसे नीचे घसीटती है, तो और क्या है जो उसे उठाएगा, उसे रसातल ही जाने से बचा लेगा? और पंगु होने की बात—क्या वह शशि के भीतर की ही कठोर निर्ममता नहीं है जो उसे पंगु बनाती है, जिसने उसके जीवन को एक गाँठ में बाँध दिया है और खुलने नहीं देती—क्या उस गाँठ को चुपचाप स्वीकार करना ही कर्त्तव्य है, क्या उसमें बँधे हुए जीवन को विद्रोह के लिए उभारना कर्त्तव्य नहीं है? अगर जीवन वरदान है—अगर जीवन कुछ भी अर्थवाद है, तो उसकी प्लवनशीलता को बनाये रखना कर्त्तव्य है; डूब जाने को निरीह भाग्यवाद से स्वीकार कर लेना जीवन की अवहेलना है और पाप है...हार ही झूठ है, हारा हुआ ही जूठा है; जो परास्त नहीं है उसमें मलिनता कौन-सी है? शशि आहत है, किन्तु जो ग्लानि उसे सुझाती है कि जीवन जूठा हो गया है, क्या वह ग्लानि ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि जीवन की शक्ति परास्त नहीं हुई—और इसलिए जूठी भी नहीं हुई, अनाहत और अनवनत है? नहीं, शशि को हारने नहीं देना होगा, इस तरह घुल जाने नहीं देना होगा—वह स्वयं नहीं लड़ती तो उसकी ओर से लड़ना होगा—

शेखर ने शशि के पास जाकर कहा, "सुनो, शशि, तुमसे कुछ बात कहने आया हूँ।"

शशि ने अपना गीला चेहरा उसकी ओर फेरकर एक बार देख दिया, बोली नहीं। शेखर दोनों हाथों से उसका सिर पकड़कर अचंचल आँखें उसकी आँखों पर टिकाकर, धीरे-धीरे, शब्दों पर ज़ोर देता हुआ बोला, "तुम कहीं जाओगी नहीं ; और — हारोगी नहीं; और—डरोगी नहीं।" फिर हाथों की जकड़ ढीली किए बिना आगे झुककर एक बार फिर उसने शशि के ओठ अपने ओठों से छू लिए। शशि का सिर पीछे को ऐंठा हुआ था, सारी देह काँप रही थी, और आँखें बन्द थीं ; सिर उठाकर शेखर ने शशि की बन्द गीली काँपती हुई पलकों को देखा और एक बार फिर आगे झुककर उसके ओठ चूम लिए। ओठ भी काँप रहे थे, और आँसुओं से खारे थे···

फिर शेखर ने सिर छोड़ दिया और शशि के कमरे से बाहर चला आया, बत्ती जलाई और रसोई में जाकर बर्त्तन इधर-उधर करने लगा···थोड़ी देर में खिचड़ी तय्यार हो गई, पहले से आया रखा दूध गर्म हो गया, और तब उसने शशि के कमरे के सामने जाकर कहा, "शशि, उठो, खाना तय्यार है। मुँह-हाथ धो लो।"

भीतर से स्थिर, सधे हुए स्वर ने कहा, "आई।"

उस स्वर को शान्ति ने जैसे शेखर को आश्वासन दिया। शायद जीवन अभी असम्भव नहीं हो गया है···

कहते हैं कि वासना नश्वर है, प्रेम अमर। दोनों में कोई मौलिक विपर्यय है या नहीं, नहीं मालूम ; किन्तु यदि ये दो हैं तो यह बात कितनी झूठी है ! प्रेम के एक ही जीवन है ; वह एक बार होता है और जब मरता है तो मर जाता है, उसे दूसरा जीवन नहीं मिलता। अमर तो वासना है, जो चाहे खण्डित होकर गिरे, चाहे तृप्त होकर, गिरते-न-गिरते रक्तबीज की तरह नया जीवन पाकर फिर उठ खड़ी होती है···

शिक्षा, सभ्यता, संस्कार···हमें अपने से ऊपर उठाते हैं; अपने व्यक्तित्व की सीमाओं से निकालकर एक बृहत्तर अस्तित्व के, उच्चतर, अपर-लौकिक बल्कि सार्वलौकिक अनुभूति के क्षेत्र में ले जाते हैं।

किन्तु व्यक्ति-जीवन की कितनी बड़ी गाँठ हैं संस्कार और शिक्षा ! क्योंकि जो भी शिक्षित हैं, जो संस्कारी जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दनों को पहचानते हैं (वे स्पन्दन जो निरे शिष्ट लोकाचार से गहरे कुछ हैं), वे जीवन के महान् क्षणों में—प्रेम के या किसी भी गहरे भाव-विलोड़न के क्षण में सहसा पाते हैं कि उसमें पूर्णता नहीं है, तन्मयता, चूड़ान्त तद्गति नहीं है, है एक अद्भुत असंगत तटस्थता—स्वयं अपने भावों से एक प्रकार का अलगाव, जो कर्त्ता को ही कर्म का दर्शक और आलोचक बना देता है—अर्थात् अपने को अपनेपन की सम्पूर्णता से बहिष्कृत कर देता है···हम कल्पना में चित्रित करते हैं एक प्रेयस (अथवा

प्रेयसी) जो कि हमारी आत्मा के सूक्ष्मतम कम्पन के साथ स्पन्दित हो सकता है (या हो सकती है) ; जो कि न केवल हमारे शारीरिक और सामाजिक अस्तित्व का सहभागी हो सकता है, बल्कि हमारी कोमलतम और अत्यन्त व्यक्तिगत सूक्ष्म अनुभूतियों में भी साझा कर सकता है—कला की, कविता की, संगीत की, यहाँ तक कि सुख-दुःख की भी अनुभूतियों का साझा…किन्तु वास्तव में प्रेम में हम पाते हैं कि हम कहीं भी, कभी भी, अपने अलग व्यक्तियों को एक में या दूसरे में या प्रत्येक को दोनों में नहीं लीन कर सकते…सख्य होता है, सम्बन्ध होता है, बड़ी अन्तरंग अभिन्नता का सम्बन्ध, किन्तु सदैव वह सम्बन्ध एक माध्यम का आश्रित होता है, हमारे अस्तित्व से बाह्य कुछ के अधीन होता है—किसी चित्र के, विचार के, कविता के, गीत के, ध्वनि के, सुन्दर स्वप्न के जो कि हमारा ही है, पर हमारा होकर भी अन्ततः हमारा नहीं है, क्योंकि हम स्वयं एकान्त हम नहीं हैं, उस मौलिक और आत्यन्तिक 'हम' की एक शिक्षा-मण्डित, संस्कारी सभ्य केंचुल हैं…

दिन सुन्दर थे और बबूल के फूलों की गन्ध को उड़ाते हुए समीर में एक स्निग्धता आ गई थी जिसमें और अनेक प्रकार का सौरभ अंगड़ाइयाँ लेता…और शशि के उस पहले विक्षोभ का तीखापन दब गया था ; वह शान्त थी, और शेखर को लगता था कि इस सख्य के बाहर कुछ नहीं है—यानी मूल्यवान् कुछ नहीं है, और यहाँ सख्य ही सिद्धि है और सुख है…किन्तु चेतना के इस स्तर को आड़े काटता हुआ एक दूसरा स्तर था जो कहता था कि काम है, कि समष्टि के प्रति व्यक्ति का देय है, कि अपूर्ति है और कुण्ठा है और इसलिए विद्रोह है, कि उलझनें हैं और गाँठें हैं और रस्सियाँ और बन्धन हैं और इसलिए क्रान्ति है ; और एक तीसरा स्तर था कि सूम की तरह जो धन बटोर वह बैठे रहना चाहता, वह अपने-आप नष्ट हो रहा है, कि शशि शान्त है पर घुल रही है, और एक दिन सहसा लुप्त हो जायगी…और स्तरों में बँटे हुए इस जीवन का क्षोभ सहसा उसमें फूट पड़ता, सब बन्धन रड़क उठते, और वह चाह उठता कि किसी तरह यह उलझन कट जाय ; चाहे फिर इसके साथ उसका कोई अंग ही क्यों न कटकर चला जाय…फिर वह सोचता, यह सब विक्षोभ उस असन्तोष के संस्कार का ही फल है जिसमें उसका अन्तर रँगा गया है ; तब वह माँगने लगता कि यह विद्रोही आत्मा ही किसी तरह कुचली जाय, छिन्न भिन्न हो जाय ; ताकि वह अपने-आप को बँधने और पालतू बनाया जाने दे सके—न केवल बद्ध और आनत बल्कि स्वेच्छा से और अनुगत भाव से बद्ध—ताकि वह विद्रोह का अनवरत, अग्नेय, कसमसाता अधीर उत्फोट भूल जाय…आग की लौ का धर्म है ऊपर उठना, इस ज्ञान में कोई सन्तोष नहीं था जब वह सब कुछ भस्म नहीं कर सकती थी और न मिटा ही सकती थी…

अगर वह अनपढ़ गंवार होता, अगर वह पशु होता—कुछ भी होता जो कि वह सम्पूर्णतया हो सकता, कुछ भी जिसमें कि वह निर्द्वन्द्व आमस्तक डूब सकता…

*　　　　*　　　　*

'रंगसाज़ी के कारखाने' में क्रमशः काम आने लगा, और थोड़ी-बहुत आमदनी होने लगी। जैसा जीवन शेखर बिता रहा था, उसका खर्च इस आमदनी में—आमदनी के उस आधे अंश में जो उसका था—मज़े में चल सकता था। लोगों से मिलने-जुलने से उसने दिल्ली आने का निश्चय करने के पूर्व ही सन्यास ले लिया था, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि शशि को फिर तिरस्कृत होकर शहर छोड़ना पड़े; और इन दिनों राजनैतिक आन्दोलन के हो-हल्ले के कारण वह और भी अलग रहता था—दल के सभी लोगों ने मिलना जुलना यथासम्भव कम कर दिया था और केवल गिने-चुने 'सहायकों' से मिलते थे; सम्पर्क का काम, और कम गोपनीय पत्र-व्यवहार सब इन्हीं की मार्फ़त होता था, और चन्दा आदि भी इन्हीं की मार्फ़त उगाहा जाता था। इसलिए 'सामाजिक खर्च' के नाम पर कोई खर्च शेखर को नहीं करना पड़ता था, व्यसन कोई विशेष था नहीं, और मनोरंजन की, सिनेमा-तमाशे की उसे कभी सूझी ही नहीं,—न शशि को ही।

किन्तु दूसरी ओर शशि की हालत फिर गिरने लगी थी; वह कुछ कहती नहीं थी, लेकिन शेखर उसके चेहरे पर पढ़ लेता था कि वह घोर यातना भुगत रही है। डाक्टर के आदेश यथा-सम्भव पालने और पलाने का वह यत्न करता था, और कोई विशेष व्याघात भी उसमें नहीं पड़ता था, क्योंकि शशि आश्चर्यजनक रूप से अनुगत और 'आज्ञाकारिणी' होती जा रही थी; किन्तु फिर भी उसका शरीर क्रमशः दुर्बल होता जा रहा था और कभी-कभी दर्द में वह सहसा आँखें बन्द करके इतनी निश्चल हो जाती थी कि शेखर सोचने लगता, वह क्या प्रत्येक बार बेहोश हो जाती है? वह शशि को लेकर एक प्रसिद्ध डाक्टर के पास गया था, उन्होंने देखकर रोग का इतिहास पूछा था; फिर पुरानी सब हिदायतें दुहराकर कहा था कि गुरदे के कारण बड़ी एहतियात की ज़रूरत है, और फिर पेट का भी एक्स-रे कराने का परामर्श दिया था। तीन-चार दवाएँ भी बताई थीं···शशि की अनिच्छा रहने पर भी एक्स-रे लिया गया था और डाक्टर के पास पहुँचा दिया गया था; शेखर के शशि को फिर ले जाने पर उन्होंने देर तक एक्स-रे के प्लेट को देखकर गम्भीर स्वर से कहा था, "हूँ, मेरे सन्देह का खण्डन नहीं होता···पर देखें—" और समझाने लगे थे कि कैसे पीठ को ठण्ड और नमी से बचाना बहुत ज़रूरी है, और पूरा विश्राम, और मानसिक शान्ति, और फल और नरम शाक, और किसी तरह की भी उत्तेजना का निवारण··

इन सबमें खासा खर्च होता था···शशि पर उसकी चिन्ता का कुछ असर न हो, इस अभिप्राय से वह बहुत तड़के उठने लगा; उठकर वह आवश्यक व्यवस्थाएँ करके घूमने चला जाता और घूमते-घूमते अपनी चिन्ताओं को थका डालने का उद्योग करता, ताकि जब लौटे तो स्वच्छ मन लेकर लौटे···नदी के किनारे-किनारे बेलारोड को आर-पार घूमकर कभी वह खेतों में भी मुड़ जाता; एक दिन खेती पार करते हुए उसने उस बड़े से पौदे में से दो-चार टमाटर तोड़ लिए और घर ले आया; अगले दिन से वह बिना विशेष कुछ सोचे ही चादर ओढ़कर घूमने जाने लगा···तरकारी के खेतों के किनारे-किनारे वह घूमता, और प्रतिदिन नये स्थल

से कभी टमाटर तोड़ लेता, कभी गोभी का अच्छा-सा फूल काटकर या शलगम के चार छः पौदे उखाड़कर अपनी चादर के नीचे कर लेता और घूमता हुआ आगे बढ़ जाता ; फिर घर पहुँचकर वह शशि के लिए शाक बनाता और सामने खिलाकर, स्वयं खाकर काम पर चला जाता···यह चोरी है, इस ओर उसका तब ध्यान ही नहीं गया ; तरकारी शशि के लिए आती है और इस प्रकार जो पैसे बचते हैं उनसे दवाएँ लाने में सुविधा होती है, इतना ही सोचकर वह गया था। केवल एक दिन जब वह गोभी का फूल तोड़कर उसने चादर में छिपाया तब आहट-सी पाकर वह चौंका और कुछ घबराया-सा ; तब उस घबराहट को लक्ष्य करके उसने सोचा कि वह जानता है कि वह पाप कर रहा है ; किन्तु आखिर कितनी हानि वह पहुँचाता है किसी को ? इतना तो चिड़ियाँ चुग जाती हैं या ढोर चर जाते हैं — इतने बड़े खेत में दो-एक गोभी के फूलों से क्या होता है, और टमाटर तो हाट तक जाते-जाते कितने ही पिचक जाते हैं — इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से उसने अपने को शान्त कर लिया···

किन्तु शशि की अवस्था में फिर भी कोई विशेष सुधार नहीं दीखा ; डाक्टर ने केवल फलों के रस की व्यवस्था दी, और शशि की पारदर्शी त्वचा और भी स्वच्छ और कान्तिमान हो आई, आँखें और बड़ी दीखने लगीं; प्रतिदिन शेखर के काम से लौटने पर शशि की स्वागत की आतुरता बढ़ने लगी···घर लौटकर अपनी इतनी उत्कण्ठित प्रतीक्षा और इतना आश्वस्त अभिनन्दन देखकर उसका हृदय सहसा द्रवित हो आता— शशि के वहाँ होने मात्र से दुनिया कितनी भिन्न है...कारखाने में पेंटरी के काम के साथ-साथ और भी काम उस पर आ पड़ा था — राजनैतिक तनाव के इन दिनों में उसके दल ने भी अपना कार्यक्षेत्र प्रसारित करने का निश्चिय किया था और उसे प्रतिदिन किसी-न-किसी विषय पर अपील या पैम्फलेट लिखकर देना पड़ता था ; यह भी उसे मालूम हुआ था कि उसके सहकारी जेल पर आक्रमण करके अपने कुछ विशिष्ट सदस्यों को छुड़ाने की योजना बना रहे हैं और इसमें उसके लिए भी कार्य निश्चित कर दिया गया है, शीघ्र ही उसे एक पिस्तौल भी दी जायगी ; इन सब सूचनाओं से उसका मन उद्वेलित रहता और अनेक प्रकार के प्रश्न, दुविधाएँ और दुश्चिन्ताएँ उसके मन में भरी रहती ; पर लौटकर शशि का मुँह देखते ही जैसे यह सब अननिवार्य, अमौलिक, अनात्यन्तिक सूखे पत्ते-सा झर जाता और रह जाता शिशिर-वासंती आकाश — शशि की आँखों का आकाश..

कभी वह बोल भी न सकता, उठकर बैठी हुई शशि को लिटा देता और सिरहाने बैठकर चुपचाप उसका माथा थपकाता रहता ; उठकर काम करने की, आग जलाने और भोजन तय्यार करने की बाध्यता उसे अखर जाती ; वह सोचने लगता कि खाना ही क्यों आवश्यक है ; शशि के लिए फलों का रस और गर्म दूध ज़रा-सी देर में तय्यार हो जायगा, वह योंही रह लेगा या बासी खा लेगा --आगे से वह एक ही वक्त अधिक बना लिया करेगा...कभी शशि कहती, "शेखर, तुम खुश नहीं दीखते, क्या बात है ?" तब जैसे वह भीतर-भीतर उमड़ आता...शशि का माथा थपकते-थपकते जैसे उसके ताल पर प्राण एक विषण्ण संगीत

से गूँज जाते ; शेखर का मन उलझे हुए विचारों से भर जाता और कभी ये विचार मुखर भी हो उठते, शेखर धीरे-धीरे अपना मन शशि को बताने लगता और वह चुपचाप सुनती रहती…

एक दिन अचानक शेखर को बताया गया कि उसके 'सहकारियों' में से एक जो युक्तप्रांत के किसी नगर से भागा हुआ एक इनामी षड्यंत्रकारी है, शहर में पुलिस द्वारा पहचाना गया है, अतः सम्भव है कि पुलिस उस 'कारखाने' का भी पता पा जाय, और उसे चौकन्ना रहना चाहिए। उस दिन तीनों सहकारियों का सहकार समाप्त होगा—दो उसी दिन कहीं चले गए—बाद में शेखर को मालूम हुआ कि कानपुर चले गए थे—और तीसरे का, जो शहर में पहचाना गया था, तत्काल बाहर जाना सम्भव और उचित न समझा जाने के कारण निश्चय हुआ कि वह दो-तीन दिन शेखर के यहाँ रहेगा और मौका लगते ही अन्यत्र चला जायगा। फलतः दोपहर को ही शेखर घर लौट आया—तय यह हुआ था कि अपराह्न में किसी समय मेहमान उसके यहाँ पहुँच जायगा, उसके साथ ही शहर पार करके नहीं आयेगा।

जल्दी लौट आने से शशि प्रसन्न होगी—मेहमान के आने से दो-तीन दिन तक उनके सख्य में बाधा पड़ेगी ; इन दो विरोधी विचारों को लेकर शेखर जब घर पहुँचा तो शशि ने अचकचाकर अपने आगे फैले हुए पन्ने समेटते हुए पूछा, "आज अभी कैसे—"

"क्या लिख रही हो—छिप-छिपकर कोई पोथा लिख रही हो क्या ? मुझे तो मालूम ही नहीं—"

"कुछ नहीं, चिट्ठी लिख रही थी—"

"इतनी लम्बी चिट्ठी ! किस पर इतनी कृपा—"

शेखर उसे चिढ़ाना चाहता था, पर उसके मुँह पर संकोच के भाव को लक्षित करके चुप रह गया। यह भी उसने देखा कि शशि का चेहरा असाधारण पीला है, और थकान के चिह्न उस पर स्पष्ट हैं…एक द्रुत छाया-सी उसके मन में दौड़ गई कि शायद रामेश्वर को पत्र लिख रही हो—क्योंकि मौसी को होता तो छिपाती क्यों ; पर क्या मालूम इसलिए छिपाती हो कि शेखर की बात लिखी हो—जो हो…बोला, "योंही जल्दी आना हो गया, एक मेहमान आनेवाले हैं।"

"मेहमान—हमारे यहाँ ? कौन ?"

"हैं एक। और शशि, बड़े संकोची जीव हैं—मेरे साथ नहीं आये, बोले कि पहले जाकर शशिजी को बता दो नहीं तो मुझे डर लगता है और सामने परिचय कराओगे तो शर्म आयेगी !"

"धत् ! आखिर है कौन ? इतने संकोची हैं तो सीढ़ियों के ऊपर के आले में टिका देना—मेरे सामने ही नहीं आना पड़ेगा !"

शेखर हँसने लगा। फिर उसने पूरी घटना शशि को बता दी।

शशि ने कुछ चिंतित स्वर से पूछा, "वे संदिग्ध व्यक्ति हैं—तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है?"

"हाँ, अन्देशा तो नहीं है, पर सम्भावना तो है ही—क्यों, घबराती हो?"

शशि ने अनमने भाव से कहा, "नहीं, घबराना क्या—" पर तब स्वयं शेखर के मन में यह सम्भावना दौड़ गई कि यदि सचमुच पुलिस आकर मेहमान के साथ उसे भी ले जाय, तो अकेली शशि···इस विचार ने आतिथ्य के मामले को एक नया रूप दे दिया, शेखर चुपका-सा हो गया; फिर थोड़ी देर बाद बोला, "शशि, छोड़ो सोच को—जल्दी से कुछ व्यवस्था कर डालूँ—"

"क्या व्यवस्था करोगे?"

"पहले तुम लेट जाओ; देखती रहो कि मैं सब कामों में कितना दक्ष हो गया हूँ।"

बहस के बाद तय हुआ कि शेखर के कमरे में मेहमान और शेखर दोनों फ़र्श पर सोएँगे—यदि मेहमान शेखर की चारपाई लेकर उसे अकेले नीचे सोने देना न पसन्द करेंगे। शशि का आग्रह था कि वह नीचे सोएगी और उसकी चारपाई ले ली जाय, पर उसने अधिक हठ नहीं किया। बिस्तर मेहमान अपना लावेंगे—न लावेंगे तो उस समय कहीं से माँग लिया जायगा। भोजन का निश्चय उनके आने के बाद होगा—सम्भव है, वे खाने अन्यत्र चले जाया करें। यहाँ तक फैसला होने के बाद शशि ने हँसकर पूछा, "तो व्यवस्था क्या करनी है?"

व्यवस्था की बात केवल एक निकली कि अपने कमरे से कापियाँ और पुस्तकें शेखर लाकर शशि के कमरे में डाल देगा, और इधर से एक छोटी चौकी उठाकर उधर रख लेगा जो मेज, तिपाई और डेस्क का काम देगी···

मेहमान आकर टिक गये। नाम मात्र बिस्तर वे साथ लाये थे, और कुछ सामान नहीं था; मालूम हुआ कि साँझ का भोजन वे घर पर किया करेंगे, किन्तु दिन-भर उनका कोई भरोसा न किया जाय; वे दिल्ली से निकलने के प्रबन्ध में घूमते फिरेंगे और जहाँ मौका लगेगा खा-पी लेंगे···

भोजन करके वे बहुत जल्दी सो गए; अगले दिन सबेरे शेखर की नींद खुली तो उसने देखा कि वे बाहर जाने के लिए तय्यार हैं। शाम को लौटने को कहकर वे चले गए। जाने लगे तो शशि ने अचानक कहा, "देखिए, आप दिन-भर इसलिए बाहर रहने की सोचते हों कि मैं यहाँ अकेली हूँ, तो आपको जता दूँ कि मुझे कोई दिक़्क़त नहीं होगी; आप दिन-भर यहाँ रह सकते हैं, मैं कोई आतिथ्य नहीं कर सकूँगी, इसका ज़रूर मुझे खेद है; शेखर की अनुमति नहीं है—"

शेखर ने भी कहा, "हाँ, कहीं सचमुच इसीलिए तो नहीं—"

मेहमान कुछ झेंपकर बोले, "थोड़ा-सा संकोच तो था, पर—" शशि की ओर देखकर,

"आपका कृतज्ञ हूँ। अगर यहाँ आना ही ठीक जान पड़ा तो अब संकोच के कारण नहीं रुकूँगा।"

कारखाने में शेखर अकेला था, काम हाथ में होने से वह बराबर उसमें जुटा रहा, किन्तु मन उसका वहाँ नहीं था ; शशि का चिन्तित पीला चेहरा बार-बार उसके सामने आ जाता, और बार-बार यह विचार उठता कि शशि की और उसकी यह समस्या केवल आन्तरिक नहीं है, बाह्य भी है, आध्यात्मिक प्यार की ही नहीं, लौकिक जीवन की भी है ; इतना ही नहीं, वह केवल उन दोनों की नहीं, बल्कि उस सारे जीवनपुञ्ज की समस्या है जिससे उनकी परीचिति है···और इससे आगे बढ़कर कि यही प्यार नहीं, सभी प्यार—प्यार-मात्र—मूलतः एक समस्या है और दो इकाइयों तक सीमित नहीं है··· कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आड़े, उस समस्या में उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं···मूल समस्या सामंजस्य की है ; प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है, यह विचलन ही समस्या है, क्योंकि यह व्यापक है, मौलिक है, जीवन के 'तरवार की धार पर'—असंख्य धारों पर !—सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है···तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामंजस्य फिर न खोज निकाला जाय···समस्या है और साधना है, तपस्या है···और समस्या के इस निरूपण तक पहुँचकर उसका मन फिर लौट जाता शशि के पीले चेहरे की ओर, और इतनी बड़ी उलझन में गुँथी हुई तात्कालिक छोटी-छोटी उलझनों की ओर···

पाँच बजने से कुछ पहले ही उसने जल्दी-जल्दी दुकान बन्द की और घर चला। दिन कुछ लम्बे हो गए थे, अब वह घर ऐसे समय पर पहुँचता था कि बरामदे में शशि के लिए शीतलपाटी और तकिया रखकर उसे वहाँ बिठाकर पास खड़ा होकर यमुना के पानी के लोहित हो उठने की प्रतीक्षा कर सके···

घर से कुछ दूर पर से ही उसने देखा, शशि द्वार पर खड़ी बाट देख रही है। उसे देख और पहचानकर वह तुरत भीतर चली गई और चारपाई पर बैठ गई। शेखर ने आकर पूछा, "क्यों, शशि ?"

"कुछ नहीं—"

"कुछ तकलीफ़ है ?"

"नहीं तो, अच्छी भली तो बैठी हूँ—"

"अभी तो बाहर खड़ी थीं—मैंने देख लिया था—"

"ओह, योंही ; सोच रही थी कि तुम कब लौटोगे, कहीं बहुत देर हो जाय—"

"क्यों ?" कहकर शेखर समझ गया कि शशि मेहमान की उपस्थिति के कारण चिंतित है। थोड़ी देर चुप रहकर बोला, "कल से और जल्दी आ जाया करूँगा—"

"नहीं, काम तो करना ही है। हाँ, लौटकर कुछ लिख-पढ़ सको—"

शेखर ने जैसे रहस्योद्घाटन करते हुए कहा, "कुछ तो कारखाने में भी लिखता रहा हूँ —काम तो और था नहीं—"

शशि ने किंचित् खिलकर कहा, "अच्छा—मुझे नहीं बताया!" फिर कुछ रुककर, "यहाँ क्यों नहीं ले आते—जल्दी पूरा कर लेते—"

"नहीं शशि; अब यहाँ नहीं लिखता। तुम्हारे पास और कुछ नहीं करना चाहता—लिखना भी नहीं। ध्यान बट जाता है—"

शशि ने धीरे से कहा "पागल!" और चुप हो गई।

थोड़ी देर बाद मेहमान आ गए। भीतर आकर उन्होंने किवाड़ सतर्कता से बन्द कर लिए और शेखर की ओर देखकर कहा, "तुम आ गए यह अच्छा हुआ।"

कमरे में जाकर उन्होंने कोट के नीचे से दो-एक बंडल निकालकर बिस्तरे पर रखे और फिर स्वयं बैठ गए। शेखर से कहा, "मेरी राय में किवाड़ उढ़का ही दीजिए—" और शेखर के वैसा कर देने पर धीरे-धीरे बंडल खोलने लगे। साथ-साथ बोले, "मैंने जाने का प्रबन्ध लगभग ठीक कर लिया है। परसों तड़के ही चला जाऊँगा—अगर कोई विशेष बाधा न हुई तो। पर कल कुछ आवश्यक काम करना है—और उसमें आपको मदद करनी होगी। इनको परखना है—"

शेखर ने देखा, एक बंडल में से तीन पिस्तौल, दूसरे में से विभिन्न साइज के दो रिवाल्वर और तीसरे में से अनेक छोटी-बड़ी गोलियाँ निकल आई हैं। कुछ अचकचाकर उसने कहा, "मुझे क्या करना होगा—"

एक रिवाल्वर को हाथ से दुलराते हुए अतिथि बोले, "यह मेरा विश्वासी साथी है—इसे तो जानता हूँ। बाकी नये हैं। उन्हें टेस्ट करना है। यमुना के पार कहीं जगह देखकर कर लेंगे। उधर मौका ठीक है। फिर भी 'लुक-आउट' रखना ज़रूरी है, इसलिए—"

शेखर समझ गया। "कब चलना होगा?"

"तुम दोपहर को आ सकोगे?"

"अच्छा।"

भोजन करने के बाद मेहमान शेखर से क्षमा माँगकर फिर जल्दी सो गए। शेखर अनमना जागता हुआ लेटा रहा, फिर सोना असम्भव पाकर देखने उठा कि शशि न सोई हो तो उसके पास जा बैठे। पर शशि के कमरे में प्रकाश था—वह भीतर चला गया। शशि चुपचाप लेटी छत की ओर देख रही थी, उसकी चारपाई के पास नीचे दवात और कलम पड़ी थी और सिरहाने दो-चार कागज़—

"क्या कुछ लिखने जा रही हो? मुझे लिखा दो—"

"नहीं, ये तो योंही रखे हैं कि कुछ काम याद आ जाय तो—आजकल बहुत भुलक्कड़ हो गई हूँ—"

शेखर ने तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा, फिर पूछा, "नींद आ रही है ?—मैं थोड़ी देर बैठ जाऊँ—"

शशि ने चारपाई की बाही पर से कम्बल समेटकर जगह कर दी।

"मैं इधर सिरहाने बैठूँगा", कहकर शेखर तकिये के कोने के पास बैठने लगा।

"नहीं, उधर मुझे दीखता नहीं, सामने बैठो।"

शेखर बाही पर आकर बैठ गया।

आया था वह साहचर्य के लिए, और वह निस्संदेह उसे मिला, किन्तु कितना गूँगा साहचर्य ! वह स्वयं भी कुछ नहीं बोल सका, शशि भी नहीं बोली, बल्कि अब उसने धीरे से आँखें भी बन्द कर लीं।

"सोती हो ?"

"नहीं, रोशनी चुभती है—" और फिर मौन···

बात चलाने के लिए शेखर ने कहा, "मौसी का कोई समाचार नहीं आया—न जाने कैसी हैं और क्या सोचती हैं···"

"हमने भी तो नहीं लिखा—उन्हें ठीक पता मालूम है ?"

"उन्हें तो डाकघर का ही पता दिया था, यहाँ डाकघरवालों को सूचना दी थी, पर चिट्ठी तो कोई आई नहीं।"

"ठीक ही होंगी। लिखेंगी भी क्या—मैंने उन्हें तोड़ दिया है···"

शेखर ने धीरे से एक हाथ उसकी बाँह पर रख दिया।

"सोचती हूँ, गौरा को लिखूँ कि मुझे पता देती रहे। वह कर सकती है—अब तो बड़ी है और समझदार तो है ही।" फिर जैसे किसी अव्यक्त विचार का अनुसरण करते हुए, "तुम्हारी तो भक्त है।"

"मेरी—क्यों ?"

"जबसे जेल गये हो तबसे। वह बोलती-चालती कुछ नहीं, पर सोचती बहुत है।"

फिर सन्नाटा छा गया। एकाएक शशि ने पूछा, "किवाड़ बन्द करके क्या कर रहे थे ?"

"कुछ नहीं—वे परसों जा रहे हैं।"

"इसलिए किवाड़ बन्द किए थे ? कमरे से अन्तर्धान होंगे ? और फिर अभी तो दो दिन हैं—"

कुछ रुककर शेखर ने बता दिया। "शशि, तुम्हारे ही बचाव की बात सोची होगी उन्होंने—पिस्तौल वगैरह छिपा रहे थे।"

"पिस्तौल किसलिए लाए हैं ?"

"पास रखते हैं—ज़रूरत पड़ सकती है।"

थोड़ी देर बाद, "परसों कब जायँगे ?"

"तड़के।"

"कैसे ?"

"पता नहीं—यहाँ से चले जायँगे। पूछना उचित भी नहीं है—बे-मतलब बात जितनी कम जानी जाय उतना ही अच्छा है—"

"हूँ।"

फिर बातचीत बंद हो गई।

"शेखर, तुम पर संकट हो तो तुम भी पिस्तौल लिए फिरो ?"

"......"

"अपने को खतरा हो सकता है, इसलिए दूसरे को मारने को हरवक्त तय्यार रहना मुझे तो ठीक नहीं लगता—"

"युद्ध का तो यही नियम है—"

"युद्ध ही क्या ठीक है ? पर अन्तर भी है—युद्ध असाधारण बात होती है और आदमी जानता है कि समाप्त होते ही वह साधारण शान्तिपूर्ण जीवन में लौट आएगा। पर यह तो रोज़मर्रा के नागरिक जीवन की बात है—हर किसी को हर वक्त मारने को तय्यार रहना—"

"क्यों—यहाँ भी तो केवल शत्रु को ही खतरा है—हमें-तुम्हें थोड़े ही उठकर मार देंगे ? और असाधारण परिस्थिति तो —"

"यह तो ठीक है, मैं नहीं कहती कि चाहे जिसके मार देंगे, पर इसका मनोवृत्ति पर तो बुरा असर पड़ता होगा – यह आदमी के लिए अच्छा नहीं है।"

"वे शायद यह कहेंगे कि अपने उद्योग का दाम हम अपने जीवन से चुकाते हैं। महँगा सौदा है तो दाम तो हमारे ही लगते हैं, हम भुगत लेंगे।"

"छोड़ो, खैर—कल कब जाओगे ?"

"कहाँ—कारखाने ? उसी वक्त—"

फिर मौन हो गया और बहुत देर तक रहा। शेखर बहुत धीरे-धीरे उठने लगा तो शशि ने एकाएक आँखें खोलीं, उसके कुछ कहने से पहले ही शेखर बोला, "नहीं, अभी जाता नहीं—" उठकर उसने बत्ती मन्द कर दी और अब आकर सिरहाने बैठ गया। एक हाथ शशि के माथे पर रख दिया। शशि ने फिर आँखें बन्द कर लीं।

दूर कहीं से खेतों के किसी रखवाले की पुकार का धीमा-सा स्वर आया, उसके कुछ देर बाद गीदड़ों का 'हुआ हुआ' और उत्तर में कुत्तों का भौंकना, फिर दो-तीन बार किसी जल-चारी पक्षी का तीखा चीत्कार, फिर सन्नाटा, जिसमें रात की आन्तरिक नीरवता का स्वर गूँज रहा था··

शशि शायद सो गई थी – सीधी वह अब कभी नहीं लेटती थी, इस या उस करवट ही रहती थी और टाँगे सदा सिकुड़ी रहती थीं। अब भी वह ऐसे ही सोई थी, शेखर का हाथ उसके माथे पर नहीं, कनपटी पर था, और उसकी हथेली कनपटी पर शशि के नाड़ी-स्पन्दन का हल्का-सा अनुभव कर सकती थी···

एकाएक शशि ने चौंककर कहा, "शेखर !" और उसका हाथ पकड़ लिया—शेखर ने कोमल स्वर से कहा, "क्यों, जाग गई—" शशि ने उत्तर नहीं दिया, उसका हाथ पकड़कर आगे मुँह पर खींच लिया और उसकी उँगलियों को धीरे-धीरे अपने निश्चल ओठों पर फिराती रही··थोड़ी देर बाद हाथ छोड़कर उसने कहा, "शेखर, अब जाकर सो जाओ, देर हो गई है। मैं योंही जाग गई, अभी फिर सो जाऊँगी।"

वह फिर पूर्ववत् निश्चल हो गई, तब शेखर धीरे-धीरे उठा, एक बार मुँह शशि के सिर के बहुत पास लाकर उसने जैसे शशि के केश सूँघे और फिर दबे-पाँव अपने कमरे में चला गया।

सबेरे-सबेरे ही एक युवक ने आकर पूछा, "दादा कहाँ हैं—"

"कौन दादा ?" शेखर ने रुखाई के साथ कहा। इतने में अतिथि आ गए और बोले, "ओह—अच्छा। शेखर, ये मेरे लिए आए हैं।"

'दादा' ने अपना रिवाल्वर और गोलियाँ रखकर बाकी शस्त्र और गोलियाँ युवक को दे दीं और कुछ आदेश देकर बिदा कर दिया। फिर स्वयं भी चले, जाते वक्त शेखर से फिर कह गए, "दोपहर को तय्यार रहिएगा—"

शेखर ने पहले सोचा था कि शशि से कुछ नहीं कहेगा, किन्तु दोपहर को जल्दी लौटने और फिर जाने पर वह पूछेगी, और तब बताने से अभी कहना अच्छा है, यह सोचकर उसने शशि को बता दिया कि दोपहर को वह लौट आएगा, क्योंकि 'दादा' के साथ कहीं जाना है।

"कहाँ ? क्या करने ?"

"यमुना के पार कहीं। क्यों, यह तो मालूम नहीं।"

"यानी न पूछूँ ?"

"नहीं, शशि ; सचमुच मेरा क्या काम है मुझे नहीं मालूम।"

दोपहर को शेखर आवश्यकता से भी पहले लौट आया, और दादा की प्रतीक्षा करने लगा।

दादा नहीं आए। लगभग तीन बजे सबेरेवाला युवक आया और बोला, "दादा आपको वहीं बुला रहे हैं, वे स्वयं अभी नहीं आएँगे।"

शेखर चुपचाप तय्यार होकर साथ हो लिया। चलते समय शशि ने पूछा, "कब तक लौटोगे ?"

शेखर ने अनुमान से कहा, "दिन छिपे तक लौट आऊँगा—घबराना मत।" और चला गया।

पुल पार करके दोनों नदी के किनारे हो लिए। एक गाँव पार करके मील-भर जाने के बाद सरकंडे के एक झुरमुट की ओट में 'दादा' मिले। देखते ही उन्होंने युवक से पूछा, "आल क्लियर ?"

"मेरे ख्याल में तो ठीक हो है। पुल पर एक दोखा था, पर यहाँ तो ठीक है !"

झुरमुट से आगे रेती का ढाल था जिससे एक सूखी खाई-सी बन गई थी, उससे आगे फिर ऊँची जगह थी। खाई में आदमी किसी ओर से नहीं दीखता था, और चाँदमारी के लिए दोनों ओर की रेत की दीवार मानों खास बनाई गई थी। एक ओर को यमुना की दुबली धारा थी—कुछ विस्मय से शेखर ने जाना कि वहाँ से लगभग सामने परली पार उसका घर था...

शेखर को एक ओर पहरा देने को नियुक्त किया गया; युवक को दूसरी ओर। दादा खाई में चले गये। थोड़ी देर बाद एक फ़ायर सुनाई दिया; फिर थोड़ी-थोड़ी देर बाद इक्के-दुक्के कई एक फ़ायर, कुछ तीखे और कुछ चिड़चिड़े, कुछ गम्भीर...

थोड़ी देर बाद दादा लौट आए; बोले, "सब ठीक ही है। बल्कि कारतूसों में कुछ पुराने हैं—धोखा दे सकते हैं।"

तीनों वापस लौटने लगे। किन्तु जब सड़क के पास पहुँचे तो दादा अचानक ठिठक गए; शेखर ने देखा, पुल की ओर से एक खाकी रंग की लारी आ रही है जिसमें कई एक पुलिस के सिपाही हैं। लारी रुकी नहीं, धीमी चाल से शहादरे की ओर बढ़ती रही, किन्तु दादा ने कहा, "मामला कुछ गड़बड़ दीखता है", और थोड़ा चक्कर-सा काटकर वापस वीरान की ओर लौट चले। शेखर और तीसरा युवक भी पीछे-पीछे मुड़ गए।

वीरान के एक ओर रास्ता था, दादा ने उसी को पकड़ा।

"यह कहाँ जाता है?"

"कहीं बस्ती की ओर ही जाता होगा—शाम तक यहाँ थोड़े ही बैठा जा सकता है?"

शेखर ने पूछना चाहा कि शाम तक बैठना क्यों ज़रूरी है, और उसके बाद क्या होगा, पर सब बात दादा पर छोड़कर चुप रहा। लगभग तीन मील जाकर एक गाँव आया; तब सूर्यास्त में अधिक देर नहीं थी, इसलिए दादा ने गाँव में जाना व्यर्थ समझा और एक बगल हो लिए।

"शेखर, तैरना जानते हो?"

"हाँ, थोड़ा-बहुत; क्यों?"

"यहीं कहीं से यमुना पार की जायगी—पुल से ख़तरा है।"

"अच्छा, आजकल पानी तो ज्यादा नहीं होगा—शायद तैरने की जरूरत न पड़े—"

"तब तो अच्छा है, पर अगर पड़ जाय तो—और इन चीज़ों को भी तो पानी से बचाना है न—पर वह मैं कर लूँगा, मुझे हाथ उठाकर तैरने का अभ्यास है। नदी कितनी दूर होगी?"

"मील-भर तो होगी—रास्ते से दो मील—"

"रास्ते से क्यों, यहाँ से सीधे निकल चलेंगे—"

"बीच में नाला-सा दीखता है—कीचड़ होगा—"

प्रश्नात्मक "ँ—" कहकर दादा मुड़े और एक खेत की बगल से चलने लगे।

सामने से खेत की मेड़ पर अपने को तौलती हुई एक किसान लड़की चली आ रही थी ; सिर पर उसके एक गट्ठर था जिसको सँभालने के लिए एक बाँह उठी थी, पर गट्ठर को छूती नहीं थी ; उसकी चाल के साथ-साथ झूलती जाती थी। लड़की धीरे-धीरे कुछ गुनगुना भी रही थी।

दादा ने क्षणभर रुककर पूछा, "यमुनाजी कितनी दूर होंगी ?"

लड़की ठिठक गई। "ऐं—जमनाजी ? लौट के फिरके सीधे चले जाओ, एक कोई डेढ़ कोस होगी। इधर कहाँ जा रहे हो—"

"इधर से रास्ता नहीं है ?"

"ना।"

शेखर ने पूछा, "इधर से काटकर नहीं जा सकते—अगर रास्ता बच जाय—"

लड़की ने एक बार शेखर की ओर देखा, फिर एक बार धीरे-धीरे दादा को सिर से पैर तक ; फिर शेखर की ओर उन्मुख होकर बोली, "कीचड़ है, और बड़े ऊँचे कराड़े हैं। तुम तो चले जाओगे, पर इन फफ्फसनाथ से कैसे चला जायगा ?"

शेखर स्तब्ध रह गया। दादा शरीर से काफ़ी भारी थे, पर अपनी काया की इतनी स्पष्ट आलोचना उन्होंने कभी सुनी थी या नहीं, न मालूम। कटाक्ष को मुस्कराकर स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा, "बिटिया, वक्त सब करा लेता है, देखें—" और बढ़े।

लड़की ने आगे जाते हुए कहा, "फँस जाओगे !" और मानों उनकी उस परिस्थिति की कल्पना करते हुए हँस पड़ी।

तीनों नाले की ओर उतरे, जब रेती नरम हो चली तब जूते उतारकर उन्होंने हाथ में पकड़ लिये और चुपचाप बढ़ने लगे। कीचड़ सचमुच दलदल से कम नहीं थी···सूर्य अस्त हो गया था ; सामने नाले का ऊँचा करारा धीमा-सा दीख रहा था और साँझ की हवा से झाऊ सरसरा उठे थे···

जब करारा बिल्कुल सामने आ गया तब दादा ने सोचते हुए-से कहा, "साठ-साठ मील का पैंड़ा मैंने किया है, छोकरी कहती थी फफ्फसनाथ !" फिर थोड़ा हँसकर, "हो ही गया हूँ कुछ मोटा—" और मानों लड़की द्वारा लगाए गए लाञ्छन का प्रतिवाद करने के लिए सबसे पहले ऊपर चढ़ने लगे···

ऊपर से यमुना दीखने लगी ; पार बत्तियाँ जल रही थीं। शेखर का मन एकाएक शशि के लिए अत्यन्त चिंतित हो उठा···नदी पार करके भी कम-से-कम दो मील लौटना होगा···

जब दादा ने कहा, "शेखर, मैं ज़रा एक जगह होता-हुआ आऊँगा," और उसे अनुमति दे दी कि वह सीधा घर लौट जाय, तब शेखर प्रसन्न ही नहीं, कृतज्ञ-सा हो आया—क्योंकि अब वह तेज़ी से चलकर लौट सकेगा और किसी के आने से पहले शशि से क्षमा भी माँग सकेगा···

सिर झुकाए हुए बड़ी तेज़ गति से वह चलने लगा—बीच-बीच में एकान्त सड़क देखकर थोड़ा दौड़ लेता और फिर चलने लगता···एकाएक अपने घर के चौखटे पर पैर रखते हुए ही उसने सिर ऊपर उठाया क्योंकि अन्धेरे में कोई निश्चल खड़ा था—शशि···आंचल हाथ से उठाये हुए उसने नाक और मुँह ढँक रखा था, केवल आँखें खुली थीं···

शेखर का हृदय धक् से हो गया। बिना एक शब्द बोले उसने एक बांह से शशि को घेर लिया और लगभग धकेलता-खींचता हुआ भीतर ले गया—शशि का शरीर शीत से कांप रहा था···जब वह उसे खाट पर बिठाने लगा, तब उसे लगा कि शशि की आंखों से दो बूँदें गिरी हैं—घर में बत्ती नहीं जली थी—उसने लज्जित, चिंतित और स्नेह-भरे स्वर में कहा, "शशि—"

इतना पर्याप्त था। शशि ने टूटती हुई आवाज में कहा, "आ गए तुम—" और फूट पड़ी···

शेखर लज्जा से गड़ गया, कुछ बोल नहीं सका···फिर सहसा कर्त्तव्य याद करके शशि को कम्बल उढ़ा दिए, और लपककर अंगीठी जलाने चला। कोयलों को जल्दी भड़काने के लिए ज़ोरों से फूँकता हुआ वह शशि के सिसकने का धीमा स्वर सुनता रहा, वह स्वर उसके भीतर बहुत गहरे में कहीं भोंडी छुरी की तरह चुभता रहा···जब आग कुछ सुलग गई तब वह अँगीठी लेकर शशि के कमरे में पहुँचा, अँगीठी रखकर शशि को धीरे-धीरे लिटाने का प्रयत्न करते हुए बोला, "बच्चे, सर्दी क्यों लगा ली—इतनी फ़िक्र काहे की थी–"

शशि शरीर कड़ा करके बैठी रही, कन्धे से उसका हाथ परे धकेलती हुई बोली, "हटो–"

शेखर अप्रतिभ कुछ देर तक खड़ा रहा। फिर उसने दुबारा कहा, "शशि, बच्चे, लेट-कर कम्बल ओढ़ लो—मेरे अपराध की सज़ा अपने को क्यों देती हो—"

शशि कुछ बोली नहीं, हिली नहीं। शेखर हताश-सा खड़ा रहा।

थोड़ी देर बाद शशि एक लम्बी सांस लेकर अपने आप लेट गई—हाथ-पांव सिकोड़कर, स्थिर आँखों से अँगीठी के कोयलों की ओर देखती हुई—

"शशि, मैंने जान-बूझकर देर नहीं की, बहुत दूर से नदी पार करके यहाँ आना पड़ा इस-लिए देर लग गई—"

वहीं आँखें गड़ाए हुए, "क्यों क्या हुआ था--"

"कुछ नहीं, हम लोग लौटने लगे तो एक पुलिस की लारी देखकर दादा ने कहा, पुल पर से नहीं जायँगे। तब पाँच-छः मील भटककर नदी पार करके आए।"

"गए क्या करने थे ?"

शेखर चुप रहा। थोड़ी देर बाद शशि बोली, "चलो, लौट तो आए—"

"क्यों, शशि, तुम इतना घबरा क्यों गईं—"

आग की ओर देखते-देखते शशि ने फीकी हँसी हँस दी। "हुँः—घबरा क्यों गई।

तुम्हें क्या मालूम घबराना क्या होता है···मैं तो समझी थी कि अब—तुम नहीं आओगे—"

"क्यों, शशि, ऐसी क्या बात थी भला—"

शशि ने जैसे अपने भीतर की ओर देखते हुए, सोचते-से स्वर में कहा, "तुम पार गए थे, यह मुझे मालूम था। पीछे मैं बाहर खड़ी थी तो मुझे लगा, पार कहीं से गोलियाँ चलने की आवाज़ आ रही है। तुम्हारे बारे में विशेष कभी नहीं डरती—मुझे लगता है कि तुम्हारा अनिष्ट कुछ होगा तो अपने-आप जान जाऊँगी; पर आज न जाने क्यों मैंने समझा कि अब तुम्हें नहीं देखूँगी—कि तुम गए अब···शायद इसलिए कि अब—मैं ही जा रही हूँ।"

"क्या, शशि—"

"हाँ, शेखर, घबराहट बुरी चीज़ है; पर कभी-कभी उससे दिव्य-दृष्टि मिलती है। तुम्हारी बाट देखते-देखते—तुम्हारी क्या, तुम्हारे कुछ समाचार की प्रतीक्षा करते—मैंने बहुत कुछ देखा है, जो पहले नहीं देखा था—इतना स्पष्ट नहीं।"

"क्या, शशि?"

"बहुत कुछ···किसी विदेशी उपन्यास में पढ़ा था कि प्यार एक कला है, और कला संयम का दूसरा नाम है। और इसकी व्याख्या की गई थी किसी भी एक व्यक्ति को इतना प्यार नहीं करना चाहिए कि जीवन में किसी दूसरे उद्देश्य की गुंजाइश न रह जाय—कि जीवन एक स्वतन्त्र इकाई है और यदि वह बिलकुल पराधीन हो जाय तो यह कला नहीं है क्योंकि कला के आदर्श से उतरकर है। तब नहीं समझी थी कि यह सब क्या है···"

शेखर भी चुपचाप आग की ओर देखने लगा।

"स्वीकार तो अब भी नहीं किया—पर समझ आज गई···मैं—कला से आगे चली गई हूँ···और—और मैंने देखा, यह ठीक है—मेरे लिए ठीक है। जीवन में दूसरे उद्देश्य की गुंजाइश मुझे नहीं चाहिए—क्योंकि—अब जीवन भी और नहीं है।"

शेखर ने आहत होकर कहा, "शशि, तुम्हें बहुत क्लेश पहुँचा है, इसीलिए ऐसी बातें कर रही हो—"

"नहीं, शेखर, नहीं। तुम्हारे बारे में जो कुछ मैंने आज देखा, उसमें चाहे भूल की हो, पर इस बारे में—नहीं। मेरा काम पूरा हो गया···"

शशि के स्वर में इतनी निश्चयात्मकता थी कि प्रतिवाद में शेखर कुछ बोल नहीं सका। अब तक खड़ा था, अब सहसा शशि की चारपाई पर बैठ गया। उसका स्तब्ध मन शशि की बात का पूरा अभिप्राय समझने का प्रयास करने लगा—पर इससे आगे नहीं बढ़ सका कि शशि कहती है, वह अधिक नहीं जिएगी···

शशि ने धीरे-धीरे आँखें बन्द कर लीं। शेखर आग की ओर देखता रहा। बहुत-सा समय बीत गया—कोयलों पर राख की परत पड़ गई···शेखर अँगीठी को हिलाने के लिए उठनेवाला था कि उसे लगा, शशि की साँस काफ़ी तेज़ चल रही है। उसने धीमे से पुकारा, "शशि—" और उसके माथे पर हाथ रखा और तत्काल खींच लिया। शशि को ज्वर हो आया था···

शशि ने कहा, "अभी चढ़ रहा मालूम होता है।"

शेखर ने एक कम्बल अपने बिस्तर से लाकर और उढ़ा दिया, अँगीठी में आग भड़का दी, और फिर कमरे में टहलने लगा...

एक बार सूचनात्मक खड़का करके उढ़काए हुए किवाड़ खोलकर दादा घर में आ गए; शेखर शशि के कमरे से निकलकर स्वागत करने बढ़ा और एक साथ ही आतिथ्य के अनेक दायित्व उसे याद आ गए—

पर दादा ने कहा, "यह लो, तुम दोनों के लिए खाना बाज़ार से लेता आया हूँ—बहुत देर हो गई थी—"

शेखर कृतज्ञ-भाव से चुप रह गया।

"शशिजी की तबीयत ठीक है?"

"ऊँ—नहीं—उन्हें कुछ ज्वर है।"

दादा शेखर के कमरे में जाकर सामान आदि रखने लगे, शेखर तश्तरियाँ लेने बढ़ा।

* * *
** ** **

दादा ने बताया कि बड़े तड़के वहाँ से चले जायँगे—दिन निकलने से पहले दिल्ली से बाहर चले जायँगे और किसी छोटे से स्टेशन से गाड़ी पर सवार हो जायँगे। उनके जाते समय शेखर के जागने की ज़रूरत नहीं है, वे चुपचाप चले जायँगे, फिर कभी मिलना होगा तो अच्छा, नहीं तो—'नहीं तो फिर जैसा हो!'

जब सोने का उपक्रम करके वे नियमित साँसें लेने लगे तब शेखर चुपके से बाहर आया और शशि के कमरे में गया। शशि का माथा छूकर देखा, ज्वर था। शशि सोई नहीं थी, शिथिल पड़ी थी...थोड़ी देर उसका माथा सहलाकर वह फिर बाहर आया, अँगीठी में कुछ और कोयले डालकर आँच भड़काकर शशि के कमरे में रख दी, सिरहाने के पास चौकी पर पानी रखा; शशि से धीरे से कहा, "शशि, कुछ ज़रूरत हो तो मुझे बुला लेना—योंही उठना मत..." और क्षण-भर अनिश्चित खड़ा रहकर अपने कमरे में जाकर लेट गया।

उसे लगा कि उसे रात-भर नींद नहीं आएगी, वह सोचता रहेगा—पर न जाने कब दिन की भटकन की प्रतिक्रिया ने उसे धर दबाया और वह सो गया। जब जागा तो हड़बड़ाकर दादा के सिरहाने पड़ी रेडियम घड़ी देखी, चार बज रहे थे...वह रात का सबसे ठण्डा समय होता है, यह सोचकर वह अँगीठी में फिर से आग जलाकर शशि के कमरे में रखने के विचार से उठा तो देखा, वहाँ लैम्प का तीखा प्रकाश है यद्यपि वह बत्ती धीमी कर आया था... लपककर वहाँ पहुँचा तो देखा, शशि एक कोहनी पर शरीर साधे लेटी-लेटी लिख रही है—लिख नहीं, लिखती रही है, और अब मानों थककर सिर झुकाकर विश्राम कर रही है, कलम अभी उसके हाथ में है। पहली प्रवृत्ति हुई कि पढ़े, क्या लिख रही है, किन्तु उसे दबाकर

वह शशि को आराम से लिटाने के लिए आगे बढ़ा तो वह उठ गई, बैठी होकर उसने थकी हुई बाँह को सीधा किया और कागज उठाने लगी।

शेखर ने गहरे उपालम्भ के स्वर में कहा, "शशि···"

शशि सहज भाव से बोली, "बस अब तो लिख चुकी—" पर शेखर के मुँह का पीड़ित-भाव देखकर कुछ लज्जित-सी हो गई : "यह लिखना जरूरी हो गया था—अब और कुछ शैतानी नहीं करूँगी—शेखर, मैं बड़ी आज्ञाकारिणी हो गई हूँ अब तो—"

निरस्त्र-भाव से शेखर ने अँगीठी उठाई और जलाने ले चला।

खड़के से दादा जाग गए। उठकर बाहर आए और बोले, "मैं तो चुपचाप खिसकने-वाला था, आप मुझसे पहले जाग गए!"

शेखर अभी अँगीठी सुलगा ही रहा रहा था कि वे मुँह हाथ धोकर तय्यार हो गए। "अच्छा शेखर, मैं तो अब चला। फिर कहीं मिलना अवश्य होगा—हमें-तुम्हें अभी बहुत कुछ करना है!" तनिक हँसकर, "शशिजी से मेरा प्रणाम कह देना। उनका मैं कृतज्ञ हूँ—हालाँकि कृतज्ञता में मैंने कष्ट-ही-कष्ट दिया है···अच्छा—"

जल्दी से काले हाथ धोकर शेखर उन्हें द्वार तक पहुँचाने आया, पर विदाएँ लेने के अभ्यस्त दादा रुके नहीं, एक भागती मुस्कान उसे देकर चले गए।

शेखर ने धीरे-धीरे द्वार बन्द कर दिया, लौटकर अँगीठी उठाई और फूँकता हुआ शशि के कमरे की ओर चला।

अँगीठी रखकर कमरे का द्वार भी उसने उढ़का दिया, केवल खिड़की किंचित् खुली रह गई; फिर मानों वह सोचने-सा लगा कि अब क्या करे—

शशि हिली, अपने शरीर को ढीला छोड़कर और फैलाकर उसने एक लम्बी साँस ली, कम्बल ठोढ़ी तक खींच लिया और शेखर की ओर देखने लगी।

शेखर ने पूछा, "शशि, तुम आराम से हो? इस वक्त ठण्ड बढ़ जाती है; अँगीठी—" और रुक गया। शशि सुन नहीं रही थी; उसकी खोई-सी मुद्रा एक हल्की मुस्कान में घुल गई थी और उसने आँखें मूँद ली थीं। शेखर चुपचाप उसका मुँह देखने लगा। एकाएक शशि ने आँखें खोलीं, स्थिर दृष्टि से शेखर पर टिकाईं और देखती रही। उसकी दीर्घ-भेदकता के आगे शेखर का अन्तर उद्वेलित हो उठा; उसने देखा—कुछ परम सत्य, सीमातीत, परिव्याप्त···

"शेखर, यहाँ आओ।"

शेखर बढ़कर चारपाई के पास आ गया।

"मेरे पास बैठ जाओ।"

किसी अज्ञात भावना से प्रेरित शेखर बढ़कर शशि के पैताने बैठ गया—शशि इतनी दूर, लोकातीत-स्वप्नमय, अशरीरी लग रही थी, मानों छूने से वायु में घुल जायगी—···

"नहीं,"—कौन-सा रहस्य उसके स्वर में बोलता है!—"वहाँ नहीं, पास आओ।"

मन्त्रचालित शेखर आगे सरक आता है।

तब बिना एक शब्द और कहे शशि अपनी ठोड़ी उठाती है ; उसकी आँखें अर्धनिमीलित हैं और ओठ अधखुले, वह निश्चल मुद्रा बोलती नहीं—

क्षण-भर शेखर कुछ नहीं समझता, फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है, और वह उन उठे हुए अर्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है— झुकते-झुकते उसको आप्लवन-कारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है, एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निकट पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़कर अपना कर्णमूल शशि के ओठों से छुआ देता है। ओठ तप्त हैं— ज्वर से ; उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन-सी उसके माथे में दौड़ जाती है, तब चेतना की एक नयी लहर से बाधित वह फिर झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध किन्तु बे-झिझक ओठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन···

शशि ने एक गहरी साँस ली और आँखें बन्द कर लीं ; शेखर विमूढ़ और निश्चल, नीरव साँस लेता हुआ बैठा रहा। नीरवता में वह अपना नाड़ी-स्पन्दन सुनने लगा, फिर उसे भ्रम हुआ कि वह उसका नहीं, शशि का हृत्स्पन्दन है—फिर लगा कि वह उन दोनों का नहीं, प्रत्यूष की आन्तरिक परिव्याप्त नीरवता का स्पन्दन है···

रात की धूसर आच्छन्नता में भोर की अरुणाली घुल आई···

"शेखर ?"

"हूँ—"

"तुम मुझसे गाना सुना करते हो ; अब मैं कहूँ तो कुछ सुनाओगे —"

"मैं ? ··"

"हाँ, गाकर नहीं, पढ़कर," आँख के इशारे से अलमारी जताते हुए शशि ने कहा, "वहाँ से एक काली-सी कापी निकालो · निचले खाने में –"

शेखर ने कापी निकाली।

"मुझे दो —"

शशि ने कापी खोली, एक हाथ और ठोढ़ी के सहारे कुछ पन्ने उलटकर एक स्थल चुना और कहा, "लो — यहाँ से —"

शेखर ने विस्मय से कापी ले ली— उसमें शशि के अक्षरों में कविताएँ नक़ल की हुई थीं—हिन्दी, अंग्रेजी, बँगला—

"और मत देखो—पढ़ो—"

शेखर पढ़ने को हुआ, आधी पंक्ति पढ़कर रुक गया ; फिर एक बार शशि के चेहरे की ओर देखकर धीरे-धीरे पढ़ने लगा।

"I want to die while you love me
While yet you hold me fair,

While laughter lies upon my lips
And lights are in my hair.

I want to die while you love me.
Oh who would care to live
Till love has nothing more to ask
And nothing more to give ?
I want to die—" *

एकाएक रुककर उसने कहा, "नहीं, शशि, मैं नहीं पढ़ूँगा यह—" और कविता की टेक का, और शशि के उस समय उसे पढ़वाने का गूढ़तर गुरुतर अभिप्राय उसकी आत्मा में पैठ गया···I want to die while you love me···"नहीं, बिल्कुल नहीं !"

"डरते क्यों हो, शेखर, यह तो पुरानी कविता है—मेरी हँसी तो पहले ही जा चुकी !—नहीं शेखर, तुम्हें दुःख नहीं पहुँचाना चाहती, ऐसे मत देखो मेरी ओर—हमने जाना हो बहुत देर से—मैंने तो कल रात में—कल शाम को, जब तुम यमुनापार गए थे—"

शेखर ने कापी बन्द कर दी, उसे एक ओर रखकर हाथ बढ़ाकर शशि के दोनों हाथ कसकर पकड़ लिए···

देर बाद शशि ने कहा, "छोड़ो, मैं अभी थोड़े ही मर चली हूँ—" और मुस्करा दी। फिर स्वर बदलकर, "शेखर, तुम अब काम-धाम करना चाहो तो करो, जाओ ; मैं सो जाऊँगी।"

शेखर ने आंख उठाकर दिन की ओर देखा, कहना चाहा कि मुझे अब कोई काम नहीं है, सोचा कि सो सके तो शशि के लिए हितकर है, और चुपचाप उठकर बाहर आ गया, यद्यपि उसका निश्चय था कि वह आज कारखाने नहीं जायगा···

नित्यकर्म के बाद चूल्हा जलाकर उसने दूध में थोड़ा-सा दलिया बनाया, तीन सन्तरों

---

* "तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मैं मर जाना चाहती हूँ—
जब कि मेरा रूप तुम्हारी आँखों में सुन्दर है,
और मेरे ओठों पर हँसी है,
मेरे केशों में क्रान्ति···
तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मैं मर जाना चाहती हूँ—
तब तक कौन जीना चाहेगा
जब कि प्यार के पास शेष रह जाय—
न कुछ माँगने को, न कुछ देने को !
मैं मर जाना चाहती हूँ—"

का रस निकाला ; फिर शशि के कमरे की ओर दबे-पाँव देखने गया। खिड़की से झाँककर देखा, शशि स्निग्ध नींद में सोई थी…

शशि ने वह कविता क्यों उस समय उससे पढ़वाई ? I want to die while you love me…शशि निरी भावुकता की बातें तो नहीं किया करती—तब क्या यह—सन्देश है ? कि केवल सम्भावना है ?…कि भावना है—प्यार के प्रति कृतज्ञता की…कि—पूर्व-सूचना है…

उसने अपने कमरे में जाकर मौसी को एक छोटा-सा पत्र लिखा कि बहुत दिन से समाचार न मिलने से वे दोनों चिन्तित हैं, कि और सब ठीक चल रहा है; कि शशि अस्वस्थ है, और हो सके तो वे थोड़ा-सा रुपया भेज दें। एक बार उसका हाथ अटका कि वह पहले का अभिमान क्या हुआ, किन्तु उस अभिमान की यथार्थता उस समय किसी तरह उसके मन के आगे स्पष्ट न हो सकी…उसने लिफ़ाफे पर पता लिखा, एक बार फिर शशि की ओर झाँककर देखा, फिर धीरे से बाहर निकलकर कुछ दूर पर लेटर-बक्स में डालने चला।

शशि अभी जागी नहीं थी, उसके माथे पर प्रस्वेद की बूँदें थीं…ज्वर उतर रहा है…शेखर धीरे से कमरे के भीतर गया और शशि के सिरहाने ज़मीन पर बैठ गया। बाहर कई-एक काम करने को थे, कमरे में कोई काम नहीं था जब तक शशि सो रही थी; किन्तु शेखर को उस सोए हुए चेहरे से तत्काल ही बहुत कुछ कहना था…

*　　　*　　　*
* *　　　* *　　　* *

यह क्यों है कि जीवन के तीव्रतम इन दिनों की स्मृति में मैं बार-बार दुविधा में पड़ जाता हूँ कि क्या सचमुच हुआ ; और क्या हुआ नहीं, केवल सोचा गया ? बाहरी और भीतरी जीवन ऐसे उलझ गए हैं कि उनको अलग-अलग नहीं कर पाता—शायद आंतरिक जीवन का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि वह बाह्य की भौतिक सीमाएँ तोड़-तोड़कर फूटा पड़ता था—न होकर भी तीव्रतर सत्य था, यथार्थ था—यथार्थ है…

"सुनो, शशि, मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है। तुम जागो नहीं, सोई रहो, तुम सोई-सोई भी सुन लोगी जो मैं कहना चाहता हूँ—क्योंकि मुझे वह तुम्हारे कानों से नहीं कहना, तुम्हारे ओठों से कहना है—जो आज मेरी ओर बे-झिझक उठे हैं, जिन्हें कुछ भी कहने में झिझक मुझे नहीं है—जब वे सोते हैं, तब और भी नहीं…

"शशि, तुमने मुझे प्यार दिया है—तुमने मुझे वर दिया है…वर देने से पहले परीक्षा क्यों नहीं ली ? लो परीक्षा मेरी—देखो कि मैं अधिकारी भी हूँ कि नहीं…

"शशि, शक्ति मेरे पास रही है, पर मैंने उसे जाना नहीं, आजीवन मैं विद्रोही रहा

हूँ, पर बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ···एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे यह दिखाया—बताया कि लड़ना स्वयंसाध्य नहीं है, लड़ने के लिए लड़ना निष्परिणाम है, कि विद्रोही किसी के विरुद्ध होना चाहिए—ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता-पिता, अपना-आप, प्यार, कुछ भी हो जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके···तब मेरे विद्रोह को धार मिली—वह विरुद्ध हुआ···मैं प्रतिद्वन्द्वी हुआ···

"किन्तु वह आधा ज्ञान था, इसलिए मेरा विद्रोह भी आधा था···फिर—फिर तुम्हीं ने सिखाया कि विरुद्ध लड़ना ही पर्याप्त नहीं है···मैंने देखा, सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है—कि एक अकेला समाज ही नहीं, जीवन आमूल दूषित है—ईश्वर, मानव, सब कुछ··· आमूल दूषित—दूषित और सड़ा हुआ, विरुद्ध लड़ने के लिए कुछ भी नहीं है! या सब कुछ है, जो कि एक ही बात है—मिट्टी को काटा जा सकता है, पर दलदल को नहीं—उसमें धँसना ही धँसना है···किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है, किसी के लिए लड़ना भी जरूरी है···

"किसी के लिए लड़ना···किन्तु किसके? जब सभी कुछ सड़ा है, तो क्या है जिसके लिए लड़ा जाय···"

"तब तुमने क्या निश्चय किया, शेखर?"

"मुझे आवश्यकता नहीं पड़ी—तुम फिर आ गईं—तुम मेरे जीवन में चली आईं···मैं नहीं जानता था कि किसके लिए लड़ूँ, पर तुम मेरे पास थी, तुम्हारे लिए मैं लड़ने लगा—या उद्योग करने लगा लड़ने का। शशि, मैं निरन्तर संघर्ष करता आया हूँ—तुमसे भी लड़ता आया हूँ, पर अब स्वीकार करता हूँ कि मैंने तुम्हें प्यार किया है। लड़ने में अपना श्रेष्ठतम मैं देता आया हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हारे लिए दिया है। बीच में शंका हुई थी कि यह आदर्श घटिया है, फिर दूर हो गई, क्योंकि तुम किसी कोरे आदर्श से कम नहीं थीं··· किन्तु फिर मेरे भीतर एक भूख जागी, और उससे फिर एक नया संदेह···शशि, क्या मैंने पाप किया है?"

"शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।"

··दो असम्बद्ध वाक्य···इनका अभिप्राय धीरे-धीरे ही शेखर के प्राणों में उतरा··· किन्तु जब पूर्ण-रूपेण उतर गया, तब—

"और शशि—अब जब मैंने लड़ने के लिए साध्य पाया तो—शशि, शशि, तुम क्या सचमुच चली जाओगी, शशि—"

हठात् शेखर ने शशि का माथा ज़ोर से पकड़ लिया···शशि जाग गई, उसकी उँगलियाँ शशि के हाथों को टटोलती हुई आईं—

"शशि, क्या तुम सचमुच चली जाओगी—क्या मेरे जीवन में कभी कुछ सार नहीं होगा—"

शशि ने उसके हाथ को थपकते हुए कहा, "होगा, शेखर, है। मेरे बाद भी होगा। तुम नहीं हारोगे—कभी नहीं हारोगे—मेरे लिए, शेखर, मेरे लिए..."

"मैं जानता हूँ, शशि...रुकना मेरे लिए नहीं है—तुमने मुझे दिया नहीं। पर चलूँगा कैसे, मैं नहीं जानता—मुझे नहीं दीखता—किसके लिए...या कि तुम्हारे ही लिए होना—मेरे बिना देखे, बिना जाने किसी तरह तुम्हारे लिए, तुम्हारे ही लिए, शशि..."

शशि का माथा शीतल, चेहरा स्निग्ध और प्रशान्त, इतना शान्त, इतना स्तब्ध कि शेखर आतंकित...भर्राए स्वर में, "शशि, तुम—चली गई ?" फिर अपने प्रश्न की मूर्खता पर लज्जित, चकित...पर शशि नहीं चौंकती, उसकी उँगलियाँ शेखर के हाथ पर फिर आती हैं—

क्या वातावरण बदल गया है ? क्या धूप-छाँह के कारण भ्रम होता है ? क्यों शशि के माथे पर हल्की-हल्की छायाएँ थिरककर दौड़ जाती हैं जब कि उसकी अनझिप आँखें बिलकुल स्वच्छ हैं और उसके ओठ निश्चल स्निग्ध ? क्यों उसके बाएँ हाथ की उँगलियाँ कभी-कभी छाती पर पड़ी-पड़ी ही सिकुड़-सी जाती हैं जब कि वक्ष की गति नियमित है ?

"शशि, दर्द होता है ?"

आँखों की झपक कि नहीं।

किन्तु क्यों उसके हाथ के नीचे शशि के शीतल माथे पर बल आते-आते रह जाते हैं, क्यों उसे लगता है कि शशि काँप-सी रही है ?

"बताओ, शशि, क्यों, क्या होता है ? क्या होता है..."

तब शशि हाथ उठाकर उसके बाल पकड़कर उसका सिर अपनी ओर खींच लेती है और कहती है, "सुख, शेखर, सुख..."

दिन, दोपहर, साँझ; रात, सबेरा, दिन, दोपहर, साँझ; रात, प्रत्यूष...ज्वर, प्रस्वेद, क्लांति, स्निग्ध ताप, कँपकँपी, ज्वर; स्नेह-श्लथ हाथ, ज्वर, प्रस्वेद, शैथिल्य...होलियों की हवाएँ, स्निग्ध-शीतल; अनवरत पतझार; छिटफुट रूई के गाले-से सफेद बादल, आवारे, निश्चिन्त, निर्मोही; धूल-धूसर चक्रवात...डाक्टर, राख-भरी चिलमची, चार्ट और बोतलें, फलों का रस...मौसी की ओर से गौरा के हाथ की लिखी हुई चिट्ठी,—'माँ की आँखों में घोर कष्ट है इसलिए वे स्वयं नहीं लिख रहीं, तुम दोनों को बहुत-बहुत आशीर्वाद दे रही हैं और कहती हैं कि शशि का हाल जल्दी-जल्दी लिखना, इतनी-इतनी देर से पत्र लिखना अच्छी बात नहीं है। परमात्मा करे वह जल्दी अच्छी हो जाय.. सौ रुपया भेजा है...' फिर गौरा का अपनी ओर से, 'मौसी कहती थीं कि रुपया मनीआर्डर से भेज दूँ, पर मैं चिट्ठी में नोट डालकर रजिस्ट्री से भेज रही हूँ क्योंकि यहाँ से मनीआर्डर शायद तुम न चाहो। शशि के स्वास्थ्य की मुझे बहुत चिन्ता है, चिन्ता की बात न होती तो तुम भला लिखते ? मैं शुश्रूषा के लिए आ जाऊँ ? माँ से नहीं पूछा, पर तुम कहोगे तो ज़रूर आ जाऊँगी चाहे जो हो—

सब हाल जल्दी लिखना···' गौरा बड़ी समझदार हो गई है—इतनी-सी लड़की···हल्ला-गुल्ला, मोटरों की दौड़ और घरघराहट, नारे, सफेद टोपियाँ, लाल कमीजें, 'काला कानून', 'भगतसिंह को फांसी हो गई।' 'गांधीजी की भिक्षा अस्वीकार!'···

दोपहर, साँझ, रात; और सब असत्, मिथ्या, भ्रान्ति—बड़ी दूर की मरीचिका··· निकट केवल दो बड़ी-बड़ी स्वाति-सी आँखें, तारे-सी तरल झिलमिलाहट जो व्यथा को छिपा लेती है, व्यथा, चिन्ता, चिन्ता, डर···

मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है, जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का भोगनेवाला और आज का वृत्तकार दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है; और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, खोजने हैं, और उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ, नहीं हूँ।

इसमें इतिहासकार की पराजय है तो हो। इतिहास मेरे लिए कुछ नहीं है; घटनाओं का अनुक्रम भी कुछ नहीं है। जीवन का अन्तिम मान है जीव—हमारे जीवन का मान है यह अद्‌भुत सृष्टि मानव-प्राणी—और प्राणी की प्राणवत्ता का मान है उसका प्यार—उसकी अपने आपसे बाहर प्रसारित होने की, निछावर होने की शक्ति···कथा का महत्त्व मेरे लिए नहीं है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसी का महत्त्व है; और इस बात का कि मैं स्वयं जाने से पहले उसका स्वीकार कर जाऊँ, साक्षी दे जाऊँ··अब मैं नहीं रहूँगा, तो यही एक स्मारक मैं उसके नाम पर खड़ा कर सकता हूँ! अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न रही होतीं, तो उसका भविष्य भी रहा होता—शायद वह एक कुटुम्ब की अधिष्ठात्री होती और उन सबके जीवन में प्रकट होता वरदान-सा वह पुनीत वत्सल प्यार जो एक विशाल आत्मा की देन होता है··पर वह नहीं हुआ; उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को निकट से केवल मैंने देखा, मैंने जो कि उसके टूटने का निमित्त हुआ···

किन्तु यह साक्षी, यह ज्ञापना, अपने अपराध के धोने के लिए नहीं है, प्रायश्चित्त के लिए नहीं है। उस प्यार में अपराध भी डूब सकते थे इतना विशाल था वह···मैं शेखर का अपराध छोटा करके नहीं दिखाता, क्योंकि उसके पीछे शेखर के प्यार की तन्मयता थी, उस शेखर की जो मैं हूँ···

चिन्ता, चिन्ता, डर···निश्चय···शशि शायद पहले जान गई थी, किन्तु एक दिन एकाएक शेखर ने जान लिया··अनदेखी दिखाना शायद उचित या आवश्यक हो, अनदेखी करना क्षम्य नहीं है··कारखाने जाना उसने कई दिन से छोड़ दिया था, अब उसने शशि के पास से हिलना ही छोड़ दिया; उसी कमरे में अपना बिस्तर ले आया, दो घण्टे रात में और एक-डेढ़ घण्टा दिन में कभी अवसर मिलने पर वह सो लेता, नहीं तो निरन्तर शशि के

सिरहाने निश्चल बैठा रहता ; वह जागती तो उसका माथा या छाती पर पड़ा हुआ हाथ सहलाता रहता ; सोने लगती तो सिमटकर अचल हो जाता कि बाधक न हो ; अनिश्चित तन्द्रा में होती तो एकदम उसका चेहरा देखा करता—और ऐसे देखने के अवसर क्रमशः बढ़ते जाते थे···या कभी शशि उसे आराम करने को कहती, तो अपनी चारपाई पर औंधा लेटकर कोहनियाँ टेककर और हथेलियों पर ठोड़ी जमाकर उसे देखा करता···

रोगी की शुश्रूषा एक विज्ञान है, बुद्धि पर आश्रित है, उसमें भावना के लिए स्थान नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त लोग उस भारतीय माँ पर हँसते हैं जो रोगी बच्चे को डाक्टर के पास नहीं ले जाती, छाती से चिपटाकर रात-भर सुन्न बैठी रहती है···निरा प्रवृत्तिजन्य प्रेम—पशु-माता की आहत शिशु के लिए निर्बुद्धि व्याकुलता—ये वैज्ञानिक शुश्रूषा नहीं हैं ; पर प्राणी को प्राणी की पुकार भी एक औषध है जो एकमात्र औषध नहीं है, पर अनिवार्य तो है—कम-से-कम विज्ञान-सी अनिवार्य—धमनी के स्पन्दन-सी अनिवार्य··· और जहाँ विज्ञान अपनी लाचारी जानता है वहाँ इस मूल वृत्ति की शक्ति ही एक शक्ति है जो लाचार नहीं है—मृत्यु के आगे भी नहीं क्योंकि मृत्यु सबसे पहले मृत्यु-भय है, और प्यार के वातावरण से घिरे हुए प्राण को वह भय छू नहीं पाता··

डाक्टर दिन में दो बार आते, दवा दे जाते या भेज देते, शेखर के दल के दो युवक बारी-बारी से खाना पहुँचा जाते और समाचार पूछ जाते, कभी बाहर के समाचार बता जाते, जो शेखर के मन में बैठकर भी न बैठते, क्योंकि वहाँ उनके लिए स्थान न होता···

शेखर बहुत कम बोलता, शशि लगभग बिल्कुल नहीं बोलती, केवल जब-तब आँखों से एक आश्वासन का सँदेसा शेखर को दे देती···रोग के प्रत्येक नये आक्रमण के बाद—जब कम्पन के बाद ज्वर और ज्वर के बाद प्रस्वेद और शिथिलता का एक चक्र पूरा हो जाता—जब शशि के क्लान्त हाथ उसके वक्ष पर पड़े-पड़े काँप-से जाते, उँगलियाँ सकुचकर खुल जातीं और बन्द आँखों पर पलकें सिकुड़कर फिर पूर्ववत् हो आतीं, तब शेखर को ध्यान आता कि शशि को प्रसन्न रखने के लिए और पीड़ा से उसका ध्यान हटाने के लिए कुछ मनोरंजक बातचीत करना आवश्यक है। वह यत्न करता कि कुछ ऐसी बात करे, पर उसका मन सूना हो जाता, मनोरंजक कोई बात ही उसे न सूझती। तब वह टटोलकर शशि का हाथ पकड़ता और धीरे से कहता, 'शशि, घबरा मत, मैं तेरे पास हूँ—" शशि आँखें खोलकर एक बार उसकी ओर देख देती ; उस दृष्टि में बड़ी हल्की-सी हँसती करुणा होती—"मैं घबराती हूँ ? तू मत डर, मैं तेरे पास हूँ···"

और इस प्रकार दीप की बाती चुकती जाती, पर शेखर बैठा आलोक को देखता जाता···

रात लम्बी थी, पर बीत चली थी ; अंगीठी बुझ गई थी, शेखर जागता था···

शशि ने धीरे से पुकारा, "शेखर—"

शेखर उसकी ओर झुक गया कि शशि का बात अच्छी तरह सुन ले, कुछ उसे दोहराना न पड़े।

"शेखर—अलमारी में—चिट्ठी।"

आशय समझकर शेखर ने अलमारी खोली, निचले खाने में मोड़कर रखे हुए कई-एक पन्ने निकाले और पूछा, "यह पत्र कहीं भेजना या किसी को देना चाहती हो?"

आंख की झपकी कि हां।

"किसे—मैं भेज दूँगा—"

आँखें शेखर पर स्थिर, ओठ धीरे से खुलते हैं, "पढ़ो।"

न जाने किसे शशि ने पत्र लिखा है—क्या पढ़ना उचित है? दुविधा में वह पन्ने खोल[illegible] अटकते हुए पहली पंक्ति पढ़ता है (—क्या शशि ने रामेश्वर को लिखा है—कैसे [illegible]कती है—) कि एक बिजली उसके शरीर में दौड़ जाती है, इतना अन्धा वह कैसे हो सका...शशि ने उसे लिखा है, शेखर को—शेखर को!

इस ज्ञान तक पहुँचकर शेखर रुक गया, उसका हाथ कांपने लगा; आगे न पढ़कर उसने दृष्टि शशि पर टिकाई—

"नहीं, पीछे नहीं, अभी—"

एक सांस में शेखर पढ़ गया—इतनी जल्दी पढ़ने से उसका अभिप्राय कम समझ में आया हो, सो नहीं उसके शब्द—वाक्य-के-वाक्य तपी हुई धातु की तरह उसकी चेतना को दाग गए और उसके कानों में गूँजने लगे...साथ-साथ घटनाएँ भी घटने लगीं, उन घटनाओं में शेखर अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ भागी था, पर वह गूँज भी साथ-साथ थी, मानों दो जीवन साथ-साथ जिए जा रहे हों, एक तीव्र क्योंकि वह तत्काल का जीवन है, दूसरा तीव्रता क्योंकि वह तत्क्षण से पिछड़ा हुआ था और उस क्षण को पकड़ लेना चाहता है...

'...तुम कुछ ही घण्टों के लिए गए थे, लौट आए; पर इतनी देर में मैंने कितनी बार तुम्हें खोया और पाया, विसर्जन किया और फिर अपने हाथों बना खड़ा किया...तुम्हारे स्ने[illegible] को मैं क्षण-भर भी नहीं भूली, शेखर, पर जब क्षण का उद्वेग चला गया तब मैंने तुम्हारे स्नेह से भी बड़ा कुछ देखा, शेखर, तुम्हारा भवितव्य। स्नेह से बड़ा इसलिए कहती हूँ कि यह स्नेह उसका एक अंग है...उस क्षण को मैं कृतज्ञ हूँ...

'शेखर, यह पत्र तुम्हें लिख रही हूँ कि तुम मेरे बाद पढ़ो—बाद में जब तु[illegible] तब शायद पूछोगे कि शशि ने यह सब मुझे पहले क्यों न बताया जब यह इतना तीखा [illegible] शाप न होता—पर यही ठीक है शेखर...यदि मुझे बहुत जीना होता, तब और बात थ[illegible] उस स्पष्ट दृष्टि में मैंने यह भी देखा कि कुछ दिन ही और बाकी हैं... इसीलिए अब [illegible] पत्र में अपने प्यार की बात नहीं करूँगी—जो चला गया है, उसका प्यार केवल वेद[illegible] और वेदना को चुप रहना चाहिए...केवल तुम्हारे प्यार की बात करूँगी...

'प्यार कला भी हो सकता है, शेखर; वह आदर्श बुरा [illegible]हीं है, कल्याणाकर है, मैं

मानूँगी ; पर मेरे लिए वह कला से भी अधिक अन्तरंग और जरूरी हो गया था—इसे अहंकार से नहीं कहती, अपनी लाचारी मानती हूँ···कला का आनन्द संयत आनन्द है, मैंने अपना समूचा व्यक्तित्व, समूचा इह एक ही बार स्रुवा में भरकर उँड़ेल दिया—वह संयत नहीं था, इसीलिए शायद—आनन्द भी नहीं हुआ—यद्यपि इतनी बड़ी वेदना हुई कि उसे ट्रैजेडी भी नहीं कह सकती।···

'एक बार मैंने मान से कहा था, "क्या मेरे लिए लिख सकते हो?" तुमने कहा था कि आदर्श पर्याप्त नहीं है, आदर्शों का एक स्थूल प्रतीक चाहिए ; और तब मैं प्रतीक बनने को आ खड़ी हुई थी···शेखर, उसमें अहंकार नहीं था—यह दावा नहीं था कि मैं तुम्हारे जीवन का अथ और इति हूँ—अपने को अन्त मानने का दुस्साहस मैंने नहीं किया···केवल इतना था कि अपना जीवन नष्ट करके—होम कर देकर, राख कर देकर—मैंने माँगा था, चाहा था, कि वह तुममें फलित हो, तुममें अपनी सिद्धि पाए। तुम हो गए थे प्रतीक लिए मेरे अपने जीवन के प्रतीक—हमारे आस-पास हहराते हुए वैफल्य और कुण्ठा और निराशा और खण्डन के सागर में मेरे अवस्थान के, मेरे संतरण के प्रतीक···इसीलिए मैंने कहा था कि मेरे लिए लिखो—तुम्हारे जीवन में आशा देने के लिए नहीं, तुमसे आशा माँगने के लिए···

'तुमने मुझे जो दिया, वह मैंने कृतज्ञ होकर स्वीकार किया—वर मानकर, अधिकार मानकर नहीं ; यह कल्पना मैंने नहीं की कि मैं उसे सदा के लिए बाँध रखूँगी। तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योंकि मेरा खण्डित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है—तुम्हारे द्वारा, और तुम्हारे लिए मैं जो स्वप्न देखती हूँ उनके द्वारा; किन्तु मैं जानती हूँ, देखती हूँ, कि तुम खण्डित नहीं हो, और इसलिए मेरा निश्चय है कि जहाँ तक मेरा वश है, वह मेरा प्यार नहीं होगा जो तुम्हें बन्दी बनाने का यत्न करेगा···शेखर, मेरा तुम पर अगाध स्नेह है, पर मैं चाहती हूँ कि तुम जानो कि मैंने तुम्हें बाँधा नहीं, बाँधती नहीं—न अब, जब मैं हूँ, और न—पीछे···

'तुम्हारा अपना भविष्य है, शेखर ; मेरा भविष्य तुम और केवल तुम थे। उस अपने भविष्य की खोज में यदि—'

शेखर शशि की ओर देखता है कि यह सब अभी तुम्हारे सामने पढ़ना अनिवार्य है पर देखता है, उस पत्र से भी कुछ अधिक, तात्कालिक शशि की आँखें कह रही हैं, उसके बहुत पास चला आता है ; शशि के ओठ कुछ कहना चाहते हैं, पर निश्शब्द हैं, पर निश्शब्द ही कुछ कहना चाहते हैं—शेखर उन पर अपने ओठ रख देता है और का कम्पन स्थिर हो जाता है, शेखर शशि की आँखों से आँखें मिलाता है और धीरे-धीरे उठता है—जानता है कि शशि की बात उसने सुन ली, चूमे जाने-भर की क्षमता उन ओठों में शेष थी—उसके बाद और शब्द नहीं, केवल स्नायविक कम्पन, जिन्हें मानों वश

करने का उद्योग संकल्पना धीरे-धीरे व्यर्थ मानकर छोड़ देती है—सब तनाव और खिंचाव और कर्षणों के एक परम शमन में—

'उस अपने भविष्य की खोज में यदि तुम्हें मेरी याद आए तो अपने को इसलिए अपराधी मत ठहराना कि मेरे बिना तुम अकेले आगे चल सके ; तुम चल सके, यह मेरी पराजय नहीं, मेरी अन्तिम विजय होगी···'

शशि का सारा शरीर निःस्पन्द जड़ हो गया था सिवाय आँखों के—

'कभी, एक दिन, एक क्षण-भर के आदर्श माने जाने का सौभाग्य हर किसी को मिल जाता है ; पर चिरन्तन आदर्श कोई नहीं है, न हो सकता है। इसलिए जो अपने प्रिय के प्रति 'चिरन्तन' सच्चा है, वह अवश्य किसी आदर्श से च्युत है, और जो आदर्श के प्रति निष्ठावान् है, वह अवश्य कभी-न-कभी प्रिय को भर जाने देगा···साधारण मानव और कलाकार—विद्रोही में यही अन्तर है···मैं नहीं चाहती कि तुम मानव कम होओ, शेखर, किन्तु अगर तुममें उसकी क्षमता है, तो उससे बड़े होने की अनुमति—स्वाधीनता में तुम्हें सहर्ष देती हूँ···'

आँखें शशि की मरीं नहीं ; उनके भीतर का उदार निर्भय आलोक, समिधा चुक गई देखकर अपने भीतर तिरोभूत हो गया···

'हम दोनों वर्षों से एक भवन बनाते रहे हैं, तुम और मैं, जिसमें न तुम रहोगे, न मैं···किन्तु हम उसमें नहीं रहेंगे, इसी मात्र से वह कम सुन्दर नहीं होगा···'

इस प्रशान्ति में, सिमटे हुए आलोक में भी क्या क्रन्दन है, चीत्कार है ? स्तब्ध-प्राण शेखर का देह-यन्त्र खिड़की की ओर बढ़ा, खिड़की खुल गई, दिन का प्रकाश भीतर भर आया···शेखर ने मुड़कर देखा, लाल किरणों से घुलकर शशि का चेहरा जीवन के रंग से चमक उठा था···

शेखर ठिठका रह गया—स्तब्ध, किसी अतिमानवी अलौकिक परिव्याप्ति के बोध से आप्लवित, किसी अन्तर्भव सत्य के उदय का प्रतीक्षमाण···

सहसा ज्ञान आया···

*   *   *
* *   * *   * *

किन्तु इससे आगे कहानी नहीं है। अनुक्रम नहीं है। जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था, गति सब कुछ खो दिया है। निरा अस्तित्व—एक क्षण से दूसरे क्षण तक एक अणु-पुंज का बने रहना—वह भी मिट गया है। मैं एक छाया हूँ, एक स्वप्न, एक निराकार आक्रोश, एक वियोग, एक रहस्य···भावना से भावना तक भटकता हुआ एक विचार—हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला में झुलसता हुआ, जल उठता हुआ—निरन्तर उठता हुआ, उठता हुआ, न बुझता हुआ, न मरता हुआ···

मृत्यु, तू भी तो छाया है—ग्रस ले इस छाया को यदि सकत है तुझमें—यदि साहस

है···मशाल को तोड़ दे, कुचल दे, मलियामेट कर दे—देह मशाल है और उसे एक दिन जलकर मिटना ही है, पर उसकी लौ तो ऊपर उठती है,—वह, और वह, और वह—तेरे चंगुल से परे, तुझे चुनौती देती हुई, अक्षय, मुक्त···

ग्रस उसे, छू उसे यदि सकत है तुझमें, यदि साहस है···

*　　　　*　　　　*
* *　　　* *　　　* *

एक युवक आया।

लाहौर से दादा ने दस्ती चिट्ठी भेजकर शेखर से अपील की थी कि अगर हो सके तो वह लाहौर आ जाय—दल के कुछ सदस्य जो बन्दी थे, कुछ दिनों बाद काले पानी भेजे जानेवाले हैं; यदि स्वाधीनता के आन्दोलन को जीवित रखना है, तो इस जीवित समाधि से उन्हें बचाना आवश्यक है, और इस कार्य में शेखर का सहयोग अनिवार्य है···शशि की तबीयत कैसी है, वे नहीं जानते, पर वे उसकी देख-रेख और चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध करने को तय्यार हैं—

युवक ने समवेदना के स्वर में कहा, "दादा ने चिट्ठी दी तब वे नहीं जानते थे··· आपको गहरा आघात पहुँचा है···पर आप चलिए, काम में आपको सान्त्वना मिलेगी, और काम बड़ी तपस्या का है···यदि शशि बहिन होतीं तो वे ज़रूर यही कहतीं—और मेरा विश्वास है कि अब भी इससे उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी—"

शेखर ने पहले सुना नहीं था, अन्तिम वाक्य सुना; चाहा कि एक थप्पड़ मार दे इस युवक के मुँह पर जो इतनी आसानी से बात कर सकता है; फिर कहा केवल इतना कि 'यह सब सँभालना होगा—और कारखाना—'

*　　　　*　　　　*
* *　　　* *　　　* *

प्रणाम, यमुना; प्रणाम, पूर्वदिशा; प्रणाम, वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल; प्रणाम, झाऊ के उदास मर्मर और धूल के बगूले; प्रणाम, दो पैरों से लाख बार रौंदे हुए रेतीले नदी-तट; प्रणाम, बही हुई मुट्ठी भर राख···मैं सोचता था, कि यदि ऐसा न होकर वैसा होता, और वैसा होता, और वैसा होता, तो···पर आज सोचता हूँ कि नहीं, आज लगभग माँग रहा हूँ कि यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो; छाया, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग पर सदा एक-दूसरे की ओर अग्रसर होने में सचेष्ट, साधारण अभिधा में ग़ैर, पर वास्तव में अखण्ड विश्वास में बँधे, धमनी के एक···

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास, फिर—आगे; कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि, कर्म में तुम हो, चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन क्योंकि मुक्त और—मोक्षदा···